GOVERNMENT OF INDIA
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA
CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO 42490
CALL No. 891·209/Upa/[illegible]

D.G.A. 79

Sanskrt ka mahakavi aur kavya

by

Ramji Upadhyaya

&

Ramgopal Miśra

Pub. by

Ramnarainlal Benimadhav

Allahabad

1965

संस्कृत के महाकवि और काव्य

42190

डा० रामजी उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
विश्वविद्यालय, सागर
एवं
डा० रामगोपाल मिश्र, एम० ए०, पी० एच्० डी०
लेक्चरर, सी० एम० डी० कालेज, बिलासपुर

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
New Delhi

891.209
Upa

प्रकाशक
रामनारायणलाल बेनीमाधव
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद—२

प्रथम संस्करण] १९६५ [मूल्य ८.०० रुपये

प्रकाशक
रामनारायणलाल बेनीमाधव
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद—२

प्रथम संस्करण
२००० प्रतियां
२ फरवरी १९६५

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.
Acc. No. 42490
Date 23.4.1965
Call No 891.209/Upa/

मुद्रक
विजय कुमार अग्रवाल
नव साहित्य प्रेस
इलाहाबाद—२

समर्पण

जीवन-शोध की
निरन्तर प्रेरणा देने वाले
श्री गणेशप्रसाद भट्ट,
उपकुलपति
को
सादर समर्पित

भूमिका

संस्कृत के महाकवि और काव्य में देववाणी के उन अमर रत्नों की चर्चा की गई है, जिनके प्रकाश में चिरकाल तक परवर्ती काव्य-साधना का विकास हुआ और राष्ट्र ने अपनी विचारणा को प्रस्फुरित किया। इन विभूतियों का देश की कलात्मक प्रवृत्ति और संस्कृति के निर्माण में प्रमुख हाथ रहा है। इनका सर्वाङ्गीण परिचय देकर इनकी विचार-धारा में पाठकों को निमग्न करा देने के उद्देश्य से यह रचना प्रस्तुत की गई है।

ऐसे पाठकों की संख्या आजकल बहुत अधिक है, जो केवल कुछ महान् कवियों और उनकी रचनाओं का विशेष परिचय तो पाना चाहते हैं, किन्तु साधारण कवियों में उनकी विशेष रुचि नहीं है। उन पाठकों की आवश्यकता पूरी करना लेखकों का प्रधान मन्तव्य है।

सागर
३०-१-६५

रामजी उपाध्याय
रामगोपाल मिश्र

अनुक्रमणिका

विषय			पृष्ठ
१. कवि और काव्य-रूप	..	..	१—२७
२. वैदिक कवि और काव्य	..	..	२८—४४
३. महाभारत तथा रामायण	..	..	४५—६०
४. अश्वघोष	..	..	६१—७७
५. भास	..	..	७८—१०३
६. मृच्छकटिक	..	..	१०४—११७
७. कालिदास	..	..	११८—१६३
८. भारवि	..	..	१६४—२१०
९. बाण	..	..	२११—२५६
१०. हर्ष	..	..	२५७—२७४
११. माघ	..	..	२७५—२८७
१२. भवभूति	..	..	२८८—३४७
१३. वेणीसंहार	..	..	३४८—३६१
१४. मुद्राराक्षस	..	..	३६२—३७५
१५. राजतरंगिणी	..	..	३७६—३८४
१६. श्रीहर्ष	..	..	३८५—४०३
१७. कवि-कौमुदी	..	..	४०४—४४४

अप्पाशास्त्री—४०४; अमरु—४०४; अम्बिकादत्त व्यास—४०३; आनन्दराय—४०७; आर्यशूर—४०७; कुमारदास—४०८; कृष्ण मिश्र—४०९; क्षमादेवी राव—४०९; क्षेमेन्द्र—४११; गुणाढ्य—४१२; चक्रवर्ती राजगोपाल—४१३; चतुर्भाणी—४१३; जयदेव—४१५ त्रिविक्रम भट्ट—४१६; दण्डी—४१८; दिव्यावदान—४२०;

४२०; नीपजि भीमभट्ट—४२०; नीलकण्ठ दीक्षित—४२१; पञ्चतन्त्र—४२२; पण्डितराज जगन्नाथ—४२३; पद्मगुप्त—४२४; बिल्हण—४२५; भगवदाचार्य—४२७; भर्तृहरि—४२८; मंख—४२९; मथुराप्रसाद दीक्षित—४३०; महालिंग शास्त्री—४३१; रत्नाकर—४३१; राजशेखर—४३२; रामावतार शर्मा—४३३; विजयराघवाचार्य—४३४; विश्वेश्वर पाण्डेय—४३५; शङ्कर दीक्षित—४३६; शिवद्विज—४३६; शिवस्वामी—४३७; सठकोप—४३८; सामराज दीक्षित—४३८; सुबन्धु—४३९; सोड्ढल—४४०; सोमदेव—४४१; सोमदेव सूरि—४४२; हरिचन्द्र—४४२; हितोपदेश—४४३।

प्रथम अध्याय

कवि और काव्य-रूप

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है कि 'यदि संसार का सर्वाधिक आनन्द प्राप्त करना है तो उसे कवि की आँखों से देखो, समझो और अपनाओ'। इससे स्पष्ट है कि कवि की 'आँख' असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न होती है। साधारण मानव संसार के भौतिक पक्ष को ग्रहण करता है, दार्शनिक तात्त्विक पक्ष को परखता है और कवि संसार के रसात्मक पक्ष को देखता है। इन तीन दृष्टियों के परिणाम-स्वरूप क्रमशः भोग, विराग और रस की प्रवृत्तियाँ जागरित होती हैं। प्रश्न यह है कि कवि की आँख कैसे मिले ?

कवि

मानव की साधारण प्रवृत्ति भोगमयी होती है। इस प्रवृत्ति से मुक्ति पाने के लिए तपोमयी साधना की आवश्यकता पड़ती है। वैदिक युगीन कवि को ऋषि कहते हैं। यह ऋषि इसी तपःसाधना से कवि की दृष्टि पाता था। वैदिक ऋषियों के पश्चात् व्यास और वाल्मीकि आदि अनेक महाकवि इस ऋषि-परम्परा में हुए। ऋषि वेद-वेदाङ्ग आदि विषयों में निष्णात होते थे।

परवर्ती युग में राजशेखर ने कविचर्या प्रकरण में बतलाया है कि कवि को विद्याओं और उपविद्याओं की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। व्याकरण, कोश, छन्द और अलंकार ये चार विद्याएँ हैं और ६४ कलाएँ ही उपविद्याएँ हैं। कवित्व के आठ स्रोत हैं—स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृतिदृढ़ता और राग।[१] कवि को मन, वचन और शरीर से शुचि होना चाहिए। ऐसे व्यक्तित्व के साथ कवि-दृष्टि का सामञ्जस्य स्वभावतः होता है।

काव्य का प्रयोजन

कवि अखिल विश्व के चराचर के हृदयावर्जक पक्ष को समुन्मीलित करने के लिए काव्य-रूपी साधन की सृष्टि करता है। काव्य मानव को वह दृष्टि प्रदान करता है, जिसके द्वारा वह प्रकृति-नटी के चराचर रूप में प्रस्तुत विराट् स्वरूप के कण-कण में आत्म-तृप्ति का रसास्वादन करता है। सच्चा काव्य सहृदय को आधिभौतिकता के आकर्षण की परिधि से ऊपर उठा देता है। तभी तो

---

१. स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदार्ढ्यं निर्वेदश्च मातरोऽष्टौ कवित्वस्य॥

भर्तृहरि सत्काव्य के आनन्द के सामने राजकीय वैभव के विलास को फीका मानते हैं—

"सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्"

काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध में मम्मट का मत समीचीन है। उन्होंने बतलाया है कि यदि सरसतापूर्वक यह ज्ञान कराना है कि राम की भाँति व्यवहार करो, रावण की भाँति नहीं तो काव्य का माध्यम ही आश्रयणीय है। मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों की गणना में उपर्युक्त उद्देश्य को अन्तिम और व्यावहारिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया है। काव्य के छः प्रयोजन मम्मट ने इस प्रकार बताये हैं—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे॥

(काव्य यश और धन के लिए होता है। इससे लोक-व्यवहार की शिक्षा मिलती है, अमंगल दूर हो जाता है। काव्य से परम शान्ति मिलती है और कविता से कान्ता के समान उपदेश ग्रहण करने का अवसर मिलता है।)

काव्य के रसास्वाद को योगियों के ब्रह्मानन्द के तुल्य प्रतिष्ठित किया गया है।

वैदिक काव्य

नित्य अभिनवोन्मेषशालिनी कवि-दृष्टि अखिल विश्व की चराचर सत्ता और उसकी प्रवृत्तियों का जो स्वरूप ग्रहण करती है, वही शब्दों के माध्यम से व्यक्त होने पर काव्य है। भारतीय काव्य का सर्वप्रथम रूप ऋग्वेद के सूक्तों में संकलित है। इन सूक्तों में छन्दोबद्ध वाणी में बहुविध विषयों पर नाना रस और भावों से समन्वित श्लोकों की मालिकाएँ संयोजित हैं।

सूक्तों के अतिरिक्त वैदिक युग में काव्य के कुछ अन्य रूप विकसित हुए, जिनके नाम आख्यान, गाथा-नाराशंसी आदि मिलते हैं। ये आकार-प्रकार में सूक्तों से बृहत्तर होते थे। परवर्ती युग में महाकाव्य, नाटक और कथा कोटि के काव्य-रूपों के मूल में ये ही वैदिक रचनाएँ हैं।

आर्षकाव्य और आदि काव्य

वैदिक काल के पश्चात् महाभारत और रामायण अपने युग की दो सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ मिलती हैं। महाभारत को आर्षकाव्य और रामायण को आदि

काव्य कहते हैं। आर्ष काव्य का अर्थ है ऋषि-प्रणीत। आदि कवि वाल्मीकि की रचना आदि काव्य विख्यात है। आदिकाव्य रामायण को भारतीय काव्य-साहित्य का आदर्श-प्रतिष्ठापक माना गया है। रामायण आदिकाव्य के साथ ही सर्गबन्ध है।

उपर्युक्त युग के पश्चात् संस्कृत भाषा के माध्यम से काव्य की अभिनव कोटियों की पारम्परीण शृङ्खला का अद्यावधि सतत् विकास मिलता है। ईसवी शती के आरम्भिक युग से श्रव्य और दृश्य—इन दो कोटियों के साहित्य का विकास विशेष परिलक्षित होता है।[१] श्रव्य काव्य में महाकाव्य-कोटि का सर्वोच्च स्थान है। आकार-प्रकार, भाव-गाम्भीर्य और औदार्य की दृष्टि से महाकाव्य की श्रेष्ठता प्रत्यक्ष ही है। वाल्मीकि-रामायण को इस कोटि की रचना का प्रथम प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

महाकाव्य

महाकाव्य का पूर्ववर्ती नाम सर्गबन्ध था। आगे चल कर सर्गबन्ध नाम का प्रचलन मिट गया और महाकाव्य नाम सुप्रचलित होकर रहा। जहाँ तक महाकाव्य के रूपात्मक विकास का सम्बन्ध है, सर्गबन्ध नाम उपयुक्त और सार्थक है। इस कोटि की काव्यात्मक विशेषताओं की दृष्टि से महाकाव्य नाम की अधिक समीचीनता प्रतीत होती है। यही कारण है कि कालान्तर में महाकाव्य नाम विशेष लोकप्रिय हुआ और सर्गबन्ध नाम का उल्लेख लक्षण-ग्रन्थों तक ही सीमित रहा।

महाकाव्य शब्द 'महत्' और 'काव्य' दो शब्दों के समास से बना है। महाकाव्य नाम से इस कोटि के ग्रन्थ के बड़े आकार-प्रकार की तथा साथ ही इसके अतिशय काव्य-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, पर नाममात्र से ही महाकाव्य के स्वरूप का पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो पाता। महाकाव्य के स्वरूप का परिचय देने की परम्परा भारतीय साहित्य-शास्त्र में रही है। साहित्य-शास्त्र में दी हुई परिभाषाओं से महाकाव्य के स्वरूप का जो परिचय मिलता है, उसे सर्वाङ्गीण नहीं कहा जा सकता। विविध प्रकार की काव्य-कोटियों का निदर्शन करते समय काव्यालोचकों ने नाटक को अतिशय मान्यता दी है और महाकाव्य की उपेक्षा की है। जहाँ नाटक के भेदोपभेद, वस्तु, नेता और रस का विश्लेषण करने के लिए स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गए या कम-से-कम सैकड़ों पंक्तियाँ लिखी गईं, वहाँ महाकाव्य की परिभाषामात्र से पाठकों को परितोष कराया गया और इने-गिने श्लोकों में ही महाकाव्य का प्रकरण समाप्त किया गया। साहित्य-शास्त्र में नाटक-शास्त्र का विवेचन करते समय आलोचकों ने जिस सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया है, महाकाव्य के सम्बन्ध में उसका प्रायः अभाव ही दिखाई देता है।

१. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।

परिभाषा

महाकाव्य की परिभाषा लिखने वाले आचार्यों में भामह का नाम सर्वप्रथम है। उनकी परिभाषा इस प्रकार है :—सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा और निबद्ध, ये पाँच काव्य कोटियाँ हैं। सर्गबन्ध महाकाव्य है। यह महान् व्यक्तियों के विषय में लिखा जाता है और आकार-प्रकार में महान् होता है। इसमें शब्द और अर्थ अग्राम्य होते हैं अर्थात् नागरिकों के स्तर के होते हैं। महाकाव्य की रचना अलंकारमयी होती है। महाकाव्य सत् (ऐतिहासिक) तत्वों का आश्रय लेता है। मंत्र, दूत, प्रयाण, युद्ध, और नायक का अभ्युदय—इन पाँच सन्धियों से समन्वित होता है। इसमें अतिव्याख्या (अतिशयोक्ति) नहीं होनी चाहिए। महाकाव्य में समृद्धिशालिता होनी चाहिए। इसमें चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) का विवेचन होता है। यह लोक-स्वभाव से समायुक्त होता है। सभी रसों का इसमें समावेश होता है। महाकाव्य के प्रारम्भ में नायक के वंश, वीर्य, श्रुत (ज्ञान) आदि का परिचय होना चाहिए। अन्य (प्रतिनायक) का उत्कर्ष सिद्ध करने के लिए नायक के वध का वर्णन नहीं करना चाहिए। महाकाव्य के सभी भागों में नायक की व्यापकता होनी चाहिए। नायक का अभ्युदय चरितार्थ होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो महाकाव्य के माध्यम से प्रस्तुत करने योग्य वह नायक नहीं होता।[१] परवर्ती युग में १४वीं शताब्दी में विश्वनाथ ने महाकाव्य की विस्तृत परिभाषा साहित्य-दर्पण में इस प्रकार दी है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजाः बहवोऽपि वा।
श्रृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते॥
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।
इतिहासोद्‌भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः॥

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं सांगोपाङ्गा अमी इह ॥
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ॥

इस परिभाषा के अनुसार सर्गबन्ध कोटि की रचना का नाम महाकाव्य है। इसका नायक देवता या धीरोदात्त, गुणी और उच्चकुलोत्पन्न होता है। एक वंश के अनेक अभिजात राजा भी नायक होते हैं। महाकाव्य में शृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी (प्रधान) होता है। अन्य रस अप्रधान (गौण) होते हैं। कथा-वस्तु में नाटक के समान सन्धियाँ रहती हैं। महाकाव्य की कथा इतिहास-प्रसिद्ध होती है अथवा किसी महापुरुष के सम्बन्ध में होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से एक ही उसका फल होता है। महाकाव्य नमस्कार, आशीर्वाद या कथावस्तु के निर्देश से आरम्भ होता है। कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों का गुणगान होता है। इसमें न तो बहुत छोटे और न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है, किन्तु सर्ग के कुछ अन्तिम श्लोक भिन्न छन्दों में दिये जाते हैं। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना रहती है। इसमें सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संभोग, वियोग मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र, पुत्र-जन्म और अभ्युदय आदि का यथा-सम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। महाकाव्य का नाम साधारणतः उसके लेखक, कथा या नायक आदि के नाम पर रखा जाता है। सर्ग के नाम वर्णित कथा के नाम पर रखे जाते हैं।

महाकाव्य के लक्षणों का विधान प्रायः प्रत्येक शास्त्रकार ने अपने समय के प्रसिद्ध महाकाव्यों के आधार पर ही किया है। इस प्रकार भामह और दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास और भारवि के महाकाव्यों के आधार पर अपनी परिभाषाओं को स्वकल्पित किया है। विश्वनाथ ने इनके अतिरिक्त माघ और श्रीहर्ष आदि की कृतियों को लक्ष्य में रखकर महाकाव्य की अपनी परिभाषा को संवर्धित किया है। रुद्रट की परिभाषा कश्मीर के महाकाव्यों को लक्ष्य करके बनाई गई है।[१]

---

१. उदाहरण के लिए देखिये रत्नाकर का 'हरविजय' अथवा मङ्ख का श्रीकण्ठ-चरित। रुद्रट की परिभाषा इन महाकाव्यों पर ठीक उतरती है।

महाकाव्य की विविध परिभाषाओं के आधार पर उसके तत्वों का विश्लेषण आगे प्रस्तुत किया गया है।

नायक और प्रतिनायक

भामह के अनुसार महाकाव्य का नायक महान् होता है। आरम्भ में ही उसके वंश, वीर्य और श्रुत (ज्ञान) का परिचय होना चाहिए। समग्र महाकाव्य में नायक की व्यापकता होनी चाहिए। दण्डी की दृष्टि में नायक को धीमान् और उदात्त होना चाहिए। रुद्रट के अनुसार महाकाव्य का नायक ऐतिहासिक या कल्पित राजा होना चाहिए और उसमें जीवन के तीन वर्गों--धर्म, अर्थ और काम के प्रति प्रवृत्ति होना चाहिए। नायक को शक्ति-सम्पन्न होना चाहिए। उसे गुणवान् तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए उत्साही होना चाहिए। प्रतिनायक के सम्बन्ध में रुद्रट ने लिखा है कि उसे गुणी और अभिजात होना चाहिए। विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य में एक नायक देवता या उच्च कुल का धीरोदात्त और गुणवान् क्षत्रिय होना चाहिए अथवा एक वंश में उत्पन्न कुलीन अनेक राजा नायक होने चाहिए।

कथा

भामह के अनुसार महाकाव्य की कथा ऐतिहासिक होनी चाहिए और इसमें दूत, मन्त्र, प्रयाण और युद्ध का आख्यान होना चाहिए। कथा के उपर्युक्त अंग स्वभावतः किसी युद्ध के सांगोपांग वर्णन में ही आ सकते हैं। इसके अंगों का नाम सन्धि हैं। सन्धियाँ ५ होती हैं। कथा में चार वर्गों का साधारणतः विवरण होता है। उनमें से अर्थ वर्ग का विशेष रूप से वर्णन होता है। कथा में नायक की मृत्यु का उल्लेख नहीं होता। दण्डी ने कथा के ऐतिहासिक और सन्धिबद्ध होने का उल्लेख किया है और उसमें प्रतिनायक के वंश, वीर्य और ज्ञान की विशेषताओं के समन्वय होने का निर्देश किया है। दण्डी एवं परवर्ती युग के प्रायः सभी आचार्यों ने भामह के समान ही महाकाव्य की कथा के द्वारा युद्ध में नायक का प्रतिनायक पर विजय प्राप्त करना आवश्यक माना है। रुद्रट महाकाव्य की कथा का ऐतिहासिक होना आवश्यक नहीं मानता। उसने लिखा है कि कथा पूर्णरूपेण अथवा अंशतः कल्पित हो सकती है। हेमचन्द्र और विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य की कथा के विकास के क्रम में पाँच नाटकीय सन्धियों का समन्वय होना चाहिए। विश्वनाथ ने कथा में उपनिबद्ध चार वर्गों में से केवल एक को सफल बनाने की योजना प्रस्तुत की है।

रस

सभी आचार्यों ने महाकाव्यों को प्रायः सभी रसों की अभिव्यक्ति का माध्यम माना है। काव्य होने के नाते महाकाव्य में रस की प्रधानता अपेक्षित ही है।

विश्वनाथ ने महाकाव्य के लिए शृंगार, वीर और शान्त में से किसी एक को अंगी और शेष रसों को अंग-रूप में स्वीकार किया है।

शैली

भामह के अनुसार महाकाव्य में शब्द और अर्थ का संयोजन अग्राम्य अर्थात् उदात्त और असाधारण होना चाहिए। भाषा अलंकारमयी होनी चाहिए।

आख्यान

महाकाव्य के दो अंग होते हैं—आख्यान और वर्णन। इनमें से आख्यान का अतिशय विस्तार भामह की दृष्टि में समीचीन नहीं है।

छन्द

महाकाव्य छन्दोबद्ध रचना होती है। दण्डी, हेमचन्द्र और विश्वनाथ के अनुसार प्रत्येक सर्ग में एक छन्द आदि से प्रायः अन्त तक रहता है, केवल अन्त के कुछ श्लोक भिन्न छन्द में रहते हैं। विश्वनाथ ने अपवाद-स्वरूप कुछ सर्गों में विविध प्रकार के छन्दों के प्रयोग का उल्लेख किया है।

वर्णन

सर्वप्रथम दण्डी ने महाकाव्य में वर्णनों का समावेश करने का उल्लेख किया है। वर्ण्य विषयों की सूची शनैः शनैः बढ़ती गई। दण्डी के अनुसार नगर, सागर, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वन-विहार, जल-क्रीड़ा, पान, रति- विलास, वियोग, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, मन्त्र, दूत, प्रयाण, युद्ध तथा नायक का अभ्युदय है। अन्तिम पाँच विषयों का आकलन भामह ने पाँच सन्धियों की दृष्टि से किया है। रुद्रट ने आख्यान और वर्णनों का यथायोग गुम्फन करने की योजना इस प्रकार प्रस्तुत की है:—

''नायक के नगर के वर्णन के पश्चात् उसके वंश का परिचय देना चाहिए। फिर नायक को राष्ट्र के शासन-कार्य में संलग्न दिखाना चाहिए। इसी बीच नायक को किसी दूत से प्रतिनायक की कार्यपद्धति का वर्णन सुन कर क्षोभ हो जाता है। वह मंत्रियों की सभा में परामर्श करके प्रतिनायक के पास दूत भेजता है अथवा उसके विरुद्ध आक्रमण कर देता है। प्रयाण-क्रम में नागरिकों के क्षोभ, जनपद, पर्वत, झील, मरुस्थल,सागर, द्वीप, भूभाग, स्कन्धावार, युवकों की क्रीड़ाओं,सूर्यास्त, चन्द्रोदय,रात्रि, युवकों की गोष्ठी,संगीत, पान और प्रसाधन के वर्णनों का समावेश होना चाहिए। इन वर्णनों के पश्चात् प्रतिनायक को नगर पर आक्रमण कर देना चाहिए। नवयुवक योद्धा अपनी प्रियतमाओं से मिलकर भावी युद्ध में भाग लेने का भयावह समाचार देंगे। अन्त में युद्ध का होना और नायक की विजय का वर्णन होना चाहिए।

हेमचन्द्र और विश्वनाथ ने महाकाव्य के वर्णनीय विषयों में दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा का भी समावेश किया है। विश्वनाथ ने मृगया, मुनि, स्वर्ग आदि वर्णनीय विषयों का भी उल्लेख किया है।

विश्वनाथ ने महाकाव्य के प्रारम्भ करने की रीति का विवेचन किया है, जिसके अनुसार आदि में नमस्क्रिया, आशीर्वाद या वस्तु-निर्देश होना चाहिए। महाकाव्य के नाम का विश्लेषण करते हुए विश्वनाथ ने बताया है कि कवि, वृत्त और नायक के नाम पर महाकाव्य के नाम मिलते हैं।

परिभाषा की व्यापकता

संस्कृत के महाकाव्यों का सर्गों में विभाजन हुआ है। सर्गों में श्लोकों की संख्या के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं दिखाई देता। 'किरातार्जुनीय' के चतुर्थ सर्ग में केवल ३८ श्लोक हैं, पर नैषधीयचरित के सप्तदश सर्ग में २२१ श्लोक हैं। कालान्तर में प्रत्येक सर्ग में श्लोकों की संख्या शनैः शनैः बढ़ती ही गई। विविध महाकाव्यों के विभिन्न सर्गों के श्लोकों की संख्या का विश्लेषण करने से प्रतीत होता है कि साहित्य-शास्त्र के तद्विषयक नियम मान्य नहीं हो सके। वास्तव में श्लोकों की संख्या के विषय में "बहुत बड़ा और बहुत छोटा" न होने के नियम का कोई स्पष्ट अभिप्राय नहीं है। बड़े और छोटे का निर्णय महाकवियों ने स्वेच्छापूर्वक किया है। किसी एक सर्ग में कथा के कितने अंश को तथा तत्सम्बन्धी वर्णनों को उपनिबद्ध किया जाय, इसके लिए नियम बनने चाहिए थे। महाकाव्य में प्रायः तीन प्रकार के नायक पाए जाते हैं—देवता, राजा और ऋषि। साहित्य-शास्त्र में ऋषि-कोटि के नायकों का परिगणन परिभाषा लिखते समय नहीं किया गया। संस्कृत के दो उच्च कोटि के महाकाव्यों—बुद्धचरित और सौन्दरनन्द में गौतम बुद्ध और नन्द इसी कोटि के नायक हैं। साधारणतः आचार्यों ने महाकाव्य के नायक के रूप में महायुद्धों के विजेता महाराजाओं को ही देख पाया है।

विश्वनाथ को छोड़कर प्रायः अन्य सभी आचार्यों ने समग्र महाकाव्य को एक नायक तथा एक कार्य तक ही सीमित और केन्द्रित किया है। उपर्युक्त लक्षण का एक प्रसिद्ध अपवाद रघुवंश है, जिसमें सूर्यवंश के अनेक राजाओं के जीवन-वृत्तों से चुन-चुन कर कथाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है।

रघुवंश की भाँति इस कोटि के नायकों की कथा का निदर्शन करने वाले अन्य महाकाव्य भी संस्कृत में हैं।

साधारणतः सभी आचार्यों ने महाकाव्य में मुख्य कार्य नायक का किसी युद्ध में विजय पाना ही माना है। संस्कृत साहित्य में कम-से-कम तीन उच्च कोटि के महाकाव्य हैं—बुद्धचरित, सौन्दरनन्द और नैषधीयचरित, जिनमें नायक के द्वारा युद्ध

करने का नाम तक नहीं मिलता। मार बुद्धचरित के नायक सिद्धार्थ पर आक्रमण करता है, पर सिद्धार्थ शान्त भाव से स्थिर और अविचलित हैं। उन्होंने मार का प्रतिकार करने के लिए एक शब्द भी नहीं कहा। बुद्धचरित में युद्ध का प्रसंग है ही नहीं। इस महाकाव्य में प्रतिनायक के रूप में मार केवल थोड़ी देर के लिये आता है। उसकी सत्ता भी केवल कवि की कल्पना-मात्र ही है। उसका आक्रमण वास्तविकता की परिधि के बाहर है।

महाकाव्य की कथा के विकास-क्रम में पाँच सन्धियों का होना कुछ आचार्यों ने आवश्यक माना है। पूर्ववर्त्ती आचार्यों की महाकाव्य की परिभाषाओं में सन्धियों की चर्चा तो अवश्य है, पर नाटक की सन्धियों के ही अनुसार महाकाव्य की भी सन्धियाँ होनी ही चाहिए—पूर्ववर्त्ती आचार्यों का मन्तव्य ऐसा प्रतीत नहीं होता। भामह ने पाँच सन्धियों की चर्चा करते हुए लिखा है कि मंत्र, दूत, प्रयाण, आजि और नायकाभ्युदय इन्हीं पाँच सन्धियों में महाकाव्य को समन्वित होना चाहिए।[१] यहीं से सन्धि शब्द का महाकाव्य की परिभाषा में आगमन हुआ और परवर्त्ती आचार्यों में से विश्वनाथ ने लिखा कि महाकाव्य में नाटक की सभी सन्धियाँ होनी चाहिए। कुछ महाकाव्यों में खींच-तान करने से भले ही कुछ सन्धियाँ प्राप्त हो जायँ, परन्तु अनेक संस्कृत और प्राकृत महाकाव्यों में इन सन्धियों का सर्वथा अभाव है। विशेषतः उन महाकाव्यों में जो नायक के चरित या किसी राजवंश के अनेक राजाओं के चरित को कथा-वस्तु के रूप में लेते हैं।

शैली की उच्चता की दृष्टि से संस्कृत के महाकाव्य भारतीय साहित्य में प्रायः सर्वोपरि कहे जा सकते हैं। प्रायः उच्चकोटि के महाकवियों ने ही महाकाव्य लिखने का प्रयास किया है। इस कोटि की रचना में स्वभावतः काव्य-सौष्ठव की अतिशयता होनी ही चाहिए। महाकाव्यों में रस, अलंकार और छन्दों की विविधता का समावेश सफल रहा है।

महाकाव्य की श्रेष्ठता का आधार विश्व की प्रायः सभी सौन्दर्यशालिनी वस्तुओं के मनोरम वर्णनों का संयोजन है। महाकाव्यों में ऐसे वर्णनों की प्रचुरता स्पष्ट ही विद्यमान है। परवर्त्ती युगों के महाकाव्यों के वर्णनों को इतनी प्रधानता दी गई कि कहीं-कहीं तो उनका समावेश करने के लिए आख्यान के क्रमिक विकास को भंग कर दिया गया है।

---

१. भामह ने इस प्रकरण में सन्धि शब्द का प्रयोग नाटकीय सन्धियों के अर्थ में नहीं किया है। इनकी परिभाषा में सन्धि का अर्थ है कथांश।

महाकाव्य का रूपात्मक विकास

महाकाव्य की परिभाषा और प्रमुख महाकाव्यों में उसकी व्यापकता का विवेचन करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि महाकाव्य तत्त्वतः एक बड़ा काव्य है, जिसमें एक नायक या अनेक नायकों के पराक्रमों का विशद व्याख्यान होता है। महाकाव्य के उपर्युक्त रूप का बीज इन्द्र और वृत्र के युद्ध का रोचक आख्यान है जो उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है :—

"मैं वज्रधारी इन्द्र के प्रथम पराक्रमों का वर्णन करता हूँ। उन्होंने अहि (वृत्र) का वध किया था, जल प्रवाहित किया था और पर्वत की नदियों का मार्ग भिन्न किया था। पर्वत पर आश्रय लेने वाले अहि का इन्द्र ने वध किया था, त्वष्टा ने इन्द्र के लिए उत्तम वज्र की रचना की थी। उस समय वेगवती गौओं की भाँति प्रवाहमयी जलधारा समुद्र की ओर दौड़ पड़ी। वृष की भाँति इन्द्र ने सोम को ग्रहण किया, त्रिकद्रुक यज्ञ में प्रस्तुत सोम का पान किया। मघवा इन्द्र ने वज्र-सायक धारण किया और उससे अहियों के नेता का वध किया। अहि को मार कर इन्द्र ने मायावियों की माया का विनाश किया था, फिर सूर्य, उषा और आकाश को प्रकाशित किया। अन्त में इन्द्र का कोई शत्रु न रहा। वृत्र से बढ़कर पराक्रमी इन्द्र ने अपने श्रेष्ठ अस्त्र वज्र से वृत्र के कन्धे को काट कर उसे मार डाला। उस समय वृत्र उसी प्रकार पृथ्वी-तल पर लेट रहा, जैसे कुठार से काटा हुआ वृक्ष-स्कंध। दर्पान्ध वृत्र ने किसी को अपने समान पराक्रमी नहीं माना था। उसने महावीर इन्द्र का युद्ध के लिए आह्वान किया था। इन्द्र के शस्त्रों से वृत्र बच नहीं सका। उसने नदियों में गिरकर उन्हें भी पीस दिया। पाद और हस्त से रहित होने पर भी वृत्र ने इन्द्र को युद्ध के लिए बुलाया। इन्द्र ने पर्वत की चोटी की भाँति वृत्र के कन्धे पर वज्र का प्रहार किया। जिस प्रकार निर्बल किसी बलशाली की समानता करने पर परास्त होता है, उसी प्रकार वृत्र अनेक स्थानों पर चोट खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। जिस प्रकार भग्न तटों को लाँघ कर नद बहता है, उसी प्रकार जल भूतल पर पड़े हुए वृत्र का अतिक्रमण करके बह रहा था। जिस जलधार को वृत्र ने अपनी महिमा से बाँध रखा था, उसी जल के बीच वह घिरा हुआ था। वृत्र की माता उसकी रक्षा के लिए उसकी देह पर गिरी पड़ी थी, उस समय इन्द्र ने उसके नीचे के भाग पर प्रहार किया। ऊपर माता और नीचे पुत्र था, मानो वत्स के साथ धेनु हो। स्थितिशून्य, विश्रामरहित, जल के बीच पड़ा हुआ, नामविहीन वह शरीर के ऊपर से जल बहता हुआ चला जा रहा था। इन्द्र-द्रोही वृत्र अनन्त निद्रा में पड़ा हुआ था। जिस प्रकार पणियों के द्वारा गौएँ निरुद्ध थीं, वैसे ही वृत्र के द्वारा दास-पत्नी के रूप में जल-धारा निरुद्ध थी। जल का बिल बँधा हुआ था, उस बाँध को इन्द्र ने वृत्र को मार कर खोल दिया। हे इन्द्र, जब वृत्र ने तुम्हारे

ऊपर प्रहार किया तो तुमने घोड़े की पूंछ की भाँति बन कर उसका निवारण कर दिया। तुमने गौओं को जीत लिया। हे शूर, तुमने सोम को जीत लिया था और सात सिन्धुओं को बहने के लिए विमुक्त कर दिया था। जिस समय इन्द्र और वृत्र में युद्ध हुआ था, उस समय वृत्र ने जिस बिजली, मेघ-ध्वनि, जल-वृष्टि और वज्र का इन्द्र के विरुद्ध प्रयोग किया था, वे सभी इन्द्र का स्पर्श तक न कर सके। इन्द्र ने वृत्र की सभी माया जीत ली। हे इन्द्र, वृत्र के मारने का ध्यान आते ही जब तुम्हारे मन में भय उत्पन्न हुआ था, उस समय तुमने किस वृत्र-हन्ता की प्रतीक्षा की थी? उस अवसर पर तुमने भीत होकर बाज पक्षी की भाँति ६६ प्रवहणशील नदियों को पार किया था। इसके पश्चात् वज्रबाहु इन्द्र स्थावर, जंगम, शान्त और शृंगी पशुओं के राजा हुए। जिस प्रकार अर के चारों ओर नेमि होती है, उसी प्रकार राजा चारों ओर से प्रजा की रक्षा करता है।''

उपर्युक्त सूक्त में इन्द्र के वृत्र से युद्ध-विषयक आख्यान के साथ ही नायक की प्रशंसा की गई है।

महाकाव्य और ऐसे आख्यानमूलक सूक्तों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। प्रत्यक्ष रूप से एक ही उल्लेखनीय अन्तर है :—

महाकाव्य में जहाँ इसी कथा के निरूपण में सहस्रों श्लोक होते, वहाँ सूक्त में केवल १६ श्लोक हैं। सूक्त की शैली महाकाव्य की शैली के समान ही उदात्त है। वैदिक साहित्य के अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सूक्त-आख्यान का शनैः-शनैः विकास हुआ। इनके विकास की एक दिशा का परिचय गाथानाराशंसी कोटि की रचनाओं में हुआ। इनके सम्बन्ध में विण्टरनित्ज ने लिखा है कि पुरुषों से सम्बद्ध ये स्तुति-गीत ऋग्वेद की दानस्तुतियों के तथा अथर्ववेद के कुन्ताप-सूक्तों के समकक्ष पड़ते हैं। परवर्ती युग के आख्यान काव्य—रामायण और महाभारत का रूप-विन्यास इन्हीं के आधार पर हुआ है, क्योंकि इनकी कथा-वस्तु वीरों और राजाओं की पराक्रम-गाथा है। जिस परम्परा में भारत के अन्तिम अवशेष रामायण और महाभारत दो सर्वोच्च राष्ट्रीय आख्यान-काव्य हैं, उसकी विकास-सरणी में अनेक आख्यान-काव्य रहे होंगे। इन काव्यों के आख्यान किसी एक नायक या महत्त्वपूर्ण कार्य पर केन्द्रित होंगे। रामायण और महाभारत में उन पूर्ववर्ती आख्यानों के अंश यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। ऐसी परिस्थिति में कहा जा सकता है कि वे सर्वथा विनष्ट नहीं हुए। अश्वमेध-यज्ञ के अवसर पर राजा के युद्ध-सम्बन्धी पराक्रमों से सम्बद्ध गीत वीणावादक राजन्य नित्य संध्या के समय गाया करता था।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि वैदिक सूक्त-आख्यानों का विकास होता रहा, पर उनके विकास की परम्परा का पूर्ण परिचय प्राप्त कर लेना असम्भव है। रामायण, महाभारत या पुराण साहित्य इस परम्परा के सर्वोच्च विकास के प्रतीक हैं, पर इनकी शृंखला वैदिक सूक्त-आख्यानों से प्रायः टूटी हुई है क्योंकि इन दोनों के बीच का आख्यान-साहित्य अब नहीं मिलता, यद्यपि उनके उल्लेख कई स्थानों पर बिखरे मिलते हैं। रामायण और महाभारत परवर्त्ती युग के महाकाव्यों के पूर्वरूप कहे जा सकते हैं।

काव्य

पद्यबद्ध रचनाओं में सर्वोपरि स्थान महाकाव्य का होता है। महाकाव्य में सर्गों की संख्या कम-से-कम आठ होती है और इसकी कथावस्तु का स्वरूप प्रसार-पूर्ण होता है। ऐसी स्थिति में महाकाव्य से हीनतर कोटि का 'काव्य'–स्वरूप प्रतिष्ठित किया गया है। काव्य भी सर्गबद्ध होता है, पर इसमें सर्गों की संख्या आठ से कम होती है। इसकी कथावस्तु की परिधि स्वल्प होती है। इसमें केवल एक विषय का आख्यान उपनिबद्ध होता है। काव्य की कथा-वस्तु का विभाजन नाटकीय सन्धियों में नहीं हो पाता। काव्य-कोटि में भिक्षाटन, आर्याविलास आदि संस्कृत के ग्रंथ रखे गये हैं।

यदि कोई रचना स्वरूपतः 'काव्य' कोटि से भी हीनतर हुई तो उसे 'खण्ड-काव्य' की कोटि में रखते हैं। इसे काव्य का खण्ड माना जा सकता है।[1] इस कोटि का सर्वोपरि ग्रंथ मेघदूत है। खण्डकाव्य की कोटि में आनेवाली मेघदूतादि कुछ रचनाओं को आधुनिक आलोचक गीतिकाव्य के अन्तर्गत रखते हैं। गीति-काव्य की कोटि के अन्तर्गत स्तोत्र, शतक और मुक्तक कोटि की रचनाओं को भी रख लिया जाता है। गीति-कोटि की रचनाओं का पृथक्करण काव्य-शास्त्रों में यद्यपि नहीं मिलता, फिर भी ऋग्वेद के गेय सूक्त और गाथाएं इस कोटि की प्रतिष्ठापिका हैं। गाथा-सप्तशती, गीतगोविन्द आदि इस कोटि की प्रशस्त रचनाएं हैं। कल्हण ने लिखा है कि कश्मीर का राजा हर्ष वाग्गेयकारी था और उसके गीतों को सुनकर शत्रु भी अपने नयनों से अश्रु-बिन्दु गिराने लगते थे।[2]

---

१. खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। सा० द० ६'३२९

२. गीतमाकर्ण्य तेऽद्यापि तस्य वाग्गेयकारिणः।
विपक्षैरपि पक्ष्माग्रलुठद्बाष्पोदबिन्दुभिः॥ राजत० ७'६४

खण्डकाव्य को 'संघात' भी कहते हैं। 'संघात' का अर्थ है एकार्थ खण्डकाव्य, जिसमें एक प्रकार के छन्द में ही एक घटना या दृश्य-विशेष का वर्णन किया जाता है।[१]

कोश

गाथासप्तशती और जयदेव आदि की रचनाओं को कोश कोटि में भी रख सकते हैं। इस कोटि की रचनाओं में श्लोक अपने आप में स्वतन्त्र रहते हैं। उनका पहले और पीछे आने वाले श्लोकों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। कभी-कभी एक-एक विषय पर अनेक श्लोक रचकर ऐसे कोश-काव्य बनाये जाते हैं। संस्कृत में मुक्तावली इस कोटि की एक सर्वश्रेष्ठ रचना है।

रूपक

जिस काव्य को अभिनय के माध्यम से रंगमंच पर दर्शनीय बनाया जा सकता है, उसे दृश्य नाम दिया गया है। इसे रूपक भी कहते हैं। रूपक एक अलंकार भी होता है, जिसमें किसी वस्तु के ऊपर तत्सदृश अन्य वस्तु का आरोप किया जाता है। इसी विधि से दृश्य काव्य का नाम रूपक पड़ा है। दृश्य काव्य के अभिनय के लिए रामादि का काम रंगमंच पर पात्र करते हैं। अभिनेताओं में रामादि का आरोप होता है। इसी आरोप को दृश्य काव्य का प्रमुख लक्षण मानकर ही इसे रूपक कहते हैं। नायक आदि की अवस्था की अनुकृति या अनुकरण को नाट्य कहते हैं। रूपकों के अभिनय में अनुकरण की प्रधानता होने से इसे नाट्य कहते हैं। नाट्य, दृश्य या रूपक के वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से दश भेद होते हैं।[२] इनमें से नाटक सर्वप्रथम और प्रमुख है।

रूपक का संविधान

रूपकों के भेद तीन तत्वों पर निर्भर होते हैं—वस्तु, नेता और रस[३]। वस्तु से अभिप्राय कथानक, आख्यान, और इतिवृत्त से है। वस्तु को नाट्य का शरीर कहते हैं।[४]

---

१. एकप्रघट्टके एककविकृतसूक्तिसमुदायो वृन्दावनमेघदूतादिः संघातः। काव्यानुशासन ८-१३ वृत्ति।

२. नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यंकेहामृगा इति॥ दशरूपक १-८

३. वस्तुनेतारसस्तेषां हि भेदकः। दश० १-११

४. इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्। ना० शा० २१-१

नाटक की सरसता और प्रभावशीलता का प्रधान अवलम्बन इतिवृत्त है। नाटकीय कथा तीन प्रकार की होती है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों में प्रसिद्ध कथा को प्रख्यात, कवि द्वारा कल्पित वृत्त को उत्पाद्य और दोनों के मिश्रित रूप को मिश्र कहते हैं।

वस्तु भेद

नाटक किसी व्यक्ति के साथ ही समाज के जीवन का चित्र होता है। नाटक में प्रधान चरित्र के साथ-साथ दूसरे चरित्रों का समावेश आवश्यक होता है। कथा की प्रधान घटना का सम्बन्ध जिस पुरुष-विशेष से होता है, वह नाटक का नायक होता है। नायक को अधिकारी और उससे सम्बन्धित कथा-भाग को आधिकारिक या मुख्य वृत्त कहते हैं। वृत्त का वह भाग, जिससे किसी अप्रधान व्यक्तिविशेष का सम्बन्ध होता है, उसे प्रासंगिक या गौण वृत्त कहा जाता है। राम चरित पर आधारित नाटकों में राम अधिकारी होगें और सुग्रीव, विभीषण आदि सहायक होगें। राम का इतिवृत्त आधिकारिक तथा सुग्रीव आदि के इतिवृत्त प्रासंगिक कहलायेंगे। प्रासंगिक वृत्त के दो भेद होते हैं—पताका और प्रकरी। पताका विशेष महत्त्वपूर्ण लम्बी कथा होती है। प्रकरी का महत्त्व साधारण होता है और वह अपेक्षाकृत छोटी होती है। कथावस्तु की तालिका निम्नांकित प्रकार से प्रदर्शित की जा सकती है :—

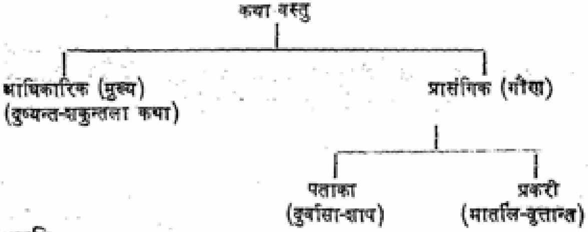

अर्थ-प्रकृति—

फलरूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए अनेक अवान्तर घटनाओं का संयोजन होता है। इन्हें अर्थ-प्रकृतियाँ कहते हैं। 'अर्थ' का अभिप्राय है प्रयोजन या इतिवृत्त का फल और 'प्रकृति' का अर्थ है कारण या हेतु। इतिवृत्त की फल-सिद्धि का साधन होने के कारण इनका नाम 'अर्थ-प्रकृति' सार्थक होता है। अर्थ-प्रकृतियाँ रूपक की कथा का स्रोत ही हैं।

मुख्य वृत्त की तीन अवस्थाएँ होती हैं—बीज, बिन्दु और कार्य। जैसे किसी फल को प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम उसका बीज लगाते हैं, उसी प्रकार कार्य या

फल को सिद्ध करने के लिए प्रारम्भ में कथा का बीज प्रतिष्ठित किया जाता है, जो कथावस्तु का अतिसंक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है। कथा-बीज में रूपक की सारी कथा वैसे ही सम्पुटित होती है, जैसे वट-बीज में वटवृक्ष। शेष कथा में बीज का विस्तार होता है।[१]

अवान्तर (इधर-उधर की) कथाओं के आ जाने के कारण कथा के विच्छिन्न होने पर जो कथांश उसे मुख्य कथा के साथ संयोजित कर देती है, उसे बिन्दु कहते हैं। बिन्दु कथात्मक प्रक्रिया है, जो कथावस्तु को आद्यन्त प्रसारित करती है। यह समाप्त होने वाली कथा को निमित्त बनकर आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को अविच्छिन्न रखती है।[२] बिन्दु के द्वारा मूल-कथा की गति टूटने नहीं पाती यद्यपि उस मूल कथा के बीच-बीच में उससे केवल दूरतः सम्बद्ध छोटी-मोटी घटनाओं की स्थापना होती है। ऐसी स्थापना के समाप्त होते ही बिन्दु उससे पहले की मूल कथा के सूत्र का अनुसन्धान करके उसको बढ़ा देता है।

जिस फल या परिणाम के लिए रूपक के सभी कार्य-कलाप संयोजित होते हैं, उसे कार्य कहते हैं। रूपक में धर्म, अर्थ और काम इन तीनों वर्गों को सिद्ध करना कार्य होता है।

नाटकीय प्रधान वृत्त का आविष्करण बीज के उद्घाटन से होता है फल प्राप्ति का या अन्तिमावस्था का नाम कार्य है। बीज से कथा का प्रारम्भ होता है और बिन्दु के माध्यम से कार्य-रूप में उसकी परिणति होती है। बिन्दु बीज से लेकर कार्य तक फैला रहता है।

मुख्य कथा की तीन और प्रासंगिक कथा की दो मिलाकर पाँच अर्थ प्रकृतियाँ—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य होती हैं। जिस रूपक में प्रासंगिक वृत्त नहीं रहता है, वहाँ पताका और प्रकरी—दो अर्थ-प्रकृतियाँ नहीं होती हैं।

अवस्था

नाटकीय प्रयोजन की प्राप्ति की दृष्टि से कथा का विकास पाँच क्रमों से होता है, जिन्हें—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम कहते हैं। इनको फल से सम्बद्ध करने पर फल के लिए आरम्भ, फल के लिए यत्न, फल-प्राप्ति की आशा, फल की नियत प्राप्ति का विश्वास और फल का आगम अर्थात् हस्तगत होना—ये पाँच अवस्थाएँ वृक्ष के बीजारोपण से लेकर उससे फल-प्राप्ति तक के लिए विविध अवस्थाओं से सन्तुलित होती हैं।

१. स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।
२. अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।

फल को प्राप्त करने के लिए नायक उत्साही होता है। 'मैं यह कार्य करूँगा' इस प्रकार का अध्यवसाय जब विद्यमान होता है, तब उसे 'आरम्भ' कहते हैं।[1] फल तो अनायास प्राप्त नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में फल को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त शीघ्रता के साथ उपायों की योजना की जाती है, उसे 'प्रयत्न' कहते हैं।[2]

उपाय होने पर भी विघ्न की शंका के कारण फल की प्राप्ति यदि सुनिश्चित न हो तो उस अवस्था को प्राप्त्याशा कहते हैं।[3] विघ्न के न होने के कारण जहाँ पर फल-प्राप्ति पूर्णरूप से निश्चित हो उसे नियताप्ति और पूर्णरूप से फल प्राप्त हो जाना फलागम कहलाता है।[4]

जब नायक धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति की चेष्टा करता है, उस समय उसके समस्त क्रिया-कलापों में एक निश्चित क्रम रहा करता है। पहले नायक किसी फल की प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चय करता है। जब उसे फल-प्राप्ति सुगमतापूर्वक होती हुई दृष्टिगोचर नहीं होती तब वह बड़ी तीव्रता के साथ कार्य में लग जाता है। मार्ग में विघ्न भी उपस्थित होते हैं। उनके प्रतिकार के लिए प्रयत्न किया जाता है। उस समय साध्य-सिद्धि दोनों ओर की खींचा-तानी में पड़कर संदिग्ध हो जाती है। धीरे-धीरे विघ्नों का नाश होने लगता है और फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है तथा अन्त में समस्त फल प्राप्त हो जाता है। उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं के अनुसार नाटक की प्राथमिक अङ्क-संख्या निश्चित हुई। नाटक में पाँच अवस्थाओं को दिखाने के लिए एक-एक अङ्क होना चाहिए। प्रत्येक अवस्था के लिए अधिक-से-अधिक दो अङ्कों का प्रयोग हो सकता है, अधिक नहीं। इस प्रकार नाटक की अङ्क-संख्या पाँच से दस तक होनी चाहिए।

सन्धि

रूपक की कथा का विभाजन पाँच सन्धियों के द्वारा किया जाता है।[5] सन्धियों के द्वारा कथा के जो पाँच भाग होते हैं, उन्हें इन्हीं सन्धियों के नाम

---

१. 'औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे'

२. प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः

३. उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः,

४. अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता।
समग्रफल-सम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः

५. इतिवृत्तं तु नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्।
पञ्चभिः सन्धिभिस्तस्य विभागः सम्प्रकल्पितः॥ ना० शा० १६·१

पर अभिहित किया गया है। मुखसन्धि में बीज की उत्पत्ति, प्रतिमुख में उसका उद्‌घाटन, गर्भसन्धि में बीज का प्रत्यक्ष विकास और अन्वेषण, विमर्श में बीज का विशेष विकास और निर्वहण में फल-प्राप्ति-रूप में बीज की परिणति का निदर्शन होता है।

संसूच्य वृत्त

रूपक की सारी कथा अभिनय के योग्य नहीं होती। अभिनय के अयोग्य, किन्तु आवश्यक कथांश का ज्ञान दर्शकों को करा देने के लिए पाँच अर्थोपक्षेपकों का उपयोग होता है, जिनके नाम हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, अङ्कास्य, अङ्कावतार और अङ्कमुख या चूलिका। अतीत और भविष्य की घटनाओं को सूचित करने वाले भाग को विष्कम्भक कहते हैं। इसमें मध्यश्रेणी के पात्र रहते हैं और विष्कम्भक किसी भी अङ्क में रखा जा सकता है।[1] प्रवेशक में भी घटनाओं की सूचना पूर्ववत् दी जाती है, परन्तु इसमें सूचना देने वाले पात्र अधम श्रेणी के रहते हैं। प्रवेशक प्रथम अङ्क में नहीं रखा जा सकता।[2] अङ्क के अन्त में आने वाले पात्र के द्वारा अगले अङ्क के अर्थ को सूचित कराने वाला वक्तव्य अङ्कास्य कहलाता है। जहाँ पर पूर्ववर्ती अङ्क की कथा अविच्छिन्न रूप में दूसरे अङ्क में अनुक्रमित हो, वह अङ्कावतार नामक अर्थोपक्षेपक है।[3] जवनिका के दूसरी ओर स्थित व्यक्तियों के द्वारा जो कथांश सूचित किया जाता है, वह चूलिका है।[4] मृत्यु, युद्ध आदि अशिष्ट क्रियाएं नाटक के अङ्कों में नहीं दिखाई जाती हैं, पर आवश्यक होने पर उनकी सूचना अर्थोपक्षेपकों द्वारा दी जाती है। अङ्कास्य और अङ्कमुख का प्रधान उपयोग अङ्क में आने वाले चरित्रों का परिचय देने के लिए होता है।

नाटक की कथावस्तु का विभाजन श्राव्यता की दृष्टि से भी किया गया है। जो कथांश रंगमंच के सभी पात्रों के सुनने योग्य हो, वह 'सर्वश्राव्य' कहलाता है।

---

१. वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥ द० रू० १.५९

२. तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्ते शेषार्थस्योपसूचकः॥ वही १.६०
आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

३. अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्।
अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः॥ वही १.६२

४. अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना। द० रू० १.६१

'स्वगत' वह कथांश है, जिसका ज्ञान वक्ता के अतिरिक्त रंगमंच के किसी पात्र को नहीं होना चाहिए। इनके साथ नाटकों में 'आकाशभाषित' का भी प्रयोग होता है। 'आकाशभाषित' में रंगमंच पर एक पात्र ऐसी उक्ति को सुनने का अभिनय करता है, जो वास्तव में किसी के द्वारा नहीं बोली जाती है। सुनने का अभिनय करते हुए वह तत्सम्बन्धी प्रत्युक्ति प्रस्तुत करता है।[१] कोई पात्र रंगमंच पर मुड़कर किसी दूसरे पात्र से रहस्य कह देता है, तो उस उक्ति को अपवारित कहते हैं।

आरम्भ तथा अन्त

नाटक का आरम्भ मङ्गल-श्लोक से होता है, जिसे नान्दी कहते हैं। नान्दी आशीर्वचनात्मक अथवा स्तुतिपरक होती है—

"आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः"

अभिनवगुप्त के अनुसार नान्दी का इसके अतिरिक्त प्रयोजन, काव्य को सूक्ष्म रूप में सूचित करना है।

देवता, ब्राह्मण, राजा आदि की वन्दना के साथ नाटक प्रारम्भ होता है तथा सबके लिए कल्याण और समृद्धि की प्रार्थना के साथ नाटक की समाप्ति होती है, जिसे भरतवाक्य कहते हैं।

सभी संस्कृत नाटकों में नान्दी-श्लोक के बाद प्रस्तावना का स्थान होता है। इसमें सूत्रधार नाट्यकार का, नाटक का तथा अभिनय के उपलक्ष्य का परिचय देता है और साथ ही अपने प्रयोग-कौशल से मूल कथा का सूत्रपात या तो प्रधान नायक को ही प्रवेश कराकर या दूसरे उपायों से करता है।

अभिनय और उसके भेद

अभिनय के द्वारा रस का उन्मीलन होता है। नाट्याभिनय चार प्रकार का होता है—आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। आङ्गिक अभिनय पात्रों के शारीरिक अङ्गों की विशिष्ट गतियों से अभिव्यक्त होता है। दृष्टि, कटाक्ष विक्षेप, मुख, हस्त आदि का यथार्थ संचालन आदि आङ्गिक अभिनय हैं। वाचिक अभिनय में नटों तथा पात्रों के उक्ति-प्रत्युक्ति या पाठ्य का विधान रहता है। इसमें स्वर लहरी का विशेष महत्त्व है। यह रूपक का विशेष महत्त्वपूर्ण अङ्ग कहलाता है। इसका महत्त्व सबसे अधिक होने के कारण ही भरत ने इसे 'नाट्य का शरीर' कहा है—

---

१. किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकः तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ द० रू० १.६७

'वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता ।
अंगनेपथ्यतत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ।।'

(वाचिक अभिनय नाट्य का शरीर है। इसके सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिए। आंगिक अभिनय और वेश-भूषादि वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति के लिए साधक हैं।)

आहार्य अभिनय का सम्बन्ध वेशभूषा और आभूषणों से है। पुरुष और स्त्रियों की सात्विक चेष्टाओं का प्रदर्शन सात्विक अभिनय में किया जाता है।

पात्र-परिचय

संस्कृत रूपकों में चार प्रकार के नायक माने गए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। नायक के सामान्य गुण अनेक होते हैं। जैसे—विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, स्थिर, युवा, उत्साही, शूर और धार्मिक आदि। धीरोदात्त प्रकृति का नायक तेजस्वी, गम्भीर, सहनशील, अविकत्थन (आत्म प्रशंसा न करने वाला) आदि प्रधान गुण वाला होता है।[1] दर्प, मात्सर्य, माया, छद्म, अहंकार, चपलता आदि गुणों से युक्त नायक को धीरोद्धत कहते हैं।[2] कलाओं में आसक्त, सुखी, मृदु और निश्चिन्त नायक को धीर ललित और सभी सामान्य गुणों से युक्त नायक को धीर प्रशान्त नायक कहते हैं।[3] सभी नायक धीर स्वभाव के अवश्य होते हैं, पर स्वभाव की विशेषता के अनुसार उदात्तादि नाम पड़ते हैं। युधिष्ठिर और रामचन्द्र धीरोदात्त, भीम धीरोद्धत, उदयन और दुष्यन्त धीरललित तथा चारुदत्त धीरप्रशान्त कोटि के नायक हैं। पहले तीन भेदों में क्षत्रिय नायकों का तथा अन्तिम में ब्राह्मण और वैश्य नायकों का समावेश होता है।

नायक के सहायक पात्र भी होते हैं, जिनमें—पीठमर्द, विट, विदूषक आदि प्रधान हैं। पताका-नायक को पीठमर्द कहते हैं। वह निपुण होता है। प्रधान नायक के गुणों की अपेक्षा इसमें कम गुण होते हैं और वह नायक का अनुचर होता है।[4] जैसे

१. महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।।

२. दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः ।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी, चलश्चण्डो विकत्थनः ।।

३. निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तो सुखी मृदुः ।
सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।।

४. पताका नायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ।। द० रू० २·८

मालती-माधव में मकरन्द। एक विद्या में निपुण पात्र को विट तथा हंसाने वाले को विदूषक कहते हैं।[१] विदूषक नायक का मित्र होता है, जैसे शाकुन्तल में माडव्य।

नायिका में भी नायक के समान ही गुण होते हैं। नाटक के नायक की पत्नी नायिका होती है। धनञ्जय के अनुसार नायिका तीन प्रकार की होती है—स्वकीया, परकीया और साधारण स्त्री। साधारण स्त्री गणिका को कहते हैं। जिस प्रकार नायक के सहायक अनेक पात्र होते हैं, उसी प्रकार नायिका के भी सहायक दूतियाँ हुआ करती हैं। दासी, सखी, चेटी आदि प्रधान हैं, जो नायिका की कठिनाइयों को दूर करने में सहयोग प्रदान करती हैं।

रूपक के भेद

यद्यपि यहाँ नाटक शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से सभी नाटकीय रचनाओं के लिए किया गया है, पर संस्कृत में इनके लिए नाट्य या रूपक शब्द का ही प्रधानतया प्रयोग होता है। संस्कृत में रूपकों के दस भेद माने गये हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अंक और ईहामृग। इन दस मुख्य भेदों के साथ ही नाटिका की गिनती होती है। आगे चलकर उपरूपक के १८ भेद माने गए, जिनका उल्लेख नाट्यशास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता।

वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से ही नाटकीय भेद बने हैं। इसी के साथ इन भेदों में अंक-संख्या का भी उपकल्पन होता है। नाटक, डिम, व्यायोग, समवकार और अंक—नाट्य के इन प्रकारों में प्रख्यात वृत्त का उपयोग होता है। प्रकरण, नाटिका, भाण, प्रहसन, और वीथी—इन भेदों में कल्पित वृत्त होता है। ईहामृग नाम के भेद में मिश्रवृत्त पाया जाता है।

नाटक और प्रकरण में सभी सन्धियाँ होती हैं। इनमें शृङ्गार या वीर रस मुख्य होता है। नाटक का नायक राजा तथा प्रकरण का नायक—अमात्य, विप्र, वणिक् आदि में से कोई भी हो सकता है। नाटक में पाँच से दस तक अंक होते हैं। प्रकरण में १० अंक होते हैं। डिम में चार अंक होते हैं—इसमें नायक देव, दानव, गन्धर्वादि होते हैं। इसमें हास्य और शृङ्गार को छोड़ कर शेष रस पाये जाते हैं। समवकार में तीन अंक होते हैं। देव या दानव इसका नायक होता है और वीर रस मुख्य होता है। ईहामृग में भी चार अंक होते हैं। इसमें नायक और प्रतिनायक के रूप में मनुष्य तथा देवता का नियोजन किया जाता है।

---

१. एकविद्यो विटश्चान्यो हास्यकृच्च विदूषकः।

व्यायोग, अंक, भाण, प्रहसन और वीथी एकांकी हैं। अंक में करुण रस प्रधान होता है तथा इसके नायक सामान्य मनुष्य होते हैं। प्रहसन में हास्य की और व्यायोग में वीर रस की मुख्यता होती है। भाण और वीथी में शृङ्गार ही होता है। भाण की एक अपनी विशेषता है कि इसमें एक ही पात्र का अभिनय होता है, जो आकाश भाषित की सहायता से नाटकीय घटना को प्रकाश में लाता है।

उपरूपक

साहित्य दर्पण के अनुसार उपरूपकों की संख्या १८ है। नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्यक, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीशक और भणिका।

उपरूपकों में प्रधान नाटिका है। नाटिका में नाटक तथा प्रकरण का सम्मिश्रण रहता है। इसमें कल्पित वस्तु, धीरललित नायक, शृङ्गार रस, कैशिकी वृत्ति और अंक चार होते हैं। केवल प्राकृत भाषा में होने पर नाटिका 'सट्टक' कहलाती है। 'रत्नावली' और 'कर्पूरमंजरी' क्रमशः उदाहरण हैं।

नाटकों की विशेषतायें

संस्कृत नाटकों का आयोजन धार्मिक रहा है। परम्परागत आख्यान के अनुसार ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवताओं ने और भरत मुनि तथा उनके शिष्यों ने नाट्य शास्त्र और नाटकीय वस्तु को चारों वेदों का सारतत्व ग्रहण करके निर्मित किया है। नाटक का प्रारम्भ धार्मिक विधियों से जर्जर-पूजा, पूर्वरंग तथा नान्दी के मंगल-पाठ से होता है। रंग-मण्डप की रचना और प्रयोग के विधानों को भी धार्मिक स्वरूप प्रदान किया है। धर्म के उपर्युक्त तत्त्वों का सामञ्जस्य नाट्य के उन सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ हुआ है, जिनके द्वारा इस कोटि का काव्य समाज की चारित्रिक प्रवृत्तियों को अभ्युदयोन्मुख कर दे।

विदूषक

नाटकों में विदूषक विशेष पात्र है। वह नायक का मित्र होता है और साथ ही परिहास का संचालक है। उसके स्वाभाविक कथन और वेश-भूषा से ही हास्य रस की सृष्टि होती है। वह नाटकों का बहुत ही उपादेय और सरस पात्र है, जिसके फलस्वरूप स्वाभाविक मनोरंजन होता रहता है।

पात्रोचित भाषा

नाटकों के लिए नियत है कि किस कोटि का पात्र कौन सी भाषा का प्रयोग करेगा। संस्कृत नाटकों में संस्कृत के साथ प्राकृत भाषाओं का यथा स्थान सम्मिश्रण

हैं। लोक को ही ध्यान में रखकर संस्कृत नाटकों में प्राकृत का मिश्रण हुआ। नायक तथा उच्चकुल के और सुसंस्कृत पुरुषों की भाषा संस्कृत होती है। संन्यासिनी, महादेवी, मन्त्री की लड़की तथा वेश्याओं की भाषा संस्कृत होती है। स्त्रियाँ प्रायः प्राकृत भाषा बोलती हैं। अधम पात्र शौरसेनी का प्रयोग करते हैं। पिशाच और अत्यन्त नीच पात्र पैशाची या मागधी बोलते हैं। भाषा में परिवर्तन भी किया जाता है। नीच पात्र अपने देश की भाषा बोलते हैं।[1] भाषा का इस प्रकार का विधान संस्कृत नाटकों के लिए अद्वितीय ही है।

रस

संस्कृत के नाटक रस-प्रधान होते हैं। रस-विशेष का संचार कराने के लिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का वर्णन किया जाता है। रस ही नाट्यकथा का प्रधान लक्ष्य माना गया है। नाटकों में प्रायः शृङ्गार रस प्रधान है। संस्कृत नाटकों में शृङ्गार तत्त्व का बाहुल्य है।

दीर्घता

संस्कृत के अनेक नाटक इतने विशाल हैं कि उनको रंगमंच पर तीन घण्टे के भीतर कथमपि प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है।

आहार्य विकल्प

रंगमंच पर यदि ऐसी वस्तुओं या दृश्यों का बोध कराना हो जो अपनी विशालता या भयंकरता के कारण रंगमंच पर नहीं लाए जा सकते तो उनको मुद्रात्मक संकेत-विधि से श्रोताओं को बोधगम्य कराया जाता है। भरत ने ऐसी सांकेतिक विधियों का सोपन्यास परिचय दिया है।

समुज्ज्वल पक्ष

संस्कृत के रूपकों में मूर्धन्य स्थानीय नाटकादि कृतियों में नायक और नायिका अभिजात कोटि के रखे गये हैं और उनके चरित का समुज्ज्वल पक्ष प्रदर्शित किया गया है। यदि उनके चरित में कवि को कुछ भी सांस्कृतिक दृष्टि से असामंजस्य पूर्ण दिखलाई देता है, तो उसे छोड़ देने अथवा उसमें किंचित् परिवर्तन करने का सर्वाधिकार नाटककार को प्राप्त रहा है। संस्कृत नाटकों में पात्र दिव्य, अर्धदिव्य और लौकिक कोटि के रहते हैं। समुदाय गत चरित्रों की अवतारणा की ओर कवियों का ध्यान विशेषरूप से गया है।

---

1. यद्देशं नीचपात्रम् तद्देशं तस्य भाषितम्। द. रू. २।६६.

विभाजन

संस्कृत नाटकों में पाँच सन्धि और उनके सन्ध्यंग, पाँच अर्थप्रकृतियाँ और पाँच अवस्थाओं का विधान एक विशिष्ट आयोजन है, जिनका अन्य भाषाओं के नाटकों में होना अनिवार्य नहीं है।

संगीत-नृत्यायोजन

संस्कृत नाटकों में यथास्थान कहीं-कहीं नृत्य और गीत का प्रदर्शन पाया जाता है और साथ ही अभिनय में मण्डल, कलपन, गतिप्रचार, काकु स्वर विधान, आतोद्य जाति-विधान, ताल-विधान आदि शास्त्रीय विधियाँ आयोजित होती हैं।

प्रस्तावना-वैशिष्ट्य

प्रत्येक संस्कृत नाटक का प्रारम्भ प्रस्तावना से होता है। प्रस्तावना में सूत्रधार आदि के माध्यम से नाटककार मूल कथा की ओर इंगित कर देता है, जिसके कारण दर्शकों के मानस-पटल में आगे आने वाली कथा की रूपरेखा बन जाती है। अङ्क के अन्त में सभी पात्र चले जाते हैं। भूत और भविष्य की घटनाओं के लिए विष्कम्भक और प्रवेशक आदि अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग किया जाता है, जो नितान्त मौलिक है।

अभिनय-विकल्प

संस्कृत नाटक के आदर्शपरक होने के कारण रंगमंच पर बहुत-सी बातें नहीं दिखाई जाती हैं, परन्तु उनकी सूचना 'संसूच्य वृत्तों' के माध्यम से दी जाती है। जैसे दूर से बोलना, वध, संग्राम, राजविप्लव, देश-विप्लव, विवाह, भोजन, मृत्यु, रमण, शयन, अधर चुम्बन, स्नान, चन्दन आदि का लेप आदि बातों की केवल सूचना दी जाती है, उनका रंगमंच पर अभिनय नहीं किया जाता।

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति

रूपक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। भारतीय मत के अनुसार नाटक की उत्पत्ति दैवी है। 'नाट्यवेद' की सृष्टि ब्रह्मा ने इन्द्र आदि देवताओं की प्रार्थना पर की थी। यह सार्ववर्णिक और दृश्य तथा श्रव्य भी था। इसके प्रयोग के लिए भरत को चुना गया और देवताओं के सफल प्रयास से इन्द्र-ध्वज महोत्सव के समय नाटक खेला गया। ब्रह्मा ने नाट्यवेद की सृष्टि ऋग्वेद से पाठ्य लेकर, सामवेद

से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस के तत्वों को लेकर किया। आधुनिक आलोचकों ने अनुसन्धान के सहारे नाटक की उत्पत्ति के विषय में निम्नाङ्कित विचारधारायें उपस्थित की हैं :—

मैक्डानल का मत है कि नाटक की उत्पत्ति ऋग्वेद के संवाद सूक्तों से हुई है। वहीं इसके बीज निहित हैं। ऋग्वेद में इस प्रकार के कई संवाद सूक्त यम-यमी, उर्वशी और पुरूरवा, सरमा और पणि आदि से सम्बद्ध मिलते हैं। कालान्तर से इन्हीं बीजों के अंकुरित होने से नाट्य का विकास हुआ।

मैक्समूलर और सिलवां लेवी के मतानुसार वैदिक कर्मकाण्ड में नाटक के बीज निहित हैं। उनके मत से यज्ञ के अवसर पर सूक्तों का अभिनय गायन और नर्तन के साथ होता था। धार्मिक संवादों में वार्तालाप, भाषण और व्यंग्योक्ति मिलते हैं, जो नाटकीय संवाद के गुण हैं। डा० कीथ ने इस मत का विरोध किया और कहा कि ऋग्वेद के संवाद सूक्त गाये नहीं जाते थे, अपितु उनका शंसन होता था। गान के लिए तो सामवेद की रचना हुई।

डा० पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से मानते हैं। 'सूत्रधार' और 'स्थापक' दोनों का सम्बन्ध पुत्तलिका से हैं। सूत्र को धारण करने वाले को सूत्रधार कहते हैं। इसी प्रकार स्थापक का अर्थ है किसी वस्तु को लाकर रखने वाला। इन्हीं दोनों शब्दों के आधार पर डा० पिशेल ने उपर्युक्त मत की स्थापना की। डा० पिशेल का यह मत इसलिए समीचीन नहीं कि पहले मानव ने नाट्य करना सीखा होगा, तब पुत्तलिका नाट्य का प्रवर्तन किया होगा।

डा० पिशेल ने एक दूसरे मत का प्रतिपादन इस प्रकार किया कि नाटक की उत्पत्ति छाया नाटकों से हुई। इसके समर्थक डा० कोनो और ल्युडर्स थे। भारत में छायानाटक का सर्वथा अभाव रहा है।

डा० रिजवे ने नाटक की उत्पत्ति के मूल में वीर-पूजा की भावना माना है। वीरों के प्रति सम्मान प्रदर्शन एवं उनके चरित्र के संस्मरण की भावना ने ही नाटकों को जन्म दिया। उन्होंने रामलीला, कृष्णलीला आदि का उल्लेख भी किया है, परन्तु संस्कृत नाटकों में वीरता की अपेक्षा प्रेम का प्रदर्शन अधिक है। इस प्रकार यह मत प्रभावहीन है।

डा० कीथ के अनुसार प्राकृतिक परिवर्तनों शीत, ग्रीष्म, वर्षा आदि को मूर्तरूप से दिखाने की अभिलाषा से ही भारतीय नाटकों का प्रारम्भ हुआ है।

'कंसवध' को वे प्रतीकात्मक मानकर कंस-रूप हेमन्त पर कृष्ण रूपी वसन्त की विजय का निदर्शन करते हैं। यह मत भी सारहीन और असमीचीन है।

कुछ आलोचकों के अनुसार संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति यूनानी नाटकों की 'मे पोल नृत्य' के समान इन्द्र-ध्वजोत्सव से हुई है। यह लोक नृत्य का एक प्रतीक है, जो मई मास में खेला जाता है। इसी के समान इन्द्रध्वज उत्सव से नाटक की उत्पत्ति बतलाई गई। यह मत भी मान्य नहीं हुआ।

डा० वेबर ने भारतीय नाटकों की उत्पत्ति यूनानी नाटकों से मानी है। तदनुसार यूनानी प्रभाव बताने वाले शब्द यवनिका, यवनी आदि हैं, परन्तु डा० पिशेल ने इस मत की कटु आलोचना की है। यवनिका का प्रयोग पर्दे के लिए होता है, वास्तव में शब्द जवनिका है। कोनों ने भी यद्यपि इस मत का स्पष्टीकरण किया है तथापि यह धारणा सर्वथा निर्मूल और भ्रान्त है।

उपर्युक्त अनेक वाद-विवादों के अतिरिक्त भी नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद हैं। वास्तव में नाटक मूलतः भारतीय वस्तु है और उसकी उत्पत्ति वेद से हुई है। भरत का मत समीचीन और उपादेय है, जो नाटक की ऐतिहासिकता प्रमाणित करता है। भरत के अनुसार नाट्योत्पत्ति के बीज वेदों में हैं, जिनका विकास आगे चलकर होता रहा।

वैदिक अभिनय

वैदिक साहित्य में विष्णु के यज्ञ रूप में वामन का अभिनय करने का उल्लेख मिलता है। एक बार जब देवासुर-संग्राम में देवता हार गए थे और असुरों ने पृथ्वी को अपने में ही बाँटना प्रारम्भ किया तो देवताओं ने विष्णु को वामन रूप में यज्ञ माना और इसी वामन को आगे करके असुरों के समीप पृथ्वी का कुछ भाग अपने लिये माँगने पहुँचे। असुरों ने कहा—"जितनी भूमि में यह वामन विष्णु सो जाय, बस उतना आप लोग ले लीजिए।" सोये हुए विष्णु की वेदिका-रूप में प्रतिष्ठा हुई। देवताओं ने वामन के यज्ञ-रूप को विस्तार देना प्रारम्भ किया और उन्होंने सारी पृथ्वी ही ले ली। इस कार्य को सम्पादित करते हुए विष्णु श्रान्त हो गये और वृक्षों की जड़ में छिप गये। फिर देवताओं ने जड़ काट कर उन्हें ढूंढ़ निकाला। परवर्ती युग में भी यज्ञ की वेदिका बनाते समय विष्णु के उपर्युक्त कार्यकलाप का अंशतः अभिनय होता रहा है।

उपर्युक्त प्रकरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक काल में अभिनय का नाटकीय स्वरूप प्रतिष्ठित था और यज्ञ में पूर्ववृत्तों के अनुकार में ही नाटक का प्रारम्भ माना जाना चाहिए। कहा भी है—अवस्थानुकृतिः नाट्यम्।

कथा और आख्यायिका

संस्कृत गद्य साहित्य के प्रधान रूप से दो विभाग किये गये हैं—'कथा' और 'आख्यायिका'। कथा का वृत्त कल्पना-प्रसूत होता है और आख्यायिका में कथावस्तु ऐतिहासिक होती है।[1]

आचार्य दण्डी के अनुसार कथा और आख्यायिका में निम्नलिखित भेद होते हैं:—

कथा कवि कल्पित होती है और आख्यायिका ऐतिहासिक इतिवृत्त पर अवलम्बित रहती है अर्थात् कथा ऐसे प्राचीन आख्यान को कहते हैं, जिसमें कवि को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने एवं कल्पना का विस्तार करने का विशेष अवसर प्राप्त रहता है, परन्तु आख्यायिका इसके विपरीत वह गद्य काव्य है, जिसका कोई-न-कोई ऐतिहासिक आधार अवश्य रहता है। कादम्बरी दन्त कथा पर आधारित है। उसमें कल्पना का विकास है, अतः वह कथा है। इसके विपरीत 'हर्षचरित' में ऐतिहासिक आख्यान है। अतः 'हर्षचरित' आख्यायिका है।

वक्ता की दृष्टि से कथा और आख्यायिका का भेद उल्लेखनीय है। कहीं-कहीं कथा का नायक स्वयं अपनी कहानी सुनाता है किन्तु ऐसा होना अपवादात्मक है। वक्ता होना अनिवार्य नहीं है, परन्तु आख्यायिका में नायक का वक्ता होना अनिवार्य है। आख्यायिका आत्मकथात्मक होती है।

आख्यायिका का विभाग अध्यायों में किया जाता है, जिन्हें उच्छ्वास कहते हैं और कहीं-कहीं इनमें पद्यों का भी समावेश रहता है, किन्तु कथा में ऐसा विभाजन नहीं होता।

कथा में कन्या-हरण, युद्ध, वियोग, संयोग, विलाप, सूर्योदय, चन्द्रोदय, उषा, निशा आदि विषयों का सांगोपांग वर्णन रहना अपेक्षित है, पर आख्यायिका में नहीं। कथा में प्रकृति वर्णन नितान्त अपेक्षित है, परन्तु आख्यायिका में इसकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती है।

'कथा' में लेखक अपने अभिप्राय के स्पष्टीकरण में कुछ ऐसे विशेष शब्दों का प्रयोग करता है, जो आख्यायिका में नहीं आते।[2]

---

१. आख्यायिकोपलब्धार्था प्रबन्ध-कल्पना कथा। अमरकोष।

२. काव्यादर्श १·२३–३०

आचार्य दण्डी का कथन है कि इन दोनों में कोई महत्वपूर्ण भेद नहीं है। केवल इतना ही जान लेना आवश्यक है कि दोनों गद्यकाव्य के दो अलग-अलग नाम मात्र हैं। सूक्ष्म अन्तर केवल यही है कि थोड़े सत्य के आधार पर प्रबन्ध-कल्पना वाली रचना कथा है और जिसमें ऐतिहासिक तथ्य और कल्पना दोनों परस्पर एक दूसरे के आश्रित हों और दोनों का समान महत्व हो, वह आख्यायिका कहलाती है। आरम्भिक युग में कथा और आख्यायिका के रूपों में भले ही कुछ अन्तर रहा हो, जैसा आचार्य दण्डी और हेमचन्द्र ने गिनाया है, पर परवर्ती युग में वह अन्तर मिट-सा गया और दोनों एक हो गये।

चम्पू काव्य

गद्य-पद्यमय काव्य का नाम चम्पू है।[१] चम्पू में कथा का उपनिबन्धन आवश्यक नहीं है। यद्यपि साधारणतः चम्पुओं में कथात्मक वस्तु-विन्यास मिलता है। चम्पू में किस प्रकार के विषय के लिए गद्य और किस प्रकार के विषय के लिए पद्य प्रयुक्त हो—यह कवि की अपनी परख पर निर्भर है। कभी-कभी पद्य का प्रयोग प्रामाणिकता प्रदर्शित करने के लिए अथवा समर्थन के लिए या उपदेश देने के लिए होता है। महत्वपूर्ण बातें भी पद्य के माध्यम से कही जाती हैं। यद्यपि कादम्बरी आदि गद्यकाव्यों में भी यत्र-तत्र पद्य पाए जाते हैं, किन्तु वे प्रधानतया गद्य में ही हैं। चम्पू-काव्यों में गद्य और पद्य का समान रूप से व्यवहार होता है। नीति कथाओं के समान भी चम्पू-काव्य में पद्य किसी विशेष-प्रयोजन से प्रयुक्त नहीं होते। वे तो चम्पू के कथानक के उसी प्रकार अंगभूत होते हैं, जैसे उसके गद्यभाग। चम्पू में गद्य और पद्य का परस्पर सम्बन्ध वही है, जो संगीत में गीत और वाद्य का।[२] संस्कृत साहित्य में अनेक चम्पू-काव्यों का प्रणयन हुआ है। जैसे नलचम्पू (त्रिविक्रमकृत), यशस्तिलकचम्पू (सोमदेवकृत), रामायणचम्पू (भोजराजकृत)।

---

१. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। सा० द० ६.३३६

२. गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्तिः ।
हृद्यापि वाद्यकलया कलितेव गीतिः ।। रामायणचम्पू

द्वितीय अध्याय

वैदिक कवि और काव्य

ऋग्वेद

प्रत्येक समाज में साधारणतः विभिन्न रुचियों के जन-समुदाय होते हैं। ऐसे प्रत्येक जन-समुदाय का काव्य-विषयक संग्रह अलग-अलग होता है। ऐसे ही प्राचीन संग्रहों में से प्राथमिक संग्रह ऋग्वेद आदि हैं। इन संग्रहों को देवतात्मक कहा जा सकता है। इनमें साधारणतः देवताओं के सम्बन्ध में कवियों के उद्गार संगृहीत हैं और केवल अपवाद-स्वरूप ही कुछ अन्य देवेतर विषयों से सम्बद्ध रचनाएं हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि देवतात्मक रचनाओं में भी प्रासंगिक रूप से लौकिक विषयों पर अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य विषयक श्लोक भरे पड़े हैं। इन्हीं रचनाओं के आधार पर वैदिक कालीन काव्य की रूप-रेखा का ज्ञान प्राप्त किया जाता है।

विण्टरनित्ज़ ने ऋग्वेद की आलोचना करते हुए वैदिक काव्य की अति विस्तृत परिधि के विषय में कहा है—"यदि हम ऋग्वेद-संहिता के विविधतापूर्ण वर्ण्य विषयों पर दृष्टि डालें तो हमें निश्चित प्रतीत होगा कि इस संग्रह में भारत के अतीव प्राचीन काव्य के अंश हैं। उस प्राचीन युग में धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के विषयों से सम्बद्ध एक अतिशय व्यापक और विशाल काव्य-साहित्य की रचना हुई थी, जिसका केवल एक आंशिक रूप ऋग्वेद के गीत, स्तुति और कविताओं में मिलता है। उस विशाल वैदिक साहित्य का अधिकांश भाग सम्भवतः सदा के लिए विनष्ट हो गया। इन संहिताओं के संग्रहकर्त्ताओं ने काव्य और धर्म की दृष्टि से सूक्तों का चयन किया। इस चयन में सांसारिक विषयों से सम्बद्ध रचनाओं को भी स्थान दिया गया है, पर तत्कालीन काव्य में ऐसी भी रचनाएं थीं, जिनको अधार्मिक मानकर ऋग्वेद में स्थान देना उन्हें उचित प्रतीत न हुआ। इसी निराकृत भाग से कुछ अंश परवर्ती युग में अथर्ववेद संहिता में संगृहीत कर लिया गया।"[१]

ऋग्वेद संहिता आकार-प्रकार में वाल्मीकि की रामायण से लगभग आधी है। इसका विभाजन दस मण्डलों में हुआ है। मण्डल प्रायः अध्याय के समकक्ष पड़ते हैं। इनमें प्रत्येक देवता के सम्बन्ध में अलग-अलग श्लोक-समूह अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

---

१. Indian literature, Vol. I, P. 118-119

इन्हीं समूहों को सूक्त कहते हैं। ऋग्वेद में १०२८ सूक्त हैं। सामान्यतः एक सूक्त में १० मन्त्र या श्लोक हैं। ऋग्वेद में सब मिलाकर १०,६०० मन्त्र हैं।

वैदिक भाषा

वेदों की रचना जिस भाषा में की गई है, उसे वैदिक संस्कृत कहा जा सकता है। वेदों के संग्रह करने के युग में इस भाषा का सर्वाङ्गीण विकास हो चुका था। यह भाषा उस समय तक काव्य की भाषा बनने के सर्वथा योग्य और समर्थ बन चुकी थी। वैदिक भाषा का शब्दकोश अतिशय विशाल है। इसके शब्दों में स्वरूपतः और गुणतः अर्थ की अभिव्यक्ति करने की शक्ति अद्वितीय ही कही जा सकती है। व्याकरण के नियमों से मंजी हुई यह भाषा वास्तव में सुसंस्कृत है।[1] भारत के सनातन पण्डितों ने तो इसकी उत्कृष्टता पर मुग्ध होकर कहा है कि यह ईश्वर की भाषा है और वेद ईश्वर की रचना है।

वैदिक साहित्य को कण्ठस्थ करने की रीति से भाषा का प्रायः स्थिर स्वरूप अनेक शतियों तक प्रतिष्ठित रहा। कण्ठस्थ करने की विधि से प्राचीन भाषा के शब्द और भावों का सदैव अभिनव साहित्य में संयोजन होता रहा।

युग-विशेष

ऋग्वेद का समय भारतीय इतिहास में सांस्कृतिक संगम के अवतार का युग माना जा सकता है। उस समय आर्य और आर्येतर संस्कृतियों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उनके मिलन की इस प्रक्रिया का परिचय तत्कालीन युद्धों के वर्णनों में मिलता है, परन्तु युद्धात्मक वातावरण चिरकालीन नहीं रहता।[2] युद्धों के पश्चात् आर्य और आर्येतर वर्गों को परस्पर समझने का अवसर मिला और युद्ध के पश्चात् चिरकालीन शान्ति और सुव्यवस्था की प्रतिष्ठा हुई।

---

१. Sanskrit language is of a wonderful structure, more perfect than Greek, more copious than Latin, and more exquisitely refined than either.--William Jones: Asiatic Researches, Vol. I, P. 422.

२. भारत में सबसे बड़ा युद्ध महाभारत का हुआ। वह भी केवल १८ दिन चला। इस १८ दिन के कार्यकलाप के माध्यम से भारत का सबसे बड़ा ग्रन्थ महाभारत प्रणीत हुआ है। साहित्य में युद्धों के वर्णन को अतिशय लोकप्रिय प्रकरण माना गया है। वैदिक साहित्य में युद्ध के उल्लेखों की प्रचुरता का कारण यही प्रवृत्ति रही है।

काव्य-परिधि की निःसीमता

अपनी भाषा के माध्यम से जिस जन-जीवन और प्राकृतिक विभूति का वर्णन कवि के लिए अभीष्ट होता है, उसकी परिधि वैदिक काल में अतीव व्यापक थी। कवियों के मानस-पटल पर सुदूर प्राचीन काल के राजाओं, ऋषियों और महापुरुषों की चरित-गाथा का वैविध्यपूर्ण इतिहास अंकित था। इनके अतिरिक्त देवताओं के विविधतापूर्ण व्यक्तित्व के माध्यम से उनके सम्बन्ध का कल्पना-प्रसूत अथवा ऐतिहासिक चारु-चरितावली का आख्यान समाज की अनुपम सांस्कृतिक निधि के रूप में आर्य-वर्ग में सुप्रतिष्ठित था। वैदिक काल में आरम्भ से ही इन विषयों पर कवियों की रसात्मक वाक्यावली गुम्फित हुई थी।[१]

वैदिक साहित्य में जहाँ तक प्राकृतिक सौन्दर्य को काव्य की परिधि में प्रतिष्ठित करने का सम्बन्ध है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इस देश के पद-पद पर और वर्ष के प्रायः प्रत्येक दिन प्रकृति की एक अभिनव छटा होती है, जो कवि-हृदय को अनायास ही उल्लसित करके उसके माध्यम से काव्य-धारा की निर्झरिणी प्रवाहित करती रही है। वैदिक आर्यों की आधिभौतिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के प्रायः समकक्ष ही उनकी रसात्मक प्रवृत्ति थी। उस रसात्मक प्रवृत्ति का परिचय उनके प्रकृति के प्रति प्रेम, सहानुभूति और समादर की भावनाओं में मिलता है।

कवि का व्यक्तित्व

वैदिक कालीन कवि का 'कोरा कवि' होना आवश्यक नहीं था। उस युग में अनेक कवि राजा थे और युद्धभूमि में प्राप्त अपने अनुभवों को काव्य-रूप में अमरता प्रदान करते थे।[२] वह कवि अवश्य ही विजेता राजा होगा, जिसने कहा है—'हे इन्द्र! मुझे शत्रुओं का संहारक बना दो, विराज् बना दो। मैं विजयी बनकर आया हूँ।' उसने अपने शत्रुओं को सम्बोधित करके कहा है—'मैं तुम्हारे सिर को कुचलता हूँ। तुम मेरे पैरों के नीचे मेढक की भाँति वैसे ही बोलो, जैसे वह पानी के नीचे से बोलता है।[३]

---

१. अथर्ववेद १५. ६. ११-१२ में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी कोटि की रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं। यह साहित्य वेदों से भिन्न था। सम्भवतः वह अधिकांश में काव्यात्मक साहित्य था, जो अब प्रायः अप्राप्य है।

२. ऋग्वेद ४.४२.१-१० के रचयिता राजा त्रसदस्यु हैं। उन्होंने प्रथम छः श्लोकों में अपनी कहानी लिखी है।

३. ऋग्वेद १०.१६६। इसके रचयिता राजा ऋषभ हैं।

कुछ कवि उच्च कोटि के सैनिक थे। वे सम्भवतः युद्ध भूमि में राजाओं के साथ लड़ते भी थे और अपनी वीर-रस की रचनाओं से राजाओं को प्रोत्साहित करते थे। पायु नामक कवि ने अपनी वीरता के सम्बन्ध में कहा है—'धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम' अर्थात् धनुष से हम सभी दिशाओं को जीत लें।[१] उसने अपने सम्बन्ध में कामना की है—सीधे उड़ने वाले बाण, हमें बचाओ, हमारे शरीर वज्र बन जायें, सोम हमको उत्साहित करे और अदिति सफलता प्रदान करे।[२] उस कवि ने अपने चरित नायक के विषय में कहा है :—

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु॥

(मैं तुम्हारे मर्म को वर्म से आच्छादित करता हूँ। राजा सोम तुम्हें अमरता प्रदान करें। वरुण तुम्हारे हृदय को वरण करे। तुम्हारे विजयी होने पर देवता प्रमुदित हों।)

कुछ वैदिक कवि कृषि और पशु-पालन भी करते थे। कृषि करने वाले एक कवि ने कामना प्रकट की है—हे सौभाग्यवती सीते, तुम हमारा कल्याण करो। हम तुम्हारी वन्दना करते हैं। तुम हमारे लिए सुफल बनो। कविवर शुनःशेप ने कामना प्रकट की है कि हमारी गायें दूध वाली और पर्याप्त शक्ति-सम्पन्न हों। हम लोग उनके बीच प्रसन्नता से रहें।

उपर्युक्त विवेचन का यह अभिप्राय नहीं है कि वैदिक काल में जो चाहता था, वही कवि बन जाता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार कवियों को असाधारण या अलौकिक प्रेरणा के बल पर ही अपने वर्ण्य विषय के काव्यमय स्वरूप का आभास मिलता है। कवि की प्रतिभा या कला, जिसे ब्रह्म कहा जाता था, देवत्व मानी जाती थी। वैदिक कालीन कवि का नाम ऋषि था। ऋषि नाम की अपनी निजी शुद्धता झलकती है। इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि ऋषि वैदिक समाज में सुप्रतिष्ठित था। कवि के अन्य सुप्रचलित नाम, कीरत्त कीस्त और कारु मिलते हैं। वैदिक काव्य में पदे-पदे तत्कालीन कवियों के उदार व्यक्तित्व का परिचय मिलता है।

ऋग्वेद के सभी सूक्तों के साथ उनके ऋषियों के नाम मिलते हैं। इन ऋषियों में से गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ क्रमशः दूसरे से सातवें मण्डल से सम्बद्ध हैं। आठवां मण्डल कण्व और अंगिरा से सम्बद्ध है। पहले,

---

१. ऋग्वेद ६.७५.२।
२. वही ६.७५.१२ समान भाव के लिए देखिए ऋग्वेद ६.४६.८।

नवें और दसवें मण्डल के प्रत्येक सूक्त के ऋषि प्रायः भिन्न-भिन्न हैं। इन ऋषियों में कुछ स्त्रियाँ और कुछ आर्येतर वर्ण के विद्वान् भी हैं।[१] इन्हीं ऋषियों के कुलों में वंशपरम्परा से उन सूक्तों को, कण्ठाग्र करने के माध्यम से, अमर प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। प्रश्न होता है कि इन सूक्तों के रचयिता कौन हैं? सम्भवतः उपर्युक्त ऋषियों में से कुछ विद्वान् सूक्तों के रचयिता भी हों, पर अधिकांश सूक्तों के रचयिता कवियों के नाम आदि का परिचय पा लेना प्रायः असम्भव है।

काव्यादर्श

ऋग्वेद में प्रायः तत्कालीन प्रतिष्ठित देवताओं की प्रशंसात्मक स्तुतियाँ मिलती हैं। काव्य की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण वे देवता हैं, जिनका व्यक्तित्व प्रकृति की विभूतियों के प्रायः सन्निकट ही है। इस प्रसंग में उषा, अग्नि, सूर्य, रात्रि, पर्जन्य, मरुत, वात, सरस्वती, पृथ्वी आदि का प्राकृतिक मनोरम रूप विशेष उल्लेखनीय है। इनके वर्णन किसी भी युग के सर्वोत्तम गीत के भावों से ओत-प्रोत हैं। वैदिक कवियों ने उषा को नवयुवती रमणी के रूप में देखा है, जिसके वस्त्र-विन्यास और आंगिक सौष्ठव अतिशय अभिराम हैं। कवि के शब्दों में "यह सुपरिचित उषा, पूर्व की नित्य ज्योति है, जो अन्धकार-पाश से आविर्भूत हुई है। सुदूर से चमकती हुई देवलोक की यह कन्या मानवों के लिये पथ का विन्यास करे। पूर्व में उषाएँ यज्ञ-स्तम्भों की भाँति प्रतिष्ठित हैं। पावन और प्रकाशमय उषाओं ने अन्धकार के द्वार को खोल दिया है। हे उषाओ, तुम द्विपदों और चतुष्पदों को संचरणशील बनाओ। ये उषाएँ आज भी पूर्ववत् अपने पुराने रंगों में ही चल रही हैं। वे अपने प्रकाशपूर्ण रूपों से अन्धकार के काल को दूर करती हैं। यज्ञ की ध्वजाओं वाला मैं तुम से प्रार्थना करता हूँ कि तुम प्रभान्वित रहो, हम मानव-समाज में यशस्वी रहें। द्यावा-पृथ्वी इसी का आयोजन करें।"[२]

रात्रि उषा की बहन है। उसके शुभ्र स्वरूप का आकलन किया गया है। रात्रि की ज्योत्स्ना, चन्द्रिका और तारप्रभा वर्णनीय हैं। कवि के शब्दों में "रात्रि ने आते ही अनेक स्थानों को अपनी आँखों से देख लिया है। वह सभी प्रकार की सुश्रीकता से सम्पन्न है। वह अमर देवी विस्तृत प्रदेशों पर व्याप्त हो चुकी है, ऊँचे और नीचे स्थलों पर विराजमान है। अपनी ज्योति से उसने अन्धकार को दूर कर

---

१. श्रद्धा और शची स्त्री ऋषि हैं और ऊर्ध्वग्रीवा तथा अरिष्टनेमि आदि आर्येतर ऋषि हैं।

२. ऋग्वेद ४.५१. । ऋग्वेद ५.८०, तथा ७.७७ सूक्तों में भी उच्च कोटि का भागवती प्रस्तुत किया गया है।

दिया है। उसने अपनी बहन उषा का निराकरण कर दिया। रात्रि के आते ही हम लोग अपने घर वैसे ही आ गए हैं, जैसे पक्षी वृक्षों पर अपने घोसलों में। गाँव वाले भी अपने घरों में प्रवेश कर चुके हैं। पक्षी और चतुष्पद भी अपने घरों में जा चुके हैं। लालची बाज भी घरों में हैं।"[1]

"सूर्य सब कुछ देखता है। वह दूर तक देखता है। वह मानवों को कर्मण्य बनने के लिए जागरित करता है। उषा सूर्य का आविर्भाव करती है। वह उषाओं की गोद से चमकता है। उसका पिता द्यौः (देवलोक) है। सूर्य पक्षी है। वह आकाश में उड़ा करता है। वह आकाश का रत्न है। वह आकाश में प्रतिष्ठित विचित्र मणि है। वह सारे लोक के लिए चमकता है। मनुष्य और देवों के लिए उसकी प्रभा है। वह अन्धकार को चर्म-खण्ड की भाँति समेटकर जल में डाल देता है। वह दिनों की माप करता है और जीवन का संवर्धन करता है। वह रोग और बुरी कल्पनाओं को दूर करता है। सभी जीव उस पर अवलम्बित हैं। वह विश्वकर्मा अर्थात् सबका उत्पन्न करने वाला है।" कवि के शब्दों में "सुभग, विश्वचक्षा सूर्य उदित होता है। वह सर्वसाधारण मानुषों के लिए है। सूर्य का लहराने वाला झण्डा ऊपर उठा। गायक उसके वन्दना-गीत गाते हैं। उसकी गम्य परिधि अतिशय दूर है। सूर्य के द्वारा जगाये जाने पर लोग अपने अभीष्ट की प्राप्ति करेंगे और अपने कामों में जुट जायँगे। अपने पथ पर सूर्य श्येन की भाँति उड़ता है। हमारे मार्ग सुगम हों।"[2]

ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में देवताओं और मानवों के चरित-गाथा-सम्बन्धी संक्षिप्त आख्यान मिलते हैं। ऐसे आख्यानों में इन्द्र और वृत्र के संघर्ष का कथानक अतिशय लोकप्रिय रहा है। इस कथानक का एक रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—"मैं इन्द्र के पराक्रमों का वर्णन करता हूँ, जिन्हें वज्री (इन्द्र) ने सर्वप्रथम किया है। उन्होंने अहि को मारा, जल की धारा को प्रवाहित किया और पर्वत पर नदियों के लिए मार्ग खोल दिया। इन्द्र ने पर्वत पर रहने वाले अहि को मारा। त्वष्टा ने इन्द्र के लिए वज्र बनाया था। इसके पश्चात् रंभाती हुई गौओं की भाँति जल निम्नाभिमुख होकर समुद्र की ओर बह चला। इन्द्र ने अपने बल को प्रखर करने के लिए सोमपान किया और वज्र से अहि पर प्रहार किया। इन्द्र ने मायावियों की माया का विरोध किया। उसने सूर्य, उषा और आकाश को अनावृत किया। इसके पश्चात् इन्द्र का कोई शत्रु न रहा। इन्द्र ने वृत्र के अवयवों को वैसे ही काट दिया, जैसे वृक्षों की शाखाएं काटी जाती हैं। वृत्र भूतल पर गिर पड़ा। मद्यपान करके वृत्र वीर इन्द्र से लड़ने चला था।

---

१. ऋग्वेद १०.१२७

२. वही ७.६३

इन्द्र सोमपायी है। उसने अनेक शत्रुओं का दमन किया है। वृत्र इन्द्र के प्रहारों को कैसे सह सकता था ? वह बुरी तरह पराजित हुआ। वह हाथ और पैर कट जाने पर भी इन्द्र से लड़ता रहा। इन्द्र ने वज्र से उसकी पीठ पर प्रहार किया। बैल भला साँड की प्रतियोगिता में ठहर सकता है ? वृत्र के टुकड़े-टुकड़े हो गए। इस परिस्थिति में जल का प्रवाह लोक-तृप्ति के लिए वृत्र के ऊपर से बहा। वृत्र ने जल-धारा को बलात् रोक रखा था। उसी जल से वह रौंदा जा रहा था। वृत्र की शक्तिहीन माता पर भी इन्द्र ने प्रहार किया। माता ऊपर थी, वृत्र नीचे पड़ा था। वृत्र की माता वैसी ही पड़ी थी, मानो गाय अपने बछड़े के साथ हो। वृत्र का मृत शरीर उस जल-धारा में पड़ा था, जो रुकना नहीं जानता है, विश्राम नहीं करता है। दास के वश में पड़ा हुआ जल रुका था। उस अवस्था में अहि उसका रक्षक था, जैसे पणि गायों को रोक रखते हैं। इन्द्र ने वृत्र को मारकर जल का द्वार उन्मुक्त कर दिया। जब वृत्र ने इन्द्र के वज्र पर प्रहार किया तो इन्द्र घोड़े की पूँछ की भाँति ही उसका निवारण करने में समर्थ हुआ। पराक्रमी इन्द्र, तुमने गौओं को जीत लिया है, तुमने सात नदियों को अपने पथ पर बहने के लिए समर्थ बना दिया है। जिस अवसर पर इन्द्र और वृत्र का युद्ध हुआ था, उस समय वृत्र के द्वारा प्रयुक्त विद्युत् और गर्जन, कुहरा और वज्र व्यर्थ सिद्ध हुए। इन्द्र को सदा के लिए विजय मिली। हे इन्द्र, वृत्र को मारने के पश्चात् तुम्हें उसका कौन सहायक दिखाई पड़ा, जिसके भय से तुम ९९ योजन भाग चले थे और श्येन की भाँति आकाशलोक में उड़ गए थे ? इन्द्र चराचर का राजा है। वह शान्त या शृङ्गी पशुओं का स्वामी है। केवल वही राजा बनकर प्रजा का शासन करता है। वह सबके ऊपर वैसे ही व्याप्त है, जैसे नेमि अरों के ऊपर।"

ऋग्वेद का उपर्युक्त सूक्त परवर्ती-युगीन आख्यान और महाकाव्य का पूर्वरूप कहा जा सकता है। ऋग्वेद के कुछ संवाद-सूक्त परवर्ती-युगीन रूपक साहित्य के पूर्वरूप प्रतीत होते हैं। इन संवाद-सूक्तों में कथोपकथन की विशेषता है। इनमें से पुरूरवा और उर्वशी के संवाद में १८ श्लोक हैं। उनकी कथा का वर्णन संक्षिप्त रूप से मिलता है। परवर्ती युग में यह कथा कुछ अधिक विस्तार के साथ 'शतपथ-ब्राह्मण' में दी गई है। इसका नाटकीय रूप कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में मिलता है। ऋग्वेद में दूसरा महत्त्वपूर्ण संवाद यम और यमी का है। इसमें यमी का यम के प्रति प्रेमाख्यान है। यह आख्यान नाटकीय संवाद-तत्त्वों से भरपूर है।

ऋग्वेद में कहीं-कहीं विशुद्ध ग्रामीय प्रकृति-वर्णनों को संगृहीत कर लिया गया है। इनमें से मण्डूक (मेंढक) विषयक सूक्त विशेष उल्लेखनीय है। "पूरे वर्ष भर सोये हुए मेंढक व्रतचारी ब्राह्मणों की भाँति अब वर्षा से जगाये जाने पर बोल रहे

हैं। ताल में सूखे चर्म-कोश की भाँति पड़े हुये उनके ऊपर जब दिव्य जल गिरता है, तब मेंढकों का साथ-साथ बोलना वैसे ही आरम्भ होता है, जैसे बछड़ों के साथ गायें बोलती हों। जब उनके ऊपर जल बरस लेता है तो प्रसन्नतापूर्वक नाद करते हुए वे परस्पर मिलने के लिए उछलते हैं, जैसे पिता पुत्र से मिलता है। जल बरसने पर प्रसन्न होकर वे एक-दूसरे का अभिनन्दन करते हैं। वे कूदते हुए एक-दूसरे के साथ अपना स्वर मिलाते चलते हैं। उनमें से जब एक-दूसरे के स्वर में बोलता है, जैसे विद्यार्थी आचार्य की वाणी दुहराता है तब तो पूरे समूह का एक स्वर निकलने लगता है। उनमें से एक गाय की भाँति और दूसरा बकरी की भाँति बोलता है। एक चितकबरा है, दूसरा हरा है। एक नाम वाले होने पर भी उनके वर्ण भिन्न-भिन्न हैं। विविध प्रकार से बोलते हुए वे अपनी वाणी को अलंकृत करते हैं। हे मण्डूको, तुम वर्षा के प्रथम दिन का महोत्सव मना रहे हो।' इस गीत के देवता मण्डूक हैं। सम्भवतः देवता होने के नाते ही उनसे धन, गौ और दीर्घायु की याचना की गई है।

वैदिक ग्रामीय गीतों में से कम-से-कम एक सुन्दर गीत वर्तमान संहिता में संगृहीत है, जिसके भाव इस प्रकार हैं—"लोगों की बुद्धि और व्रत नाना प्रकार के हैं—बढ़ई रथ का टूटना चाहता है। वैद्य रोगी चाहता है। पुरोहित यजमान चाहता है। सोम, तुम चुओ,! पकी लकड़ियों से, पक्षियों के पंखों से और चमकते हुए पत्थरों से बाण बनाकर लोहार किसी धनी को ढूंढ़ता है। सोम, तुम चुओ। मैं कारु (कवि) हूं। मेरे पिता वैद्य हैं। मेरी माता चक्की चलाती हैं। नाना बुद्धि वाले लोग धन की खोज में गौ की भाँति चक्कर करते हैं। सोम, तुम इन्द्र के लिए चुओ। अश्व अच्छे रथ को खींचे, आतिथेय हास्य का प्रलोभन उत्पन्न करे।[१]" उपर्युक्त सूक्त सम्भवतः सोम बनाते समय का श्रम-गीत है।

देवताओं की स्तुतियों में स्थान-स्थान पर उच्चकोटि का काव्य मिलता है। देवताओं का व्यक्तित्व कल्पनात्मक भी था। उनके इस प्रकार के स्वरूप को काव्य-बन्ध में उपनिबद्ध करने में व्यंजना का पदे-पदे प्रयोग मिलता है। ऐसी व्यञ्जना परवर्ती युग में काव्य की उत्तमता का द्योतक बनी।

उपर्युक्त विवेचना से प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक युग के कवियों के वर्ण्य विषय की परिधि सुविस्तृत थी। यद्यपि ऋग्वेद में प्रायः देव-विषयक सूक्तों का ही संग्रह है, फिर भी तत्कालीन काव्य की वैविध्यपूर्ण प्रवृत्तियों का परिचय अपवाद-रूप में संगृहीत सूक्तों से मिलता है। देवविषयक सूक्तों में भी प्राकृतिक और सामाजिक परिस्थितियों से सम्बद्ध श्लोक भरे पड़े हैं।

---

१. ऋग्वेद ९.११२।

शैली

ऋग्वेद की काव्य-शैली सरल और प्रभावोत्पादक है। भाषा में कृत्रिमता का अभाव है। छोटे वाक्यों और प्रायः समास-रहित छोटे पदों वाले सूक्त साधारणतः सुबोध हैं। इस प्रकार ऋग्वेद की भाषा साधारणतः प्रसाद-गुण-सम्पन्न है। ऋग्वेद के सूक्तों में वर्ण्य विषयों के विशेषणों की प्रायः प्रचुरता है। विशेषणों की प्रचुरता का सम्बन्ध तत्कालीन विचारणा की शैली से रहा है, जिसमें किसी वस्तु का मानस-प्रत्यक्ष उसके यथासम्भव अधिकाधिक गुणों के साथ ही होता था। जुए के पासे का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

> अक्षास इदंकुशिनो नितोदिनो
> निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः
> कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो
> मध्वा सम्पृक्तः कितवस्य बर्हणा ॥१०.३४.७॥

इस श्लोक में अक्षों के विशेषण हैं अंकुशिनः (अंकुश वाले), नितोदिनः (भेदते हुए), निकृत्वानः (धोखा देते हुए), तपनाः (जलते हुए), तापयिष्णवः (जलाते हुए), कुमार-देष्णा (कुमारों की भाँति उपहार देते हुए), जयतः पुनर्हणः (विजयी लोगों को पुनः हराने वाले), मध्वा सम्पृक्ताः (मधु से चुपड़े हुए) आदि।

ऋग्वेद में शब्दालंकारों का विशेष प्रयोग नहीं दिखाई देता। अनुप्रास तो कहीं-कहीं मिलते भी हैं, पर यमक और श्लेष का प्रायः अभाव है। कुछ श्लोकों में किसी एक मनोरम पद की अनेकशः प्रतिष्ठा मिलती है। किन्हीं सूक्तों में पादांश की कई श्लोकों में आवृत्ति दिखाई पड़ती है। ऐसे पादांशों की कवि की दृष्टि में विशेष उपयोगिता होती थी। कुछ सूक्तों का अन्त 'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' वाक्य से होता है।

ऋग्वेद की शैली प्रायः संवादात्मक है, जिसमें कवि साधारणतः बातचीत करता हुआ प्रतीत होता है। गेय अथवा श्रव्य काव्य के लिए यह सर्वोत्तम शैली कही जा सकती है। कवि प्रायः देवताओं को सम्बोधित करते हुए प्रतीत होते हैं। कभी-कभी वे श्रोताओं से ही मानो बातचीत करते हैं। कुछ सूक्तों में ऋषियों का प्रतिनिधि-मंडल देवताओं से बातचीत करता हुआ दिखाई पड़ता है। एक सूक्त में तो कवि मानो अपने से ही बात कर रहा है।

ऋग्वेद का अर्थ समझने के लिए व्यंजना-वृत्ति का सहारा लेना प्रायः आवश्यक है। इस व्यंजना-प्रधान काव्य में विशेषणों की परम्परा का नियोजन अभिधा वृत्ति से स्पष्ट नहीं हो सकता। व्यंजना के माध्यम से कवि का उच्चतम काल्पनिक जगत् निर्मित हुआ है, जिसमें व्यावहारिक स्थितियों को कहीं-कहीं पूर्णरूपेण भुला दिया गया है। कवि जब अग्नि को 'पुरोहित, यज्ञ का देव, ऋत्विक्, होता, रत्नधा' आदि नामों से सम्बोधित करता है तो वह व्यावहारिक स्तर पर नहीं रह जाता। उस अग्नि का स्वरूप पूर्णतया काल्पनिक है, पर वह स्वरूप पूर्णरूपेण सत्य है। उस भावुक कवि की आँखों में साधारण अग्नि की सत्ता मिट गई है। इस प्रकार की व्यंजना वृत्ति से कवि के अग्नि-सम्बन्धी नीचे लिखे वर्णन की सार्थकता है—"अग्नि मनुष्यों का मित्र है। वह मनुष्यों और देवताओं के बीच दूत का काम करता है। अग्नि गृहस्थों का देवता है, उनकी स्त्री और पुत्रों की रक्षा करता है। वह प्रत्येक घर का प्रथम अतिथि है। घर की सारी उन्नति अग्नि के ही साथ में है। अग्नि कुमारियों का पति है। विवाह के अवसर पर वर कुमारी को अग्नि से ही पाता है। अग्नि देवताओं के पास हवि पहुँचाता है और उनको अग्नि के समीप लाता है। इसीलिए वह पुरोहित होता है। अग्नि की लपक उसका केश है। उसके दाँत सुनहरे और चमकीले हैं। अग्नि की लपक उसकी जीभ है। अग्नि की चार या सहस्र आँखें हैं। अग्नि की उपमा बैल से दी गई है। अग्नि की उठती हुई लपटें सींग हैं। अग्नि के सहस्र सींग हैं। वह क्रोधवश अपने सींग को हिलाता है या तीक्ष्ण करता है। अग्नि अपनी तीक्ष्ण दाढ़ों से वनों को चबाता है। वह वनों को कुचल डालता है। जब वायु अग्नि को उत्तेजित करता है, तो वह वन में फैल जाता है और पृथ्वी का केश कतर देता है। कवि अग्नि से प्रार्थना करता है कि मेरे ऊपर आपका आशीर्वाद उसी प्रकार रहे, जैसे पिता का पुत्र के ऊपर रहता है।"

ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर आलंकारिक भाषा का प्रयोग मिलता है। इसमें अर्थालंकारों का नियोजन वर्ण्य-चित्र को मानो प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करने के लिए हुआ है। एक सूक्त में पर्जन्य के विषय में कहा गया है—"वह अपने वर्षा के दूतों को वैसे ही आगे बढ़ाता है, जैसे रथ हाँकने वाला कोड़े से घोड़े को हाँकते हुए आगे चलता है।" उन वैदिक कवियों की भाषा में "सविता सुपर्ण (पक्षी) है, जो अन्तरिक्ष का पर्यवेक्षण करता है। वह हिरण्यपाणि है। इन्द्र सप्तरश्मि वृषभ है। अपां नपात् अश्व है।" ऋग्वेदिक कवियों को पर्जन्य के गर्जन में सिंह के स्तनन की प्रतीति होती थी।

ऋग्वेद में विरोधाभास के माध्यम से कहीं-कहीं काव्य के चमत्कार की प्रतीति होती है, यथा—

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्य
अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अंगारा इरिणे न्युप्ताः
शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥ १०.३४.९

(नीचे रहते हैं, ऊपर की ओर स्फुरण करते हैं। बिना हाथ के हैं, फिर भी हाथवालों को वश में कर लेते हैं। दिव्य अंगारे हैं, पर फेंके जाने पर शीतल होकर हृदय को जलाते हैं।)

ऊपर ऋग्वेद के काव्य के स्वरूप और शैली का परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उस काव्य में स्थान-स्थान पर रस और भावों की सरिता प्रवाहित होती हुई मिलती है। ऋग्वेद के विशाल साहित्य-प्रांगण में विश्व की देवी से लेकर प्रकृति-जगत् की असंख्य परिस्थितियों में भावित होने वाले कवि-हृदय का उद्‍गार स्वभावतः रस और भावों से परिप्लावित है। जुआरी की व्यथा-भरी आत्म-कथा में करुण रस का परिपाक है और मरुतों के गीत में वीर रस की धारा बहती है।

सम्पूर्ण ऋग्वेद छन्दों में रचा गया है। इसमें १५ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। त्रिष्टुप्, गायत्री और जगती छन्दों में ऋग्वेद का लगभग दो-तिहाई भाग रचा गया है।

ऋग्वेद की शैली के उदात्त होने का एक प्रधान कारण था सूक्तों का देवताओं की परितुष्टि के लिए होना। जो कुछ देवताओं के लिए होता है, वह पूर्ण सावधानी और कौशल से प्रणीत होता है।

कवि की दृष्टि

ऋग्वेद के कवियों के काव्य-जगत् में उन गुणों का प्रायः आकलन किया गया है, जिनको उन्होंने अपने निजी जीवन में आदर्श रूप में प्रतिष्ठित किया था। उनमें से सर्वप्रथम स्थान उपकार-परायणता और सेवा का है। आपस् (जल) का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—इसी में राजा वरुण, सोम और विश्वेदेवाः प्रमोदमयी शक्ति प्राप्त करते हैं, अर्थात् इसे पीकर प्रसन्न और बलशाली होते हैं। इसी में अग्नि की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। ये ही देवता यहाँ हमारी सहायता करें। कवियों ने जिस किसी का वर्णन किया है, उसके अदम्य उत्साह, कर्मण्यता, जागरूकता, तत्परता, प्रकाश, दानशीलता, शक्ति, निर्भीकता आदि पक्षों की परख करके उसका सांगोपाङ्ग निरूपण किया है। सत्पक्ष की विजय और असत् की पराजय का

निदर्शन उन्होंने भली भाँति किया है। सारे जगत् के प्रति उनका समादर-भाव और सहानुभूति थी।

जिस किसी प्राकृतिक विभूति को वैदिक कवियों ने देवता मानकर वर्णन किया, प्रायः उन सबका मानवीकरण किया। यह मानवीकरण स्वरूपतः और गुणतः दोनों प्रकार से हुआ यथा सूर्य के हाथ उसकी किरणें हैं। अग्नि की जीभ उसकी लपटें हैं। अग्नि पुरोहित बन गया। इस मानवीकरण की प्रक्रिया का सुन्दरतम विन्यास उन वर्णनों में मिलता है जहाँ प्रकृति की विभूतियों में मानव के गुण— बोलना-सुनना, चलना-फिरना, सहायता देना आदि का निदर्शन किया गया है। इस प्रकार उनके स्वरूप को अधिक सुबोध बनाकर मानवता के सन्निकट लाकर उनके प्रति अभिरुचि उत्पन्न कराई गई है।

हम लिख चुके हैं कि वैदिक कालीन काव्य के महासागर का एक संग्रह ऋग्वेद के रूप में उपनिबद्ध है। इस संग्रह के निर्माताओं की दृष्टि साधारणतः धार्मिक थी। धर्मेतर विषयों के अल्पसंख्यक सूक्त ही ऋग्वेद में संगृहीत हैं, किन्तु परवर्ती-युगीन अथर्ववेद के संग्रह में धर्मेतर विषयों के कुछ अधिक सूक्तों को स्थान दिया गया। इस प्रकार वैदिक काव्य में अथर्ववेद का महत्त्व माना जा सकता है।

अथर्ववैदिक काव्य

अथर्ववेद में ७३१ सूक्त हैं। इनमें सब मिलाकर लगभग ६००० श्लोक हैं। अथर्ववेद का विभाजन २० काण्डों में हुआ है। इसके बीसवें काण्ड के प्रायः सभी सूक्त ऋग्वेद से लिये गये हैं। इसके अतिरिक्त इस वेद का लगभग सातवाँ भाग ऋग्वेद से लिया गया है। पन्द्रहवाँ काण्ड पूरा और सोलहवें का अधिकांश गद्य में है। शेष भाग में भी कहीं-कहीं गद्य के अंश मिले हैं। इस वेद में प्रायः वैसी ही भाषा मिलती है, जैसी ऋग्वेद में है। इससे इस बात की स्पष्ट झलक मिलती है कि अधिकांश में अथर्ववेद परवर्ती-युगीन है। अथर्ववेद के कुछ सूक्त निःसन्देह उतने ही पुराने हैं, जितने ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्त। अथर्ववेद में प्रयुक्त छन्द प्रायः ऋग्वेद के समान ही हैं।

अथर्ववेद के लिए सूक्तों का संग्रह किया गया है, उनमें विविधता तो है, परन्तु इस संग्रह में ऐसे सूक्तों की संख्या गिनी-चुनी ही है, जिनमें काव्य-सौष्ठव उच्च कोटि का कहा जा सकता है। सैकड़ों विषयों पर पद्यबद्ध रचना हो और उनमें केवल दो-चार में काव्य का चमत्कार हो—इतने से ही अनुमान किया जा सकता है कि अथर्ववेद के युग में पद्य-रचना करने वालों का काव्यगत चमत्कार की ओर उतना ध्यान नहीं था, जितना ऋग्वेद के सूक्तों के रचयिताओं का।

अथर्ववेद की शैली गीत-काव्य की शैली कही जा सकती है। साधारणतः विषय का सम्बोधन करते हुए उसके प्रति अपने हृदय के उद्‌गारों को प्रकट किया गया है। इस प्रकार के वर्णनों में प्रायः उच्च कोटि की व्यंजना का आश्रय भी लिया गया है। पर इसे हम काव्य की परिधि में नहीं रख सकते। काव्य के लिए वर्ण्य विषय के जिस रसमय पक्ष की अभिव्यक्ति भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के माध्यम से होनी चाहिए, उसका दर्शन अथर्ववेद में कहीं-कहीं ही मिलता है।

फिर भी अथर्ववेद की भाषा बलशालिनी है, इसमें स्पष्टता है और विचारों को व्यक्त करने की क्षमता है। सम्भव है अथर्ववेद के सूक्तों के साथ ही कुछ उच्च कोटि की काव्य-प्रतिभा के परिचायक पद्यों की रचना भी उस युग में हुई हो, जो आजकल अप्राप्य हैं। ऐसे पद्यों की सम्भावना अथर्ववेद के छिटपुट वाक्यांशों से मिलती है। जो कवि लिख सकता था—अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नाः अर्थात् वृक्ष खड़े-ही-खड़े सोते हैं—वह उच्चकोटि की काव्य-रचना में समर्थ हो सकता था। कहीं-कहीं उच्चकोटि की उपमाएं तत्कालीन कवियों की काव्य-प्रतिभा का संकेत करती हैं। एक कवि ने रक्त की धमनियों की लाल वस्त्र धारण करने वाली रमणियों से उपमा दी है। कवि-प्रतिभा से ही बादलों में गरजने वाले वृषभ की उत्प्रेक्षा हो सकती थी। युद्ध सम्बन्धी कुछ सूक्तों में अथर्ववेद के उच्चतम काव्य का निदर्शन मिलता है।

अथर्ववैदिक काव्य का विशद स्वरूप पृथ्वी सूक्त में वर्त्तमान है। इस सूक्त की नीचे लिखी चयनिका से इसके काव्यगत उत्कर्ष की कल्पना की जा सकती है—पृथ्वी विश्वम्भरा, वसुधानी, प्रतिष्ठा, हिरण्यवक्षा, जगत् को आश्रय देने वाली और वैश्वानर का भरण-पोषण करने वाली है। हे पृथिवि, तुम्हारे हिमवान् पर्वत और तुम्हारे वन हमारे लिए मनोरम हों। पृथ्वी पर मैं सर्वथा स्वस्थ होकर विराजमान हूं। यह भूरी, कृष्णा, रोहिणी, विश्वरूपा एवं ध्रुवा है और इन्द्र के द्वारा रक्षित है। अग्नि का परिधान धारण करने वाली पृथ्वी मुझे त्विषीमान् और संशित बनायेगी। हे पृथिवि, तुम्हारी जो सुगन्ध पौधों में और कमल में है, उससे मुझे सुरभित करो। उठते हुए या बैठे हुए, चलते हुए या खड़े हुए हम कहीं लड़खड़ाकर गिर न जायं। अपने साथी सूर्य के साथ जब तक तुम्हें देखता हूं, तब तक मेरी दृष्टि दुर्बल न हो चाहे कितने ही वर्ष क्यों न बीतते जायं। हम लोग, जो कुछ (धातु आदि) तुम्हारे गर्भ से खोद निकालते हैं, वह वहां शीघ्र ही पुनः उत्पन्न हो जाय। हम तुम्हारे मर्मस्थल को न बींधें, तुम्हारे हृदय पर आघात न करें। जिस पृथिवी पर लोग गाते हैं, नाचते हैं, युद्ध करते हैं, ढोल बजाते हैं, वही हमें शत्रुओं से छुटकारा देगी। हे पृथिवि, हमें अरण्य के पशुओं, सिंहों, व्याघ्रों और वृकों से बचाओ। द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष ने हमें विस्तार दिया है। अग्नि, सूर्य, आपस् और विश्वेदेवाः ने हमें मेधा

प्रदान की है, गांव हो या अरण्य, सभा, समिति या संग्राम——हम जहां-कहीं हों, पृथिवी के सम्बन्ध में भली बातें कहें। शान्त, सुरभिगुता, दयालु, स्तन में मधुर पान वाली और पयस्विनी, पृथ्वी अपने रस से हमें प्रोत्साहन दे। हे पृथिवि, तुम्हारी गोद हमारे लिए नीरोग और स्वास्थ्यप्रद बन जाय। हम लोग जीवन भर सावधानीपूर्वक तुम्हारे लिए बलि प्रदान करने वाले बने रहें। माता पृथिवि, हमें सुप्रतिष्ठित पद पर स्थिर बनाओ। दिवालोक के सहयोग के साथ ही, हे सुबुद्धि वाली पृथिवि, तुम मुझे श्री और भूति से सम्पन्न बनाओ।[१]

काल (समय) का मानवीकरण करके उत्तम व्यंजनाओं के माध्यम से कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'काल अश्व है, दौड़ा करता है, इसकी सात रश्मियां हैं, सहस्र आँखें हैं, यह अजर-अमर है। विद्वान् कवि उस काल पर आरोहण करते हैं। सारे प्राणी इस काल के चक्र हैं। काल सात चक्रों से चलता है, इसकी सात ही नाभियां हैं, इसकी धुरी अमरता है। यह सभी प्राणियों को यहां लाता है। काल प्रथम देवता है, जो यहां आया। उसने सभी प्राणियों के लिए आवरण प्रस्तुत किया है। पिता होते हुए भी वह उनका पुत्र है। काल से बढ़कर कोई अन्य तेजस्विता नहीं है। काल ने ही सबको उत्पन्न किया। काल में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है।'

वैदिक काव्य की रूप-रेखा के परिचय के लिए ऋग्वेद और अथर्ववेद की संहिताओं में उपर्युक्त प्रकार की सामग्री प्राप्त होती है। सामवेद और यजुर्वेद की संहिताएं काव्य की दृष्टि से प्रायः सर्वथा हीन हैं, यद्यपि सामवेद का संगीत की दिशा में और यजुर्वेद का धार्मिक और दार्शनिक प्रगति की दिशा में अतिशय ऊँचा स्थान है।

ब्राह्मणयुगीन काव्य

ब्राह्मण का अर्थ याज्ञिक व्याख्या है। ब्राह्मण साहित्य का विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—विधि और अर्थवाद। विधि के अन्तर्गत यज्ञ की प्रक्रियाओं की रूप-रेखा का विधान है। अर्थवाद के द्वारा यज्ञ की प्रक्रियाओं और प्रार्थनाओं की इस प्रकार व्याख्याएं की गई हैं कि उनसे यज्ञ की विधियों का समर्थन हो सके। काव्यात्मक साहित्य की दृष्टि से अर्थवाद का महत्त्व है। अर्थवाद से तत्कालीन इतिहास, आख्यान और पुराणों की परम्परा का ज्ञान होता है। इन्हीं इतिहास और पुराणों के प्रकरण में कहीं-कहीं तत्कालीन काव्य-धारा के मनोरम स्रोत की प्रतिष्ठा मिलती है। ब्राह्मण-साहित्य में इतिहास, पुराण आदि कथाओं के

१. अथर्ववेद १२.१

रूप में मिलते हैं। साधारणतः कथाएँ छोटी हैं, पर कुछ कथाएँ बड़ी भी हैं, जिनमें शुनःशेप आख्यान सुप्रसिद्ध है। कथाओं की शैली कथोपकथन-विशिष्ट है और प्रायः मनोरंजक है। मन और वाणी की परस्पर श्रेष्ठता-सम्बन्धी कहानी इस प्रकार है—एक बार मन ने कहा 'मैं भद्र', तो वाणी ने कहा 'मैं भद्र'। मन ने कहा—'अवश्य ही मैं तुमसे बढ़कर हूँ। तुम कुछ भी तो ऐसा नहीं कहती जो मुझे पहले से ही ज्ञात न हो। तुम मेरे किए हुए का अनुकरण करती हो, इस प्रकार अनुगमन करने वाली हो। इसलिए मैं तुमसे बढ़कर हूँ।' वाणी ने कहा—'मैं तुमसे बढ़कर हूँ। जो कुछ तुम जानते हो, उसे मैं प्रकाशित करती हूँ, दूसरों के प्रति विदित करती हूँ।'

वे दोनों प्रजापति से निर्णय कराने पहुँचे। प्रजापति ने मन के पक्ष में निर्णय दिया और वाणी से कहा—'मन वास्तव में तुमसे बढ़कर है, क्योंकि तुम मन की कृतियों का अनुकरण करती हो और उसका अनुगमन करती हो। ऐसा करने वाला घटकर ही होता है।'

इस प्रकार निन्दित होकर वाणी निराश हुई।[१]

कुछ कथाएँ शिशुओं के मनोरंजन के योग्य भी हैं। वर्षा ऋतु में बादलों का पर्वतों की ओर उड़ने का कारण नीचे लिखी बालोचित कथा में है—प्रजापति की सर्वप्रथम सन्तान पर्वत हैं। पर्वतों के पास प्रारम्भ में पंख थे। वे उड़ते थे और जहाँ कहीं भी चाहते थे, स्थिर हो जाते थे। उस समय पृथ्वी भी हिलती-डुलती थी। इन्द्र ने पर्वत के पंखों को काट दिया और उनसे पृथ्वी को दृढ़ कर दिया। पर्वतों के पंख बादल बन गये। इसीलिए बादल पर्वतों की ओर मंडराया करते हैं।[२]

वैदिक कालीन कथा-शैली का प्रायः सर्वाङ्गीण निरूपण ब्राह्मणों में दी हुई कथाओं के आधार पर हो सकता है। भारतीय काव्य-साहित्य में कथा की जो प्रतिष्ठा परवर्ती युग में मिली है, उसकी परम्परा ब्राह्मण-साहित्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

उपनिषद्-काव्य

उपनिषदों की रचना-शैली की काव्यपरता देखकर इन्हें दार्शनिक काव्य की कोटि में रखा गया है। दर्शन के नाते उपनिषद् जीवन के आध्यात्मिक तत्त्वों का अनुशीलन कराते हुए ब्रह्मानन्द की अनुभूति कराते हैं और साथ ही कवियों की

१. शतपथ-ब्राह्मण १.४.५.८.१२।
२. मैत्रायणी-संहिता १.१०.१३।

अन्तर्ज्योति के भावुकतापूर्ण उद्गार होने के नाते ये अपनी रमणीयता के माध्यम से काव्योचित रसास्वाद कराते हैं। उपनिषदों में सत्य के काव्यात्मक स्वरूप का वर्णन है।

उपनिषदों की भाषा में कहीं-कहीं व्यञ्जना है। यह भाषा की दिशा में शाश्वत रूप से अनुपम कही जा सकती है। दार्शनिक कवि ने सत्य की गवेषणा करते हुए जाना है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

(सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। पूषन्, उसे दूर करो, जिससे वह देखा जा सके।)[१] उपर्युक्त श्लोक से ज्ञात होता है कि कवि ने दिव्य दृष्टि से सत्य का दर्शन सम्भव माना है। यही दिव्य दृष्टि किसी वस्तु के काव्यात्मक पक्ष का दर्शन करने के लिए अपेक्षित है।

उपनिषद्-युग आते-आते संस्कृत भाषा काव्य के लिए सर्वथा उपयोगी बन चुकी थी। इस भाषा की अद्वितीय विशेषता थी प्रांजलता। दार्शनिक विवेचन के लिए भाषा का इस प्रकार मंज जाना अपेक्षित था। यह भाषा काव्य के लिए समर्थ माध्यम बनने के योग्य थी। उपनिषदों की भाषा में जो काव्य लिखे गए, उनका आज परिचय पा लेना प्रायः असम्भव प्रतीत होता है।[२] सम्भव है, इस युग के काव्य भाषा में स्वल्प रूपान्तर करके महाभारत आदि ग्रन्थों में संगृहीत हों। उपनिषद् के काव्यात्मक अंशों के आधार पर तत्कालीन काव्य का स्वरूप कुछ-कुछ जाना जा सकता है।

उपनिषद् के कवियों को भाषागत चमत्कार के प्रति अभिरुचि थी। वर्ण्य विषय की उत्कृष्टता का आभास कराने के लिए विरोधी गुणों का सामञ्जस्य करने में वे सफल थे। एक कवि ने कहा है।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥ १.३.१६
यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ केन० २.३॥

---

१. ईशावास्योपनिषद् से।

२. उपनिषदों के कुछ भाग तो महाभारत से विशेष रूप से मिलते-जुलते हैं। कठोपनिषद् के कुछ श्लोकों से इसकी महाभारत से समकक्षता प्रतीत होती है।

(ब्रह्म जिसके लिए अमत है, उसके लिए मत है। वह जिसके लिए मत है, उसके द्वारा भी समझा नहीं गया है। वह विज्ञानियों के लिए अविज्ञात है और अविज्ञानियों के लिए विज्ञात है।)

उपनिषद् के दार्शनिक तत्त्वालोचन के साथ ही काव्य के आलंकारिक प्रयोगों के लिए ऐसी पदावली ग्राह्य रही होगी।

संस्कृत काव्य की प्रगति में उपनिषदों का विशेष महत्त्व है। काव्य की पृष्ठभूमि में जिस उच्च दर्शन की अपेक्षा होती है, वह उपनिषदों में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त काव्य की पृष्ठभूमि के लिए स्वस्थ जीवन-दर्शन की अपेक्षा होती है। इस प्रकार का जीवन-दर्शन उपनिषदों में मनीषियों की जीवन-चर्या के माध्यम से प्रस्तुत है। इन्हीं का आधार लेकर उपनिषद्-युग के पश्चात् महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों की रचना हो सकी।

वैदिक काल

वेदों के रचना-काल के सम्बन्ध में प्रायः मत-भेद रहा है क्योंकि अब तक कोई ऐसा प्रामाणिक आधार नहीं मिल सका है, जिसके बल पर ठीक निर्णय लिया जा सके। प्रायः योरप के विद्वान् यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि वेद बहुत पुराने नहीं हैं। मेक्समूलर ने वैदिक साहित्य की रचना का आरंभ-काल ई० पू० १२०० से लेकर १००० के मध्य तक माना है। यह तिथि बहुत दिनों तक प्रामाणिक मानी जाती थी और आज भी बहुत से योरप के विद्वान् इसकी प्रामाणिकता का विरोध स्वान्तःसुखाय नहीं करते हैं।

भारत में वेदों का रचना-काल निश्चित करने का सफल प्रयत्न लोकमान्य तिलक ने किया। उन्होंने ग्रहों और नक्षत्रों की चाल के आधार पर 'ओरायन' ग्रंथ में वैदिक-काल ऋग्वेद से उपनिषदों तक ई० पू० ४५०० से ई० पू० १६०० निश्चित किया। जर्मन विद्वान् याकोबी ने भी ज्योतिष-गणित के आधार पर निश्चय किया कि वैदिक साहित्य की रचना ई० पू० ४५०० से २५०० के बीच में हुई। जर्मनी के अन्य प्रसिद्ध विद्वान् विन्तरनित्ज ने वैदिक साहित्य के आरम्भ होने का समय ई० पू० २५०० से २००० तक माना है और इसका अन्तकाल महात्मा गौतम बुद्ध के पहले ई० पू० ७५० से ५०० के बीच निर्णय किया है। विन्तरनित्जने तिथि निर्णय सम्बन्धी कठिनाइयों की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि सबसे अधिक बुद्धिमानों का मार्ग तो यह है कि किसी निश्चित की हुई तिथि के चक्कर में न पड़ें और अत्यन्त प्राचीन या जान-बूझकर कही हुई नवीन तिथियों को न भूलें।

———

तृतीय अध्याय

महाभारत तथा रामायण

वैदिक साहित्य के उल्लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद् कोटि की रचनाओं के अतिरिक्त एक अतिशय बृहत् लोकरञ्जक साहित्य भी था। इस साहित्य के प्रति लोगों की अभिरुचि का होना स्वाभाविक था। इसका अध्ययन-अध्यापन भी होता था। ऐसे लोकरञ्जक साहित्य में काव्यत्व की प्रचुरता मानी जा सकती है। इस कोटि की कुछ रचनाएँ ब्राह्मणों में मौलिक अथवा संक्षिप्त रूप में संगृहीत हैं। ऐसी रचनाओं का सर्वप्रथम बृहत् संग्रह महाभारत में मिलता है।

महाभारत इतिहास-कोटि में साधारणतः परिगणित होता है। प्राचीन काल से ही इसे सर्वोत्तम इतिहास माना गया है भारतीय परिभाषा के अनुसार इतिहास में वर्ण्य विषयों की विविधता होती है और इसमें पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों का समावेश होता है। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि यह ग्रन्थ महासागर की भाँति है, जिसमें पूर्वकालीन सभी प्रकार की व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध रचनाओं का संकलन है। इसकी रचना का उद्देश्य समाज को अभ्युदय-पथ-प्रदर्शन कराना है।

महाभारत क्या काव्य है? महाभारत में इस ग्रन्थ की अनेक उपाधियों में से एक काव्य भी है। सम्भव है, काव्य की तत्कालीन परिभाषा के अनुसार ही इसे काव्य नाम दिया गया हो। इस युग में काव्य की परिभाषा थी—

अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्॥ आदिपर्व १.२८

(शुभ शब्दों से तथा देवताओं और मानुषों के समयों से अलंकृत और विविध प्रकार के छन्दों से निर्मित यह महाभारत विद्वानों को प्रिय होगा।)

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त महाभारत में कूट श्लोक भी मिलते हैं, जिनकी संख्या ८०० कही जाती है। वे श्लोक गूढार्थक हैं, अर्थात् इनको समझने के लिए केवल अभिधावृत्ति से काम नहीं चलता। इनका अर्थ असाधारण प्रतिभा के लोग ही समझ सकते हैं।

महाभारत में इस ग्रन्थ की विशेषताओं का आकलन करते हुए कहा गया है—

सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति ।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥

(यह अमर भारत-वृक्ष भावी कवियों के लिए उसी प्रकार आश्रय है, जैसे प्राणियों के लिए मेघ ।)

महाभारत की उपर्युक्त आश्रयणीयता केवल उसकी कथा-वस्तु को ही लेकर नहीं है, अपितु इसके काव्य-तत्त्व के सम्बन्ध में भी इसकी आश्रयणीयता निर्विवाद है—इसे सभी काव्य-मर्मज्ञ भली-भाँति जानते हैं । कथानक के विस्तार के लिए जिस काव्य-दृष्टि की अपेक्षा होती है, उसका परिचय महाभारत में स्थान-स्थान पर मिलता है ।

निःसन्देह महाभारत में नीरस प्रकरणों का अभाव नहीं है और अनेक स्थलों पर इसमें पौराणिकता दृष्टिगोचर होती है, पर पूरे महाभारत को एक दृष्टि से देखने पर निश्चित प्रतीत होगा कि यह ग्रन्थ काव्य की रमणीयता से ओत-प्रोत है ।

महाभारत मूलतः एक चरित काव्य है । इसमें तत्कालीन और प्राचीन युग के अधिकाधिक महापुरुषों के साथ ही देवताओं के चरित का वर्णन अधिकांश भाग में मिलता है । इन वर्णनों को समीचीन विधि से एकत्र संग्रहीत करने के लिए कौरव और पाण्डवों की कथा के अतिरिक्त नीचे लिखे आख्यान-सूत्र अपनाये गये हैं—

(१) प्रवासी बन कर भ्रमण करते हुए नायक या अन्य प्रधान पुरुषों का महापुरुषों, महर्षियों और देवताओं से सम्बद्ध स्थानों पर पहुँचकर उनकी ऐतिहासिक गाथा का वर्णन सुनना ।

(२) नायक या किसी अन्य पात्र का तीर्थयात्री-रूप में वर्णन करते हुए तीर्थों से सम्बद्ध महर्षियों और देवताओं के आख्यान की आवृत्ति करना ।

(३) अपने वक्तव्य को सप्रमाण पुष्ट करने के लिए चरित-सम्बन्धी आख्यानों का वर्णन करना ।

महाभारतकालीन समाज में इस प्रकार के चरिताख्यानों के प्रति विशेष अभिरुचि थी । जनमेजय के उदाहरण में तत्कालीन मनोवृत्ति का निदर्शन नीचे लिखे श्लोक से होता है :—

न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ।। आदि० ६.३

(प्राचीन महान् चरितों को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती ।)

कवि का व्यक्तित्व

महाभारत का रचयिता होने का श्रेय यद्यपि महर्षि व्यास को है और यह मत प्रायः ठीक कहा जा सकता है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकरण में रचयिता शब्द एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। महाभारत का रचयिता अपने युग की समग्र साहित्यिक और सांस्कृतिक निधि को अपनी कला के माध्यम से एक सूत्र में उपनिबद्ध करने में सफल हुआ है। असंख्य युगों के मनीषियों की रचनाएँ कवि-परम्परा के माध्यम से अमर बनकर महाभारत-युग में महासागर की भाँति निःसीम थीं। उस महासागर का पर्यवेक्षण करने वाला, उसके गर्भ में अवगाहन करके विविध प्रकार के अमरता प्राप्त करने के योग्य कथा-रत्नों को ढूंढ़ निकालने वाला और उन सबका सामञ्जस्य और समन्वय करने वाला कवि एक ही था और हुआ।

विचित्रता और विशिष्टता

जीवन-दर्शन महाभारत का एक अभिनव प्रतिपाद्य विषय है। इस जीवन-दर्शन को संक्षिप्त रूप में एकत्र श्रीमद्भगवद्गीता में देखा जा सकता है। गीता में वर्णाश्रम धर्म और निष्काम कर्म की जो योजना प्रस्तुत की गई है, उसका बृहत्तर स्वरूप समग्र महाभारत में व्याप्त है।

महाभारत के कथानक से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्कालीन धारणा के अनुसार मानव के विलास और विकास दोनों साथ नहीं चलते। इसी सिद्धान्त पर पाण्डवों का अभ्युदय हुआ था। परवर्ती भारतीय साहित्य में चरितनायक के सर्वोच्च गुणों का आविर्भाव विपत्तिमयी परिस्थितियों में दिखाने की परम्परा प्रायः सदा रही है। इस दृष्टि से विषम परिस्थितियों का जीवन-निर्माण में विशेष महत्त्व माना जा सकता है।

महाभारत में जिन प्रधान पुरुषों के इतिवृत्त का वर्णन किया गया है, उनका व्यक्तित्व असाधारण है। उदाहरण के लिए भीम को लीजिए—महाभारत का भीम जब चलता था तो पृथ्वी काँपती थी, गजयूथ डरते थे, वह वायु की गति से चलता था, सिंह, व्याघ्र और मृगों को कुचलता था, बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकता था। फिर भी इन बलशालियों को कहीं-कहीं अतिशय दुर्बल भी दिखाया गया है। जब एक अजगर भीम को पकड़ता है तो वह कहता है—असत्यो विक्रमो नृणाम्।

अर्जुन ने जब अपने अस्त्रों के अभ्यास का प्रदर्शन किया तो शैल विदीर्ण हो गये, वायु का बहना बन्द हो गया, सूर्य की चमक मिट गई और अग्नि का जलना बन्द हो गया। महाभारत का युद्ध-प्रकरण ऐसी अतिशयोक्तियों और अलौकिक वैचित्र्यों से भरा पड़ा है।

महाभारत को पंचम वेद की उपाधि दी गई है। वास्तव में यह पंचम वेद अन्य चार वेदों का स्थान भी प्रायः ले चुका था। वेदों और यज्ञों के द्वारा जो अलौकिक विधि से सफलताएँ प्राप्तव्य थीं, वे प्रायः सभी महाभारत के पाठ-मात्र से सिद्ध हो सकती थीं। पाप से निवृत्ति, पृथ्वी-विजय, शत्रु-पराजय, वीर पुत्र का जन्म, व्याधि-भय का दूर होना, धन-यश-आयु-पुण्य तथा स्वर्ग की प्राप्ति करना, विपुल वंश की प्राप्ति, लोक में पूजनीयता आदि पहले वेद और यज्ञों के माध्यम से सम्भव थे। वे सभी महाभारत के पठन और श्रवण-मात्र से सम्भव माने गये। महाभारत की इसी विशिष्टता को देख कर कहा गया—

विज्ञेयः स च वेदानां पारगो भारतं पठन् ॥ आदिपर्व ६२.३२

उपर्युक्त गुणों के साथ ही महाभारत की श्लोकरंजकता अतिशय मनोरम है। कथा-वैचित्र्य का एक उदाहरण इस प्रकार है—लाक्षागृह-दाह हो चुका था। धृतराष्ट्र समझते थे कि पाण्डव मर गये। इसी बीच द्रौपदी का विवाह पाण्डवों से हुआ। द्रौपदी के स्वयंवर में दुर्योधन आदि कौरव भी गये थे। विदुर ने स्वयंवर के परिणाम का समाचार देते हुए धृतराष्ट्र से कहा—'कौरवों की वृद्धि हुई राजन् !' इस प्रकरण में विदुर ने कौरव-पद पाण्डवों के लिये प्रयुक्त किया था। पर धृतराष्ट्र ने समझा कि दुर्योधन को ही सफलता मिली है। उन्होंने कहा—द्रौपदी के लिए भूषण मँगाया जाय और उसे नगर में लाया जाय। फिर तो विदुर ने बताया कि द्रौपदी ने पाण्डवों को चुना है। इस अवसर पर धृतराष्ट्र को कहना पड़ा—मेरे लिए तो पाण्डु के पुत्र बहुत ही प्रिय हैं।

महाभारत विश्व-साहित्य का विशालतम ग्रन्थ है। भारतीय समाज में राजकीय प्रासाद से लेकर रंक की कुटिया तक में सुदूर प्राचीन काल से लेकर आज तक इसकी प्रतिष्ठा रही है। इस ग्रंथ की कथा-वस्तु से बालक से बूढ़े तक सभी सदा ही परिचित रहे हैं। जिन महामानवों के उदात्त चरित और चरित्र की वर्णना इस ग्रंथ में मिलती है, वे आज भी आदर्श माने जाते हैं। आज भी प्रत्येक भारतीय के व्यक्तित्व में महाभारत के कथानक, शिक्षाओं और समस्याओं के समाधान की निधि अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्फुटित है।

सार्थक उक्ति है—महाभारत—'यह कवि-रूपी माली का यत्नपूर्वक संवारा हुआ उद्यान नहीं है, जिसके लता-पुष्प-वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं, अपितु यह अपने आपही जीवनी-शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अयत्न-परिवर्धित विशाल वन है, जो अपनी उपमा आप रखता है।" प्राचीन आलोचकों ने महाभारत और उसके रचियता के सम्बन्ध में इस प्रकार अपने मनोभावों, को व्यक्त किया है—

श्रवणाञ्जलिपुटपेयं विरचितवान्भारताख्यममृतं यः।
तमहमरागमकृष्णं कृष्णद्वैपायनं वन्दे॥
व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्किता भारती वहति॥

रामायण

रामायण में वाल्मीकि ने राम के समग्र जीवन-चरित का काव्यमय स्वरूप प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति के आचार-पक्ष पर रामचरित का व्यापक प्रभाव है। रामचरित का दृश्य राजप्रसाद से लेकर वनवासियों की पर्णशालाओं तक और युद्ध-भूमि से लेकर करुणापूर अहिल्योद्धार तक है। पशु-पक्षी भी राम की उदारता से प्रभावित हैं। रामचरित की भौगोलिक परिधि भी अतिशय व्यापक है। इसके भीतर उत्तर और दक्षिण भारत का अधिकांश आ जाता है और तत्कालीन भारत की प्रायः सभी जातियों को राम के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। रामायण में राम के बाल्य की रमणीयता के साथ यौवन की वीरता और प्रौढावस्था का कर्मयोग—सभी अद्वितीय सौरभ से समन्वित हैं। मानव-जीवन के चारों-आश्रमों, चारों वर्गों और वर्णों के आदर्शों का यदि कहीं एकत्र सुप्रतिष्ठित स्वरूप मिल सकता है तो वाल्मीकि-रामायण में ही।

राम का एक परिवार है। वह परिवार संसार का एक संक्षिप्त संस्करण माना जा सकता है। ऐसे परिवार में सबके व्यक्तित्व का संस्कार करके सभी की जीवन-धारा को उदात्त बनाने का श्रेय अकेले राम को है। राम के सम्पर्क में अच्छा-बुरा जो कोई भी आया उसका स्वरूप परिशोधित हुआ—यही रामचरित की अमरता का प्रथम कारण है।

महाभारत में जिस कर्मयोग का बीजारोपण किया गया, उसे वाल्मीकि ने रामायण में संवर्धित करके पल्लवित और पुष्पित किया। उसका फल रामचरित है। राम के सम्बन्ध में चरितार्थ हुआ—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

रामायण की लोक-प्रियता का कारण उसमें चित्रित जीवन की पूर्णता है। राम का जीवन-चरित कम-से-कम प्राचीन काल में सर्वसाधारण के लिए आदर्श था। इस ग्रन्थ में सुख और दुःख का सामञ्जस्य है। राम सम्राट् के पुत्र होते हुए भी विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने के लिए जाते हैं। तत्कालीन आदर्श नायक के जीवन की यह एक समीचीन दिशा मानी गई थी। धर्म की रक्षा करने के लिए अपना तन, मन और धन समर्पित कर देना आदर्श राजा का कर्तव्य था। इस कर्तव्य का राम ने परिपालन किया। राम ने दुःख को सुख से कम आनन्ददायक नहीं माना। जिस प्रकार नव रसों में से सभी आनन्द के निस्यन्द हैं, उसी प्रकार जीवन की विषम और सुखद सभी परिस्थितियों की अनुभूति आनन्दमयी है। रामचरित में सभी रसों का परिपाक हुआ है।

राम का व्यक्तित्व

मानवता को अपनी ओर आकृष्ट करने की योग्यता राम के उदार व्यक्तित्व में ही सम्भव थी। रामायण के अनुसार राम नियतात्मा, वशी, वाग्मी, श्रेष्ठ धनुर्धर, शरीर से बलिष्ट और सुन्दर, प्रतापवान्, शुभलक्षण, सत्यसन्ध, प्रजा के हित में रत, यशस्वी, ज्ञानसम्पन्न, शुचि, समाधिमान्, जीवलोक के रक्षक, धर्म के रक्षक, वेद-वेदांग के तत्वों के जानने वाले, सभी शास्त्रों के अर्थ-तत्व को जानने वाले, स्मृतिमान्, प्रतिभाशाली, सर्वलोकप्रिय, विचक्षण, सज्जनों से सर्वदा मिलने वाले, आर्य, सबके लिए समान, प्रियदर्शन, सभी गुणों से सम्पन्न, गाम्भीर्य में समुद्र के समान, धैर्य में हिमालय के समान, बल में विष्णु के समान, क्रोध करने पर कालाग्नि के समान, क्षमा करने में पृथ्वी के समान और दान देने में कुबेर के समान थे। रामचरित में उपर्युक्त सभी गुणों की स्वरूपतः प्रतिष्ठा की गई थी। कवि का विश्वास था कि मानवता राम के गुणों को आत्मसात् करेगी। भारतीय लोकमत के अनुसार राम विष्णु के अवतार हैं।

वाल्मीकि का व्यक्तित्व

संस्कृत साहित्य के प्रथम महाकवि वाल्मीकि हैं। इसीलिए उन्हें आदिकवि भी कहते हैं। महर्षि च्यवन की परम्परा में वाल्मीकि ऋषि थे। उनका स्थान तत्कालीन महर्षियों में सर्वोच्च था। वाल्मीकि की लोक-कल्याण की भावना अपरिमित थी। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने लोक-पथ प्रशस्त बनाने के

उद्देश्य से रामायण की रचना की थी । विचारणा की जिस उदात्त पृष्ठभूमि पर राम-कथा प्रतिष्ठित की गई है, उसका उद्भव आदिकवि के हृदय से हुआ ।

रामायण के अनुसार वाल्मीकि की वाणी कभी असत्य नहीं हो सकती थी। महर्षि भावितात्मा थे। उनकी बुद्धि उदार थी।

रचना का उद्देश्य

रामायण की रचना सर्वसाधारण के लिए की गई थी। इसका काव्यगत सौन्दर्य और चारित्रिक निर्माण की वर्णना सभी लोगों के लिए बोधगम्य है। रामायण की सबसे बड़ी देन थी लोक को काव्य-दृष्टि प्रदान करना। काव्य-दृष्टि से ही जगत् का परिशीलन करने वाला व्यक्ति सर्वाधिक सुख और आनन्द का अधिकारी हो सकता है। काव्य-जगत् में आनन्द की प्राप्ति रस के माध्यम से होती है। लौकिक सुख के लिए सुसंयत मर्यादाओं के भीतर व्यक्तित्व का विकास अपेक्षित होता है। उपर्युक्त सिद्धि के लिए वाल्मीकि के द्वारा प्रस्तुत रामायण की राम-कथा आदर्श स्वरूप है।

काव्य-वैचित्र्य

काव्य-शैली में चरित्र-विन्यास का प्रथम स्वरूप वाल्मीकि की रामायण में मिलता है। इसकी उच्चता का स्पष्ट प्रमाण यही है कि भारत और विदेशों में भी रामायण में प्रतिष्ठित काव्य-स्वरूप की एक परम्परा बन गई। परवर्ती युग में महाकाव्य, रूपक, गीतकाव्य आदि सभी प्रकार के काव्य-स्वरूपों का आदर्श रामायण से ही ग्रहण किया गया। प्राकृतिक और मानव-कृत ऐश्वर्यशालिनी विभूतियों की वर्णना का आधार सदैव रामायण ही रहा है। काव्य-शैली के अन्तर्गत रस, रीति, अलंकार, छन्द आदि के जिस स्वरूप की प्रतिष्ठा रामायण में की गई है, उसे परवर्ती कवियों ने समादर-पूर्वक अपनाया है। वाल्मीकि के काव्य-वैचित्र्य के प्रत्यक्ष स्वरूप का निदर्शन करें—

चित्रकूट के सम्बन्ध में वाल्मीकि ने कहा है—

न राज्याद् भ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विना भवः ।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ २.९४.३

(राज्य का न मिलना और मित्रों से दूर रहना भी मेरे—राम के—मन को सन्ताप नहीं देते, जब मैं इस रमणीय पर्वत को देखता हूँ।)

गुहासमीरणो गन्धान्नानापुष्पभवान् बहून् ।
घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ।। २.९४.१४

(विविध प्रकार के पुष्पों से उत्पन्न होने वाले गन्धों से समायुक्त गुफाओं से निकलने वाली वायु नासिका को परितृप्त करती हुई किसके मन को नहीं प्रसन्न कर देती ?)

पम्पा-कानन का वर्णन करते हुए कवि ने कहा—

सुपुष्पितांस्तु पश्येमान् कर्णिकारान् समन्ततः ।
हाटकप्रतिसंछन्नान्नरान् पीताम्बरानिव ।। ४.१.२१

(चारों ओर इन सुपुष्पित कर्णिकारों को देखो । ये तो स्वर्णाच्छादित पीताम्बरधारी मानवों की भाँति हैं ।)

गङ्गा नदी के विषय में कवि ने आकलन किया है—

जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् ।
क्वचिद्वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ।। २.५०.१६
देवराजोपवाह्यैश्च संनादितवनान्तराम् ।
प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ।। २.५०.२३

(नदी का जलाघात उग्र अट्टहास था, निर्मल फेन से उसका हास्य प्रकट होता था, कहीं-कहीं जल को ही वेणी बनी हुई थी, कहीं-कहीं नदी आवर्तों से सुशोभित हो रही थी । निकटवर्ती वन इन्द्र के हाथियों के चिग्घाड़ से गूँज रहे थे । गङ्गा ऐसी प्रमदा की भाँति दिखाई देती थी जो यत्नपूर्वक उत्तम अलंकारों से भूषित हो ।)

कवि की दृष्टि से चन्द्र के बहुविध स्वरूप इस प्रकार हैं—

हंसो यथा राजतपञ्जरस्थः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः ।। ५.५.४
शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः ।
राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्रस्तथा प्रकाशः विरराज चन्द्रः ।। ५.५.७

(आकाश में चन्द्र वैसे ही सुशोभित हो रहा था, जैसे चाँदी के पंजर में हंस, मंदर पर्वत की कन्दरा में पड़ा हुआ सिंह या मत्त हाथी पर बैठा हुआ वीर सुशोभित

होता है। मृगेन्द्र शिला-तट पर जाकर, गजेन्द्र रणभूमि में पहुँचकर अथवा नरेन्द्र राज्य पाकर चमक उठते हैं, वैसे ही आकाश में चन्द्र विराजमान हुआ।)

रामायण में ऋतुओं का वर्णन अतिशय भावुकतापूर्ण है। वसन्त का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडन्निव समन्ततः॥
विक्षिपन् विविधाः शाखा नगानां कुसुमोत्कचाः।
मारुतश्चलितस्थानैः षट्पदैरनुगीयते॥
मत्तकोकिलसंनादैर्नर्तयन्निव पादपान्।
शैलकन्दरनिष्क्रान्तः प्रगीत इव चानिलः॥ ४.१.१३—१५

(गिरे हुए, गिरते हुए और वृक्ष पर लटकते हुए कुसुमों के साथ चारों ओर मानो क्रीडा करता हुआ मारुत, वृक्षों की फूल भरी डालों को हिलाता-डुलाता हुआ, उड़ने वाले भौरों का अपने साथ गायन करा रहा है। मत्त कोयलों के नाद से वृक्षों को मानो नचाता हुआ अनिल, पर्वत की कन्दरा से निकलते समय संगीतपूर्ण हो रहा है।)

वर्षा के विषय में वाल्मीकि ने लिखा है—

शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपंक्तिभिः।
कुटजार्जुनमालाभिरलंकर्तुं दिवाकरः॥ ४.२८.४
एषा धर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति॥ ४.२८.७
नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्यांके वैदेहीव तपस्विनी॥ ४.२८.१२
समुद्वहन्तः सलिलातिभारं बलाकिनो वारिधरा नदन्तः।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति॥ ४.२८.१२

(मेघ की सीढ़ी की पंक्तियों से आकाश में चढ़ कर कुटज और अर्जुन की माला से दिवाकर का अलंकरण किया जा सकता है। घाम से सन्तप्त, नये जल से भीगी हुई यह पृथ्वी वैसे ही बाष्प छोड़ रही है, जैसे शोक से सन्तप्त सीता। नील मेघ का आश्रय ली हुई बिजली जब दमकती है तो तपस्विनी सीता की भाँति लगती है, जब

वह रावण की गोद में रही होगी। जल के अतिशय भार को लिये हुए बादल पर्वतों के ऊँचे शिखरों पर बार-बार विश्राम करते हुए आगे बढ़ते हैं।)[1]

शरद् की शोभा का वर्णन वाल्मीकि ने इस प्रकार किया है—

शाखासु सप्तच्छदपादपानां प्रभासु ताराकनिशाकराणाम्।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां श्रियं विभज्याद्य शरत् प्रवृत्ता॥
मनोज्ञगन्धैः प्रियकैरनल्पैः पुष्पातिभारावनताग्रशाखैः।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरामैरुद्द्योतितानीव वनान्तराणि॥
व्यपेतपंकासु सुवालुकासु प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु।
संसारसारावनिनादितासु नदीषु हृष्टा निपतन्ति हंसाः॥
रात्रिः शशांकोदितसौम्यवक्त्रा तारागणोन्मीलित चारुनेत्रा।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी॥

(आज शरद् अपनी श्री को सप्तच्छद वृक्षों की शाखाओं में तारे, सूर्य और चन्द्र की प्रभा में, उत्तम हाथियों की लीला में समर्पित करती हुई आ गई। वन मानो चमकने लगे, क्योंकि उनके बीच मनोरम गन्ध वाले, पुष्पों के अतिशय भार से झुकी हुई टहनियों वाले, स्वर्ण के समान गोरे और नयनाभिराम प्रियक पुष्पों की राशि का बाहुल्य है। नदियों के उपप्रदेश में प्रसन्न हंस आ रहे हैं, जब वहाँ पङ्क नहीं रह गया है, बालू सुन्दर दिखलाई पड़ रही है, जल स्वच्छ है, गोवृन्द विराजमान है और चारों ओर सारसों का कलरव मुखरित हो रहा है। शरद् की रात्रि शुक्ल अंशुक का परिधान धारण करने वाली नारी की भाँति सुशोभित है क्योंकि उसके चन्द्रमा, तारागणों और ज्योत्स्ना में क्रमशः सौम्य मुख, चारु नेत्र और अंशुक प्रावरण प्रकल्पित होते हैं।)

हेमन्त का सौन्दर्य कवि की दृष्टि में कुछ कम नहीं है। तभी तो कवि ने कहा है—अलंकृत इवाभाति येन संवत्सरः शुभः। अर्थात् हेमन्त के द्वारा शुभसंवत्सर का अलंकरण होता है।

हेमन्त का काव्यात्मक वर्णन आगे इस प्रकार मिलता है—

सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम्।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरादिक्प्रकाशते॥
खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः।
शोभन्ते किंचिदानम्राः शालयः कनकप्रभाः॥

---

१. इन श्लोकों के भावों से कालिदास के मेघदूत के भावों का साम्य प्रत्यक्ष है।

(इस ऋतु में तिलकरहित स्त्री की भाँति उत्तर दिशा शोभाहीन है, क्योंकि सूर्य विशेषरूप से दक्षिण दिशा में रहने लगा है। खजूर के फूलों की भाँति आकृति वाले, दानों से परिपूर्ण शिरोभाग वाले, कुछ-कुछ झुके हुए शालि (धान) सुशोभित हो रहे हैं। उनकी प्रभा स्वर्णमयी है।)

वाल्मीकि यद्यपि स्वयं तपस्वी और ऋषि थे, फिर भी रामायण के इतिवृत्त का निदर्शन करने में उन्होंने सदैव कवि-दृष्टि का उपयोग किया है। यही कारण है कि शृङ्गारात्मक और युद्ध-विषयक प्रकरणों का भी रामायण में विशद वर्णन मिलता है। समाज में जिस स्थिति में जो व्यक्ति है, वहीं उसका आदर्श व्यक्तित्व कैसा रहे—यही बतलाना वाल्मीकि का प्रधान उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने काव्य-कला के माध्यम को अपनाया।

सम्भव है, रामायण में वाल्मीकि ने कुछ पूर्ववर्ती कवियों के आख्यानों को समन्वित कर लिया हो अथवा परवर्ती युग में कुछ कवियों ने रामायण में अपनी रचनाओं को भी जोड़ दिया है। ऐसा होने पर भी इस ग्रन्थ में वाल्मीकि की काव्य-प्रतिभा आद्यन्त झलकती है। रामायण के पश्चात् इसके सदृश कोई महान् ग्रन्थ नहीं लिखा गया। यह तो सत्य ही है कि आज न तो किसी ऐसे ग्रंथ का उल्लेख ही मिलता है और न इस कोटि का कोई ग्रन्थ ही प्राप्त होता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन है कि 'रामायण की प्रधान विशेषता यही है कि उसमें घर की ही बातें अत्यन्त विस्तृत रूप से वर्णित हैं। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, स्वामी-स्त्री में जो धर्म-बन्धन है, जो प्रीति और भक्ति का सम्बन्ध है, उसको रामायण ने इतना महान् बना दिया है, कि वह सहज में महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है।'[1] वाल्मीकि के सम्बन्ध में कहा गया है।

'मधुमयभणितीनां काव्यदर्शी महर्षि'

वाल्मीकि रामायण के काव्योत्कर्ष और लोक-प्रियता प्राचीन आलोचकों के द्वारा प्रमाणित की गई है। कुछ आलोचकों की श्लोकबद्ध सम्मतियाँ इस प्रकार हैं—

'कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम्॥

---

१. प्राचीन साहित्य पृ० १.

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला ।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा ॥

कवीन्दुं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीं कथाम् ।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवः ॥

वाल्मीकिकविसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परं पदम् ॥

रामेति परिकूजन्तमारूढं कवितालताम् ।
शृण्वन्तो मोदयन्तं तं वाल्मीकिं को न वन्दते ॥

कौशल्यं सकलासु तद्गुणगणागारस्य यस्य प्रथाम्,
भेजे नाम कलासु कामपि महाधाम्नः पुनर्नाम च ।
कीर्तिः क्रीडति कामनीव कलशक्षीरोदरोधः स्थली-
ष्वाश्लिष्टोऽपि विधुर्यया विजयते सोऽयं कवीन्द्रश्चिरम् ॥

काल-निर्णय

महाभारत की रचना कब हुई—यह निर्णय कर लेना असम्भव है। इसमें कल्पनातीत प्राचीन काल तक की घटनाओं का परम्परागत और कालान्तर से भाषान्तरित होते हुए आख्यानों का विशाल संग्रह है। ऐसे आख्यानों को प्रागैतिहासिक ही कहना समीचीन है क्योंकि उन्हें इतिहास की परिधि में नहीं बांधा जा सकता। यदि केवल उस भाषा की दृष्टि से महाभारत की तिथि का निर्णय करना है जिसमें यह आजकल मिलता है, तो इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसकी भाषा प्रमुख उपनिषदों के पश्चात् की है।

महाभारत के आदिस्वरूप की कल्पना आज हम नहीं कर सकते। कौरव और पाण्डवों के युद्ध से सम्बद्ध एक इतिहासात्मक ग्रंथ कब रचा गया और कैसा था—यह प्रमाणाभाव से अब तक अज्ञेय है। मेरी समझ में तो इस युद्ध के ठीक पश्चात् ही इसकी अद्वितीयता से प्रभावित होकर समाज ने इसे सर्वप्रथम आख्यान-रूप में ग्रहण कर लिया और इसकी लोकप्रियता देख कर महावृक्ष-रूपी महाभारत के सहारे लता-वल्लरी रूपी कथाओं का सम्भार बढ़ता गया।[१] महाभारत के अनुसार

---

१. विण्टरनित्ज ने इस सम्बन्ध में कहा है—Some parts of the Mahabharata reach back to the times of the Veda while others must be synchronous with the late productions of the Purana literature.

ही विकासात्मक दृष्टि से इसके तीन क्रम थे—(१) जय (२) भारत और (३) महाभारत। 'जय' नामक ग्रन्थ का प्रथम रूप अब नहीं मिलता है। इसमें सत्पक्ष की जय के वर्णन की प्रधानता होने से ग्रन्थ के नाम की सार्थकता प्रतीत होती है। 'जय' का परिवर्धित रूप भारत है। इसमें कौरव और पाण्डवों के इतिवृत्त के अतिरिक्त इतर सामग्री स्वल्प ही थी। इसका बृहत्तम आधुनिक रूप महाभारत है, जिसमें एक लाख श्लोक हैं। महाभारत नाम का सर्वप्रथम उल्लेख आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलता है, जो कम से कम ४०० ई० पू० की रचना है।

महाभारत का वर्त्तमान स्वरूप आज से लगभग १६०० वर्ष पहले बन चुका था। उस समय से इसमें १८ पर्वों के साथ परिशिष्ट या खिल रूप में हरिवंश भी सम्मिलित रहा है। तभी से इसमें लगभग एक लाख श्लोक भी रहे हैं। इसको शतसाहस्री-संहिता इसीलिए कहते हैं। इसमें सदा से एक लाख श्लोक नहीं थे। सुप्रसिद्ध सूत उग्रश्रवा के अनुसार इसमें केवल ८,८०० श्लोक थे। व्यास के अनुसार भारत में २४,००० श्लोक थे। महाभारत के अनुसार ही विविध देशों के समाज में प्रचलित महाभारतीय श्लोकों की संख्या विभिन्न रही है।

महाभारत के कुछ अंश वैदिक युगीन हैं। इस सम्बन्ध में विण्टरनित्ज का कहना है—We have seen, however, that some elements of our present Mahabharata reach back into the Vedic period, and that much specially in the didactic sections, is drawn from a literary common property, from which also Buddhists and Jains (probably already in the 5th century B. C.) have drawn.

उपर्युक्त विवेचन से महाभारत के रचना-काल के सम्बन्ध में नीचे लिखे परिणाम निकलते हैं—

(१) महाभारत के कुछ अंश वैदिक युगीन भी हैं। यहाँ यह स्मरणीय है, वैदिक युग प्रागैतिहासिक है और चतुर्थ साहस्री तक प्रसारित है।

(२) भारत और महाभारत नाम आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलते हैं। यह ग्रन्थ ४०० ई० पू० से पहले का है। अतएव महाभारत ६०० ई० पू० में अवश्य रहा होगा और इसके पूर्व संस्करण भारत और जय क्रमशः ८०० ई० पू० एवं १००० ई० पू० तक जा पहुँचते हैं।

(३) चौथी शती ई० तक महाभारत का प्रायः आधुनिक रूप सम्पन्न हो चुका था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत ने अपने विभिन्न स्तरों और अंशों में विभिन्न कालों की निधि संचित कर रखी है।

रामायण के रचयिता वाल्मीकि भारतीय मतानुसार राम के समकालीन थे, पर राम कब हुए, यह भी तो नहीं ज्ञात है। राम के सम्बन्ध में जो कथा मिलती है, उसके अनुसार यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राम को उस युग का माना गया है, जब दक्षिण भारत में आर्येतर राजाओं का साम्राज्य था और उत्तर भारत के ऋषि आर्य-संस्कृति की पताका लेकर दक्षिण भारत पहुँच रहे थे। यह घटना वैदिक काल के पश्चात् की है। भारत में वैदिकोत्तर काल अनवरत गवेषणा का युग था। उसी समय उस भूभाग की ओर प्रसार हुआ है। इस गवेषणा का केन्द्र अयोध्या था।

राम का चरित ऐतिहासिक घटना है—भले ही कवियों की कल्पना से उसमें अतिरंजना की उपवृत्ति हो। राम ने ऋषियों का उपकार किया था। सर्वप्रथम वह कथा ऋषि-समाज में प्रतिष्ठित हुई। वहाँ से वह राजन्य-समाज में आई। उन्नायक थे वाल्मीकि। पर गाँव-गाँव में किसानों की कुटियों तक इसे पहुँचाने वाले तो हिन्दी के महाकवि तुलसीदास ही हुए।

योरपीय अनुसन्धायकों ने सूक्ष्म विचारणा करके प्रमाणित किया है कि रामायण का द्वितीय से षष्ठ काण्ड तक मूल रूप है तथा प्रथम एवं सप्तमकांड परवर्ती युग में जोड़े गये। मूल रूप में राम मानव हैं तो परवर्ती में वे अवतार हैं। श्री विण्टरनित्ज का कहना है कि इस रूपान्तरण में बहुत अधिक समय लगा होगा।

रामायण की रचना महाभारत के पहले हुई या पीछे इस सम्बन्ध में कोई निर्णयात्मक मत नहीं दिया जा सकता। एतद्विषयक जो प्रमाण दिये जाते हैं, उनमें पूर्णता नहीं है। 'रामायण पहले का है' इसे सिद्ध करने के लिए नीचे लिखे प्रमाण दिये जाते हैं—

(१) महाभारत में रामोपाख्यान का मिलना। कहते हैं कि रामोपाख्यान वाल्मीकि-रामायण का संक्षेप है।

(२) महाभारत में राम से सम्बद्ध स्थानों का तीर्थ रूप में प्रतिष्ठित होना। ये तीर्थ शृंगवेरपुर और गोप्रतार हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों में से दूसरा तो सर्वथा तर्कविहीन है। राम कभी हुए हों, उनकी कथा समाज में प्रचलित थी। उनके व्यक्तित्व से भावित तीर्थ राम के समय से उस समय तक सुपरिचित रहे, जब महाभारत की रचना हुई। यह कैसे मान लिया

जाय कि वाल्मीकि की कलम चलने के पहले शृङ्गवेरपुर और गोप्रतार तीर्थ नहीं बन चुके थे। ऐसे लचर प्रमाणों से ग्रन्थों के निर्माण-काल का निर्णय असम्भावित है।

रामायण को महाभारत से पहले रचा हुआ बताने वाले दुर्बल प्रमाणों का भी अभाव नहीं है, यथा—(१) सती-प्रथा रामायण में नहीं है, पर महाभारत में है। देश के किसी एक भाग में सती-प्रथा हो सकती है और उस देश में रचे हुए ग्रन्थ में सती-प्रथा का वर्णन हो सकता है। किसी दूसरे भाग में सम्भव है कि सती-प्रथा का प्रचलन न हो। ऐसी परिस्थिति में वहाँ रचे हुए ग्रन्थ में सती-प्रथा का वर्णन नहीं मिलेगा। इस प्रकार रामायण का महाभारत से पहले होना कदापि सिद्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में विण्टरनित्ज का कहना है—In the old genuine Mahabharata the burning of widows is just as much absent as in the genuine Ramayana, whilst there are allusions to it in the later portions of the Ramayana; though less frequent than in the Mahabharata.

हमें तो रामायण महाभारत से पीछे का प्रतीत होता है। इसका कारण है कि जय, भारत और महाभारत की परम्परा १००० ई० पू० तक जा पहुँचती है। इतना पुराना मूल है महाभारत का। अब देखना है कि वाल्मीकि रामायण का जो काव्य-स्तर है, वह क्या १००० ई० पू० का है ? कदापि नहीं। किसी भी तत्कालीन प्राप्त साहित्य में न तो इतनी उच्चकोटि के काव्यांश मिलते हैं और न उनके उल्लेख ही मिलते हैं। सर्वप्रथम जो काव्य मिलता है वह है अश्वघोष का पहली शती ईसवी का। रामायण को अश्वघोष की रचनाओं से बहुत पीछे नहीं ले जाया जा सकता। मेरी समझ में अश्वघोष से अधिक-से-अधिक ५०० वर्ष वाल्मीकि को रखना समीचीन है। विण्टरनित्ज का नीचे लिखा अभिप्राय भी उपर्युक्त मत का समर्थन करता है—This is in harmony with the circumstance that the metre (the Sloka) of the Ramayana appears to represent a later stage of development than that of the Buddhist Pali poetry, and that it approximates more nearly to the metre of the later portions of the Mahabharata.

उपर्युक्त विचारणा के साथ विण्टरनित्ज ने असन्दिग्ध मत दिया है कि रामायण कालिदास के निकट और महाभारत से दूर पड़ता है। इसे हम अधिक प्राचीन नहीं मान सकते।

महाभारत में रामायण का प्रभाव यत्र-तत्र दिखाई देता है। इससे हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि जब महाभारत का आधुनिक रूप सम्पन्न हुआ, उसके सैकड़ों वर्ष पहले ही से रामायण की उपजीव्यता और आदरणीयता प्रतिष्ठित हो

चुकी थी । विण्टरनित्ज के मतानुसार वाल्मीकि ने तीसरी शती ई० पू० में प्राचीन आख्यानों के आधार पर रामायण का प्रणयन किया। अनेक आलोचकों ने स्पष्ट प्रमाणित किया है कि पहली शती ई० के अश्वघोष के महाकाव्य—बुद्धचरित और सौन्दरनन्द—पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि पहली शती में रामायण को सर्वोच्च समादर प्राप्त हो चुका था।

चतुर्थ अध्याय

अश्वघोष

कवि-परिचय

साकेत (अयोध्या) वासी अश्वघोष सुवर्णाक्षि के पुत्र बौद्ध भिक्षु उपाधि से अलंकृत होने में ही सर्वोच्च गौरव मानते थे, जैसा उनके महाकाव्यों की सर्गान्त टिप्पणियों से स्पष्ट है। चीनी अनुश्रुतियों और साहित्यिक परम्पराओं के अनुसार अश्वघोष कनिष्क का समकालीन और उसका परामर्शदाता भी था। साधारणतः कनिष्क प्रथम शती ईसवी का माना गया है। इस प्रकार अश्वघोष को प्रथम शती ई० का मान सकते हैं। सम्भवतः प्रथम शती के पूर्वार्ध में उसने अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया।

इतिहास में कम-से-कम दो कनिष्कों के उल्लेख मिलते हैं। द्वितीय कनिष्क प्रथम कनिष्क का पौत्र था। इन दो कनिष्कों के सनाम होने से उनका तिथि-सम्बन्धी विकल्प विशेष महत्त्व प्राप्त कर चुका है। दुर्भाग्यवश कनिष्क का समय अभी तक असन्दिग्ध रूप से निर्णीत नहीं है। विण्टरनित्ज ने सभी प्रमाणों का परीक्षण करके निर्णय दिया है कि कनिष्क १२५ ई० में सिंहासन पर अधिष्ठित हुआ। ऐसी परिस्थिति में उनके मतानुसार अश्वघोष का प्रादुर्भाव दूसरी शती ई० में हुआ।

अधिकतर विद्वानों का मत है कि कनिष्क शक संवत् का प्रवर्तक है। यह संवत्सर ७८ ई० से आरम्भ हुआ। कीथ इसी मत के अनुसार अश्वघोष को १०० ई० के लगभग मानते हैं। कनिष्क की यही तिथि मानने वाले फर्ग्युसन, ओल्डनबर्ग, रैप्सन आदि हैं।

व्यक्तित्व

अश्वघोष ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। उसने उस धर्म के प्रचार के साधन रूप में काव्य शैली को अपनाया।

अश्वघोष वस्तुतः दार्शनिक था और जीवन-दर्शन को उसने अपने काव्यों में सर्वत्र अभिव्यक्त किया है। सौन्दरनन्द के अन्त में इसी तथ्य को निदर्शित किया गया है—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः,
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।

यन्मोक्षात्कृतमन्यत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतम्,
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥ सौन्दरनन्द १८।६३

अश्वघोष ने मोक्षमार्ग-परार्थ को काव्य के धर्म के द्वारा प्रकट किया है। इससे दार्शनिक और धार्मिक तत्त्वों का ग्रहण उसी प्रकार से सहज-सम्भव हुआ जिस प्रकार कड़वी दवा को पिलाने के लिए उसमें मधु मिलाने की आवश्यकता रहती है। काव्य-धर्म मधु है। मोक्षोपदेश कड़वी दवा है। अतः काव्य के माध्यम से मोक्षोपदेश मधु-मिश्रित कड़वी दवा पिलाना है। मुक्ति की चर्चा करने वाली यह कविता शान्ति के लिए है। इसमें विलास का स्थान नहीं है। काव्य-रूप में यह इसीलिए लिखी गई है, कि वे श्रोता जिनका मन अन्य विषयों की ओर दौड़ता है, इसको पढ़ें। अश्वघोष की रचनाओं में काव्य और दर्शन का समन्वय है। पाठक एक ओर काव्य का रसास्वाद करता है तो दूसरी ओर वह उसके साथ ही साथ दार्शनिक विचारों, और तत्त्वों से भी अवगत होता जाता है। अश्वघोष का व्यक्तित्व समन्वयवादी था।

बुद्धचरित और सौन्दरनन्द में अश्वघोष की दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं की झलकियाँ प्राप्त होती हैं। निम्नाङ्कित विभागों में हम उनका आकलन कर सकते हैं—

अश्वघोष ने बौद्ध दार्शनिक के रूप में सर्वत्र जीवन की अनित्यता का उल्लेख किया है—

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः
क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते
जलं नदीनां च नृणां च यौवनम् ॥

(चन्द्रमा और ऋतुओं के समान नदियों का जल और मनुष्य का यौवन नहीं है। चन्द्रमा क्षय को प्राप्त होने के बाद पुनः उदय को प्राप्त करता है। ऋतु व्यतीत हो जाती है परन्तु वह पुनः आती है। किन्तु नदियों का बहा हुआ जल और मनुष्य का व्यतीत यौवन पुनः नहीं लौटते।)

सौन्दरनन्द की अपेक्षा बुद्धचरित में दार्शनिक तत्वों का आधिक्य है। बारहवें सर्ग में अश्वघोष ने बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों को बीजरूप में उपन्यस्त किया है। सांख्य मत का भी दिग्दर्शन कराया है—

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद ।
पञ्च भूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥ बुद्धचरित १२.१८

'हे प्रकृति के जानने वाले ! पाँचों भूत, अहंकार, बुद्धि तथा अव्यक्त को प्रकृति समझो ।'

बौद्ध दर्शन के दुःखवाद को सौन्दरानन्द के सोलहवें सर्ग में समझाया गया है। इसमें अश्वघोष ने दुःखवाद की भूमिका को लौकिक दृष्टान्तों को लेकर समझाया है। जिस प्रकार वायु आकाश में रहती है, अग्नि शमी के पेड़ में निवास करती है, पानी पृथ्वी के भीतर रहता है, उसी प्रकार शरीर में दुःख रहता है। जब तक शरीर है, तब तक दुःख का भी अस्तित्व है । शरीर का स्वाभाविक धर्म दुःख है।[१] संसार दुःखमय है, अतः दुःखात्मक संसार से सदा के लिए छुटकारा प्राप्त कर लेना ही निर्वाण या मोक्ष है। निर्वाण के पश्चात् आत्मा को पूर्ण शान्ति प्राप्ति होती है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ सौन्दरनन्द १६.२८

जिस प्रकार दीपक तेल के क्षय के कारण शान्ति प्राप्त करता है, उसी प्रकार आत्मा निर्वाण की दशा में न तो पृथिवी में जाती है, न अन्तरिक्ष में, न दिशा और न किसी विदिशा में, अपितु शान्ति प्राप्त करती है।[२]

निर्वाण चाहने वाले को काम-विजय करना पड़ता है। संसार ही काम का विस्तृत राज्य है। संसार को जीतने के पश्चात् ही परम शान्ति की प्राप्ति होती है। नन्द संन्यासी बनने के पश्चात् भी गृहस्थ बनने की अभिलाषा प्रकट करता है। इस पर कवि उस लालसा का तिरस्कार करता हुआ कहता है—

'कृपणं बत यूथलालसो
महतो व्याध-भयात् विनिःसृतः ।
प्रविवत्सति वागुरां मृग-
श्चपलो गीतरवेण वञ्चितः ॥ सौन्दरनन्द ८.१५

'बड़े दुःख की बात है कि महान् व्याध के भय से छुटकारा पाया हुआ चपल

---

१. सौन्दरानन्द १६.११-१२.
२. वही १६।२९.

मृग, झुंड की लालसा से युक्त तथा गीत-ध्वनि से ठगा हुआ फिर से जाल में फंसना चाहता है।"

इसी प्रकार अन्यत्र भी बौद्ध दर्शन के दार्शनिक तत्वों का विवेचन किया गया है। कहीं-कहीं दार्शनिक तत्वों के प्रतिपादन के कारण विषय वस्तु में नीरसता आ गई है।

धार्मिक तत्वाङ्कन

धार्मिक तत्वों का विवेचन पर्याप्त मात्रा में किया गया है। भगवान् बुद्ध के उपदेशों में कवि अधिक रुचि प्रदर्शित करता है। अश्वघोष को भगवान् बुद्ध के उपदेशों को काव्यात्मक शैली में निबद्ध करना था और इसमें कवि को पर्याप्त मात्रा में सफलता मिली है। 'सूत्रालङ्कार' नामक कृति अश्वघोष की रचना मानी जाती है। इसमें कवि ने एकमात्र बौद्ध धर्म के उपदेशों को सुगमता से हृदयंगम कराने के लिए अनेक प्राचीन आख्यायिकाओं की अवतारणा की है। अश्वघोष के प्रसिद्ध तीनों ग्रन्थों में धार्मिक तत्वों का अङ्कन हुआ है। काव्य की रचना के मूल में धार्मिक उत्साह प्रधान था। अश्वघोष अन्य धर्मों के प्रति भी श्रद्धा रखते थे।

पौराणिक ब्राह्मण धर्म के प्रति कवि नितान्त सहिष्णु है। उसने अपने स्वतंत्र विचारों के साथ ब्राह्मण धर्म तथा पौराणिक साहित्य के प्रति अपनी अभिरुचि प्रकट की है। उसका पर्याप्त ज्ञान उसे था। पौराणिक आख्यानों, घटनाओं एवं वृत्तों का संकेत अश्वघोष स्थल-स्थल पर करते हुए आगे बढ़ते हैं। राम-कथा, शिव-पार्वती-कथा, स्वर्ग, इन्द्र, देवता अप्सराओं आदि की पौराणिक मान्यताओं के संकेत प्राप्त होते हैं। जिस समय बुद्ध छन्दक को लेकर वन को चले गये और फिर केवल छन्दक ही लौट कर आया, उस समय समस्त प्रजा ने उसी प्रकार आँसू गिराये, जैसे पहले राम के वन-गमन पर केवल सारथी के लौटने पर आँसू गिराये थे। छन्दक वन में बुद्ध से इसी घटना का इस प्रकार संकेत करता है—

"नास्मि यातुं पुरं शक्तो दह्यमानेन चेतसा।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम्॥" बुद्धचरित ३.३७

अतः रामायण और महाभारतादि ग्रन्थों का प्रभाव अश्वघोष पर परिलक्षित होता है।

१. बुद्ध चरित ८.८

वातावरण का प्रभाव

अश्वघोष प्रथम शती में महाराज कनिष्क के आश्रय में बौद्ध सम्प्रदाय का महान् आचार्य था। उसकी रचनाओं को राज्याश्रय प्राप्त था। राजकीय वातावरण का प्रभाव कवि पर है। अश्वघोष से पहले के महाकवि साधारणतः वनवासी महर्षि थे। यही कारण है कि रामायण और महाभारत विशाल समाज के अनुरूप विशाल हैं। उनके रचयिताओं के समक्ष प्रधान रूप से समाज था, किन्तु अश्वघोष और परवर्ती कवियों के समक्ष राज सभा थी, जिसमें सीमित क्षेत्र की चाहता होती है। ऐसे वातावरण में जिन महाकाव्यों का प्रणयन हुआ, उनका स्वरूप लघु होना स्वाभाविक ही था।

संस्कृत में महाकाव्य के रूप की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा वाल्मीकि की रामायण में हुई। रामायण वास्तव में अपने कोटि की अनुपम रचना है और वह परवर्ती युग के महाकाव्यों की तुलना में रूप-विन्यास और काव्य-कौशल की दृष्टि से इतनी ऊँची पड़ती है कि इसे अन्य महाकाव्यों के साथ नहीं रखा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में उसे आदिकाव्य नाम देकर एक अद्वितीय कोटि का ग्रन्थ मान लिया गया।

वाल्मीकि के पश्चात् सर्वप्रथम उल्लेखनीय महाकवि अश्वघोष हैं, जिनकी रचनायें—बुद्धचरित और सौन्दरनन्द महाकाव्य हैं। इन दोनों महाकाव्यों के स्वरूप की परिपक्वता देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी पृष्ठभूमि में पूर्ववर्ती युग के महाकाव्यों की परम्परा अवश्य ही विद्यमान रही होगी। आज उन पूर्ववर्ती महाकाव्यों का अस्तित्व नहीं रहा।

महाकाव्य

कथावस्तु

बुद्धचरित में गौतम बुद्ध के जन्मकाल से लेकर उनके निर्वाण प्राप्त करके धर्मोपदेश देने तक की चरित-गाथा साङ्गोपाङ्ग विधि से कही गई है। इस महाकाव्य का कथा-सूत्र इस प्रकार है—कपिलवस्तु जनपद के शाक्यवंश में महाराज शुद्धोदन की महारानी माया लुम्बिनी वन में विहार करने के लिए गई थी। उसी वन के पावन वातावरण में उसे पुत्र हुआ। ब्राह्मणों ने तत्कालीन प्राकृतिक शकुनों के शुभ लक्षणों का विचार करके भविष्यवाणी की कि यह ऋषि होगा अथवा सम्राट् बनेगा। वृद्ध महर्षि असित ने राजा से स्पष्ट ही कह दिया कि तुम्हारा पुत्र बोध के लिए उत्पन्न हुआ है। बालक को देखते ही असित की आँखों से अश्रुप्रवाह होने लगा। उन्होंने अपने शोक का कारण बताया कि जब यह बालक युवावस्था में धर्म-प्रवर्तन करेगा तो उससे लाभ

उठाने के लिए मैं नहीं रहूँगा। बालक का नाम सर्वार्थसिद्ध रखा गया। शैशव से ही उस बालक को सांसारिक भोग-विलासों में आसक्त करने की चेष्टा की गई। उसे राजप्रासाद के भीतर ही रखा जाता था, घूमने नहीं दिया जाता था। उसका विवाह यशोधरा नामक सुन्दरी से कर दिया गया। सर्वार्थसिद्ध का यौवन गृहस्थाश्रम में आदर्श रहा। यशोधरा को एक पुत्र राहुल हुआ।

सर्वार्थसिद्ध घर में बन्द न रखे जा सके। वे विहार-यात्रा के लिए बाहर निकले। देवताओं ने उनके द्वारा देखे जाने के लिए एक जीर्ण पुरुष को राजमार्ग पर खड़ा कर दिया। जीवन में पहली बार सर्वार्थसिद्ध ने जो वृद्ध पुरुष देखा तो उसके विषय में जिज्ञासा हुई और यह जानकर कि सबकी अन्तिम गति ऐसी ही बुरी है, वे उद्विग्न हो उठे। उन्होंने कहा—यदि ऐसा है तो मुझे उद्यान-भूमि में कहाँ से आनंद प्राप्त होगा? वे लौट आये। रूप का नाश करने वाले बुढ़ापा के विषय में बहुत दिनों तक सोचा, फिर मनोरंजन के लिए बाहर निकले तो देवताओं ने सामने रोगी प्रस्तुत कर दिया। सारथि ने उन्हें बताया कि सारे संसार में कोई भी रोग-मुक्त नहीं है। सर्वार्थसिद्ध ने सोचा—कितना विशाल अज्ञान इन मनुष्यों का है, जो रोग-शोक में पड़े हुए भी हँसते हैं? वे लौट पड़े।

तीसरी बार की विहार-यात्रा में सर्वार्थसिद्ध ने देखा कि सामने एक मृत व्यक्ति का शव जा रहा है। सारथि ने उसके विषय में बताते हुए कहा कि अन्त में सब का विनाश अवश्यंभावी है। सर्वार्थसिद्ध ने कहा कि अपना विनाश जानते हुए कोई कैसे विहार करेगा! सारथि ने उनकी अनिच्छा होने पर भी उन्हें विहार-भूमि में पहुँचाया। जहाँ सुन्दरियों का जमघट उनके मनबहलाव के लिए आयोजित था। उनके प्रति सर्वार्थसिद्ध आकृष्ट नहीं हुए, क्योंकि उनके मन में तो एक बात थी कि मरना है—क्या ये स्त्रियाँ यौवन को क्षणिक नहीं समझ रही हैं? वे रूप से प्रमत्त हो रही हैं, यद्यपि उसे जरा नष्ट कर देगी। मृत्यु अवश्यंभावी है—यह जानते हुए जो मनुष्य कामासक्त है, उसकी बुद्धि को मैं लोहे की बनी समझता हूँ।

सर्वार्थसिद्ध की अन्तिम विहार-यात्रा के समय एक संन्यासी सामने आ खड़ा हुआ। उसने कहा कि मैं जन्म-मरण से डरकर संन्यासी बन गया हूँ। संन्यासी का आदर्श सर्वार्थसिद्ध को उचित लगा। वे लौटकर राजा से संन्यास लेने की अनुमति माँगने लगे। राजा ने अनुमति नहीं दी। वे उनको गृहस्थाश्रम में रखने के लिए प्रमदाओं का झुण्ड लगाकर भी चिन्तित रहने लगे। सर्वार्थसिद्ध ने उन प्रमदाओं का विवृत और विकृत रूप जो देखा तो उनके मन में विचार उठा—जीव-लोक में स्त्रियों का ऐसा अपवित्र और विकृत स्वभाव है। फिर भी वस्त्रों और आभूषणों से ठगा हुआ पुरुष उनसे अनुराग करता है।

सर्वार्थसिद्ध ने सारथि छन्दक को लिया और कन्थक घोड़े की पीठ पर बैठकर नगर के बाहर अर्धरात्रि में निकलते हुए कहा--जन्म और मृत्यु का पार देखे बिना कपिल नाम की नगरी में फिर प्रवेश नहीं करूँगा।

नगर से दूर पहुँचकर सर्वार्थसिद्ध ने अपने को छन्दक और कन्थक के बन्धन से भी मुक्त किया और तपोवन में ऋषियों और आचार्यों के पास अपनी समस्या सुलझाने पहुँचे। उन तपस्वियों की स्वर्ग-प्रदायिनी वृत्ति से उन्हें सन्तोष न हुआ। एक मुनि के निर्देशानुसार वे विन्ध्यवासी अराडमुनि के पास मोक्ष-धर्म सीखने के लिए चल पड़े। मार्ग में राजगृह में बिम्बसार ने उन्हें आधा राज्य देकर पुनः गृहस्थ बनाने का प्रस्ताव सामने रखा, पर सर्वार्थसिद्ध की इसमें कहाँ रुचि थी। उन्होंने कहा—जैसे हड्डी चबाकर भी भूखे कुत्ते तृप्त नहीं होते, वैसे ही जिन्हें भोगकर भी लोग तृप्त नहीं होते, उन भोग-विलासों में किस आत्मवान् को सुख-शांति मिलेगी? राजा ने निवेदन किया कि सफल होने पर आप मेरे ऊपर भी अनुग्रह करें। अराड ने उन्हें सांख्य-योग की शिक्षा दी। अराड के उपदेशों में सर्वार्थसिद्ध को शाश्वत मोक्ष-पथ नहीं दिखाई दिया।

सर्वार्थसिद्ध वहाँ से गयाश्रम पहुँचे। वहीं उन्हें सेवा करने के लिए प्रस्तुत पाँच भिक्षु मिले। आश्रम में गौतम ने तप करना आरम्भ किया। तप से उन्हें लाभ नहीं हुआ। उन्होंने समझ लिया कि इन्द्रियों को कष्ट देकर मोक्ष नहीं पाया जा सकता, क्योंकि सन्तप्त इन्द्रिय और मन वाले व्यक्ति की समाधि पूर्ण नहीं होती। वे समाधि की महिमा से प्रभावित थे। तप छोड़कर उन्होंने समाधि का पथ अपनाया तो उन्हें काम की सेना के रूप में लौकिक प्रलोभनों की प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ा। यही सर्वार्थसिद्ध का मार से युद्ध था। उन्हें ध्यान के माध्यम से सफलता मिली। यही उनका अविनाशी पद था। वे सर्वज्ञ हुए।

इस महाकाव्य में सरस वर्णनों के नीचे लिखे प्रकरण हैं—अन्तःपुर-विहार, उपवन-विहार, वृद्धदर्शन, रोगी का दर्शन, मृतक का दर्शन, कामिनियों के द्वारा मनोरंजन, वनभूमि का दर्शन, श्रमणोपदेश, सुन्दरियों का विकृत रूप-दर्शन, महाभिनिष्क्रमण, वन-यात्रा, छन्दक-कन्थक-विसर्जन, तपस्वियों से वार्तालाप, अन्तःपुर-विलाप, मार-पराजय। उपर्युक्त सभी विषयों का काव्योचित शैली में वर्णन करके काव्य-सौष्ठव की संवर्धना की गई है।

सौन्दरनन्द महाकाव्य का कथानक अंशतः बुद्ध-चरित से मिलता-जुलता है। इसके अनुसार कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन की रानी माया ने कुमार सर्वार्थसिद्ध को

जन्म दिया और छोटी रानी से नन्द की उत्पत्ति हुई। नन्द का उपनाम सुन्दर भी था। सिद्धार्थ ने विराग होने पर प्रव्रज्या ली और नन्द विषयों में आसक्त रहने वाला नागरिक बना। सिद्धार्थ को अन्तिम सफलता मिली। उन्होंने मोक्ष का सच्चा मार्ग पा लिया। इसके पश्चात् काशी में उन्होंने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और गया तथा राजगृह में असंख्य लोगों को सत्पथ का दर्शन कराया। सिद्धार्थ अब बुद्ध थे।

गौतम बुद्ध धर्मोपदेश करते हुए जब कपिलवस्तु पहुँचे तो वहाँ शुद्धोदन उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर आये और उनके शिष्य बन गये, पर नन्द कामासक्त होकर अपनी प्रियतमा सुन्दरी के साथ विहार कर रहे थे। वे आये नहीं। स्वयं गौतम बुद्ध भिक्षा के लिए नन्द के घर पहुँचे। वहाँ सभी लोग नन्द और सुन्दरी की क्रीडा-प्रसाधना में इतने व्यग्र थे कि किसी को बुद्ध की ओर देखने का भी अवसर नहीं मिला। गौतम के चले जाने पर नन्द से किसी ने बताया कि गौतम आये थे और चले गये। नन्द इस समाचार से काँपने लगे। वे गौतम को प्रणाम-मात्र करने के लिए प्रासाद से बाहर निकले। मार्ग में भीड़ गौतम का अभिनन्दन कर रही थी। एकान्त मार्ग पर नन्द ने उन्हें प्रणाम किया और कहा कि आपकी भिक्षा यथासमय मेरे घर पर हो। नन्द इस निवेदन के पश्चात् लौटना चाहता था, तभी गौतम ने उसे अपना भिक्षा-पात्र दे दिया। पर नन्द तो भिक्षा-पात्र हाथ में लिए हुए भी सुन्दरी के आकर्षण से घर की ओर खिंच रहा था। गौतम के उपदेश से वह फिर उनके पीछे-पीछे चलने लगा। वे दोनों विहार में पहुँचे। गौतम ने काम-भोगों की तुच्छता और नश्वरता पर व्याख्यान देकर नन्द से 'ठीक है' कहलवा लिया। फिर आनन्द ने उसे प्रव्रजित करा दिया। यद्यपि नन्द ने कहा कि मैं प्रव्रज्या नहीं ग्रहण करूँगा, गौतम के बारंबार कहने पर रोते हुए उसने अपना मुंडन करवाया।

नन्द ने भिक्षु-वेष धारण तो किया, पर सुन्दरी का ध्यान आते ही वह विलाप करने लगता था। उसका अन्तिम निर्णय था—सुन्दरी के पास घर लौट जाऊँगा। इसी बीच एक हितैषी श्रमण नन्द की अधीरता देखकर उसका मनोभाव जानने के लिए उसे लतागृह में ले गया। नन्द ने कहा—प्रियतमा के बिना धर्म मुझे नहीं सुहाता। श्रमण ने ऐन्द्रियक भोग-विलासों की तुच्छता की निन्दा की और उच्चतर आध्यात्मिक जीवन की प्रशंसा की। फिर भी नन्द अपने निश्चय से जब नहीं विचलित हुआ तो वह गौतम बुद्ध के दृष्टिपथ में लाया गया।

गौतम नन्द को योग-बल से हिमालय पर ले गये। वहाँ पर्वत पर एकाक्षी वानरी को दिखाकर गौतम ने नन्द से पूछा—यह वानरी अधिक मनोरम लगती है या तुम्हारे मन में बसी हुई सुन्दरी? नन्द ने उत्तर दिया—कहाँ वह उत्तम स्त्री

आपकी वधू और कहाँ पेड़ को पीड़ा पहुँचाने वाली वानरी ! इसके पश्चात् बुद्ध नन्द के साथ अप्सरा-लोक में पहुँचे। उस लोक को नित्य उत्सवमय और रोगरहित देखकर नन्द ने मानव-लोक को श्मशान के समान समझा। वहाँ अप्सराओं को देखकर नन्द उनके अनुराग में सन्तप्त होने लगा। गौतम ने फिर वही प्रश्न किया—अप्सराओं और तुम्हारी सुन्दरी में कौन अच्छा है ? नन्द ने कहा—हे नाथ ! एक आँख से रहित वह वानरी सुन्दरी से जितने अन्तर पर है, उतने ही अन्तर पर सुन्दरी इन अप्सराओं से है। इन अप्सराओं को देखने के पश्चात् मुझे अब सुन्दरी की चाह नहीं। गौतम ने कहा—यदि तुम इन स्त्रियों की इच्छा करते हो तो शुल्क देने के लिए उत्तम तप करो।

नन्द तपस्या करने लगा। उसका चित्त अप्सराओं के चक्कर में पड़कर सुन्दरी को भूल गया। एक दिन आनन्द ने उससे पूछा—क्या यह सच है कि तुम अप्सराओं को प्राप्त करने के लिए तप करते हो ? यदि सच है तो तुम्हारी सहायता करूँगा और यदि झूठ है तो झूठ बोलने वालों को डाँट लगाऊँगा।

नन्द ने कुछ कहने के पहले ही लम्बी साँस ली, मुँह नीचे कर लिया। बस; इतने से ही आनन्द ने उसके मनोभाव को समझ लिया और कहा कि तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य-पालन अब्रह्मचर्य के लिए है। मन से अब्रह्मचारी रहते हुए भी तुम्हारा ब्रह्मचर्य तो निराला ही है। यदि तुम आनन्द चाहते हो तो मन को अध्यात्म में लगाओ। अस्थायी स्वर्ग के प्रति रुचि मत रखो।

नन्द अप्सराओं को देखकर सुन्दरी को भूला। उसी प्रकार स्वर्ग को अनित्यता से उद्विग्न होकर उसने नित्य और स्थायी आध्यात्मिक आनंद की ओर मन को लगाया। वह गौतम बुद्ध के पास गया और कहने लगा—मुझे आपके परम धर्म में रमण करना है। स्वर्ग के सुखों के प्रति मेरी अनास्था है। गौतम ने कहा—तुम श्रद्धा-अंकुर को बढ़ाओ, शील और इन्द्रिय-संयम का प्रतिपालन करो। योगाभ्यास करो। उद्योग में ही सभी समृद्धियाँ बसती हैं। गौतम का उपदेश सुनकर नन्द वन चला गया। वहाँ योग-विधि से उसका चित्त प्रशांत हो गया। उसके मन में गौतम के प्रति इस प्रकार भाव उठे—गौतम ने मेरे बहुत से दुःख दूर किये और असीम सुख दिये। उस दयालु महर्षि बुद्ध को पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ।

नन्द गौतम बुद्ध के पास पहुँचा और प्रणाम करके कहने लगा—आपके उपदेश से मैं सन्मार्ग पर आ गया हूँ। गौतम ने हर्ष प्रकट करते हुए कहा—तुमने अपना कार्य पूरा कर लिया है, तुम परम गति प्राप्त कर चुके हो। हे सौम्य ! दूसरों को भी मुक्त करते हुए अनुकम्पापूर्वक विचरण करो। तब तो नन्द पूर्ण रूप से मोक्ष-पथ का उपदेशक बन गया।

सौंदरनन्द में कपिलक्षेत्र, कपिलवस्तु नगरी, राजा शुद्धोदन, पुत्र-जन्म, नन्द और सुन्दरी का परस्पर-विहार, सुन्दरी का विलाप, नंद का विलाप, ऐन्द्रियक भोगों की तुच्छता का विवेचन, स्त्री-स्वभाव, कामिनी-सुलभ कामुकता की निन्दा, ममत्व की निन्दा, हिमालय, नन्दन-वन, स्वर्ग की तुच्छता, विवेक, शील, इन्द्रिय-संयम, आहार-विहार की मध्यमा प्रतिपदा, वितर्क-प्रहाण और आर्यसत्य आदि का काव्यात्मक वर्णन यथावसर मिलता है।

सौंदरनन्द में हृदय की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को ठीक विपरीत दिशा में मोड़ देने की जैसी मार्मिक प्रक्रिया मिलती है, वह विश्व की संस्कृति के इतिहास में अन्यत्र अप्राप्य ही है।

रूपक

कथावस्तु

अश्वघोष का विख्यात नाटक शारिपुत्र-प्रकरण है। इसकी कथा सौन्दर-नन्द से मिलती-जुलती है। इसमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बौद्ध संस्कृति अपनाने का वृत्तान्त मिलता है। एक दिन शारिपुत्र अश्वजित् से मिलकर बौद्ध संस्कृति की उच्चता का परिचय प्राप्त करता है। दूसरे दिन वह अपने मित्र से बौद्ध बनने के सम्बन्ध में परामर्श करता है। विदूषक कहता है कि तुम ब्राह्मण होकर क्षत्रिय जाति के बुद्ध से क्या शिक्षा लोगे? शारिपुत्र उत्तर देता है कि औषधि नीच से भी ली जाय तो लाभ ही करती है। मौद्गल्यायन भी शारिपुत्र के जीवन के इस नये अध्याय की चर्चा शारिपुत्र से ही सुनता है। दोनों गौतम के शिष्य बन जाते हैं। अन्त में शारिपुत्र और गौतम के जीवन-दर्शन विषयक प्रश्नोत्तर चलते हैं, जिसमें आत्मा की अमरता का खण्डन किया गया है। अन्त में गौतम अपने नये शिष्यों की प्रशंसा करते हुए उन्हें आशीर्वाद देते हैं।

इस नाटक में भारतीय नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का स्वीकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नायक शारिपुत्र का ब्राह्मण होना, गौतम बुद्ध और उनके शिष्यों आदि का संस्कृत बोलना, विदूषक का प्राकृत बोलना, संवादों में गद्य-पद्य दोनों का होना और प्रकरण में नव अङ्कों का होना आदि प्रकरण के परिशोधित रूप में विकसित होने का पर्याप्त लक्षण प्रस्तुत करते हैं। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि अश्वघोष अपने काव्य का किसी शास्त्रीय विधान के अनुरूप निर्माण कर रहे हैं।

दूसरे नाटक का नामादि नहीं मिलता। फिर भी अपनी कोटि की निराली रचना होने के कारण इसका महत्व विशेष है।[१] इसमें बुद्धि, कीर्ति, धृति आदि भावों का मानवीकरण करके उनके संवादों के माध्यम से मानव की भावनाओं को उदात्त बनाने की योजना प्रस्तुत की गई है। अन्त में गौतम बुद्ध के आगमन से नाटक का अन्त होता है।

अश्वघोष का तीसरा नाटक भी आज खण्डित अवस्था में ही मिलता है। इसके खण्डित भागों को देखने से ज्ञात होता है कि यह अपने युग का एक अत्यन्त लोकप्रिय नाटक रहा होगा। दो हजार वर्ष पुराने इस नाटक में आज भी लोकरुचि के परितोष के लिए पर्याप्त सामग्री है। यद्यपि यह नाटक धार्मिक परिवेश को लेकर चलता है फिर भी इसमें हास्य की प्रचुर सामग्री विद्यमान है। इसके पात्रों को ही लीजिये। सम्भवतः सोमदत्त नामक नायक, मगधवती नाम की वेश्या, कोमुदगन्ध नाम का भूखा विदूषक, श्री दुष्ट जी, धनंजय नामक सम्भवतः एक राजकुमार, एक परिचारिका तथा गोबम् और इनके साथ हैं भिक्षुव्रती शारिपुत्र और मौद्गल्यायन। नाट्य-स्थली है जीर्णोद्यान, वेश्या का घर और पर्वतीय वन, जहाँ पर समाज नामक मनोरंजन का आयोजन है।

उपर्युक्त समस्त विन्यास को देखने से यह नाटक उस परम्परा के मूल में प्रथम ही कहा जा सकता है, जिसमें आगे चल कर भास का चारुदत्त और शूद्रक का मृच्छकटिक लिखे गये।

नाटकों में यथास्थान संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का मिश्रण है। इनमें कहीं-कहीं भाषा सम्बन्धी जो त्रुटियाँ दिखाई देती हैं, वे प्रायः लेखकों की भूलें हैं। फिर भी भाषा पर बौद्ध संस्कृति की छाप तो है ही। इन नाटकों की विविध प्राकृतों का भाषा-विशारदों के लिए विशेष महत्व है, क्योंकि उस युग और रूप की प्राकृत भाषा के दो-चार ही अन्य लेख मिलते हैं। नाटकों में बहुविध छन्दों का उपयोग हुआ है, जिनमें से श्लोक, उपजाति, शालिनी, वंशस्थ, प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी, हरिणी, शार्दूल-विक्रीडित, स्रग्धरा, सुवदना आदि प्रमुख हैं।

अश्वघोष की नाटकीय वाग्धारा में अवगाहन करने के लिए उसके रूपात्मक नाटक के अंश नीचे दिये जाते हैं। प्रारम्भ में गौतम का व्याख्यान है—'अब तक

---

१. संस्कृत में इस कोटि की प्रथम महत्वपूर्ण रचना १००० वर्षों के बाद की मिली है। वह है कृष्ण मिश्र का प्रबन्ध चन्द्रोदय। इन दोनों के बीच की कड़ी जोड़ने वाले नाटकों की प्राप्ति अभी नहीं हुई।

पुनर्जन्म का कारणभूत दुःख है, तब तक किसी वस्तु का परित्याग न तो किया जा सकता है और न वह जानी जा सकती है। मैं तो उस पुरुष की सराहना करता हूँ, जो परम शान्ति पा चुका है, जो अमर है और जिसने सत्य के दुर्लभ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है।'

बुद्धि—यह सत्य है। मेरी शक्ति से ही वह अमर प्रकाश परावृत है, जिसे मानव कहते हैं और जिसका विश्व में अब उदय हुआ है।

धृति—ये दोनों तो साथ ही रहते हैं बुद्धि और धृति का जोड़ है। वे परस्पर विकासक हैं।

कीर्त्ति—यदि आप दोनों के विषय में यही सत्य हो···

बुद्धि—हाँ, तो बुद्धिहीन निद्रित की भाँति है। धृतिहीन मानो नशे में रहता है·· जो कीर्त्तिहीन हो···

कीर्त्ति—मानव में अब धर्म कहाँ?

बुद्धि—वह मानव, जो स्वयं सम्बद्ध है, जो पक्षी की भाँति आकाश में उड़ता है, निराधार खड़ा हो सकता है, पृथ्वी के गर्भ में जल की भाँति प्रवेश कर सकता है, वह अपने को विभिन्न रूपों में विभक्त कर सकता है। वह आकाश से जल गिराता है। वह सान्ध्य पयोधर की भाँति चमकता है। वह स्वेच्छा से संचरण करता है। वह समीचीन विधि से धर्म का अनुसरण करता है।

बुद्धि—उसी में तब हम आश्रय लेंगे। वे महर्षि (बुद्ध) इस समय मगध के उद्यान में हैं।

काव्य-कला

अश्वघोष संस्कृत साहित्य के ज्ञात कवियों में प्रथम है, जिसने अपनी कथा-वस्तु को वर्णनात्मक उपादानों से अलंकृत करने का सफल प्रयास किया है। इन वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका संयोजन काव्य को रसपूर बनाने के लिए ही किया गया है। इस प्रकार के काव्य को दर्शन और धर्म के व्याख्यान के लिए उपयोगी बना लेना कवि की अपनी निजी विशेषता है। इसके पीछे कवि और नायक के व्यक्तित्व का द्वन्द्व प्रतिष्ठित है। सौन्दरनन्द का वस्तु-विन्यास भारतीय काव्य-

साहित्य में अनुपम कहा जा सकता है। दोनों महाकाव्यों में पाठक के चरित्र-निर्माण की योजना स्पष्ट ही है।

अश्वघोष मानवता को अभ्युदय और मुक्ति का सन्देश देना चाहते थे। वे अपनी निजी सांस्कृतिक निधि को अदम्य उत्साह के साथ वितरित करना चाहते थे। उनके विचारों पर उनके व्यक्तित्व की छाप पद-पद पर मिलती है। उनकी वाणी इस प्रकार उनके व्यक्तित्व की परिधि में गरिमा से ओत-प्रोत है। अश्वघोष ही काव्य की परिधि में नीचे लिखा गौरव प्रतिष्ठित कर सकते थे।

अथ मेरुगुरुर्गुरुं बभाषे यदि
नास्ति क्रम एष नास्मि वार्यः।
शरणाज्ज्वलनेन दह्यमानात्
न हि निश्चिक्रमिषुः क्षमं ग्रहीतुम्।

"तब मेरु पर्वत के समान गौरव पूर्ण सिद्धार्थ ने कहा—यदि यह क्रम नहीं है तो मुझे रोकना ठीक नहीं है। अग्नि से जलते हुए घर से निकलने की इच्छा करने वाले को पकड़ रखना उचित नहीं है।"

गौतम के व्यक्तित्व के अनुरूप ही उस समय सारी प्रकृति उनके विजय में हर्षोल्लसित थी। अश्वघोष ने गौतम की काम-विजय का स्वागत-गान इन शब्दों में किया है—

तथापि पापीयसि निर्जिते गते
दिशः प्रसेदुः प्रबभौ निशाकरः।
दिवो निपेतुर्भुवि पुष्पवृष्टयो
रराज योषेव विकल्मषा निशा॥

(उस पापी के पराजित होकर चले जाने पर दिशायें प्रसादपूर्ण हुई, चन्द्रमा चमकने लगा, आकाश से फूलों की वर्षा हुई और अन्धकार-विहीन रात्रि गौराङ्गना की भाँति विराजमान हुई।)

इन शब्दों में सरलता के साथ ही उत्कृष्ट प्रभाव-शालिता है। बौद्ध धर्म के प्रति सद्भावना है। 'बुद्धचरित' में भगवान् बुद्ध के संघर्षमय जीवन की नाना घटनाओं का अत्यन्त ही सरस और मनोरम चित्रण प्रस्तुत किया गया है। 'बुद्धचरित' की अपेक्षा 'सौन्दरनन्द' में कवि की भाषा स्निग्ध, सरस और प्रसादगुण से परि-

पूर्ण है। विषय गम्भीर और कोमल काव्य भावनाओं का अंकन सौन्दरनन्द में अधिक है। कवि की तूलिका से अंकित चित्र अत्यन्त ही मनोरम हैं।

अश्वघोष ने अलङ्कारात्मक और कलात्मक शैली को नहीं अपनाया, वरं स्वाभाविक काव्यानन्द का पान कराने के लिए ही सरल शैली का आश्रय ग्रहण किया। अश्वघोष के काव्य का लक्ष्य भोग नहीं शान्ति है।[१] अतः काव्य के व्याज से दार्शनिक तत्त्वों का समावेश किया गया है। जितना संभव है, उतना काव्यात्मक रसास्वाद अश्वघोष ने पाठकों को प्रदान किया है।

अश्वघोष चित्राङ्कन में अत्यधिक सफल हैं। बुद्धचरित के चतुर्थ सर्ग में चित्रों की झाँकी सी प्रस्तुत की गई है—

'मुहुर्मुहुर्मदव्याजस्रस्तनीलांशुकापरा ।
आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा ।। बुद्धचरित ४.३३

(मद के बहाने बारंबार अपने नील अंशुक को गिराती हुई, कोई स्त्री, जिसकी करधनी स्पष्ट दिखाई दे रही है, चमकती बिजली वाली रात के समान सुशोभित हो रही है।)

अश्वघोष की भाषा नितान्त सरल और सजीव है। सर्वत्र कोमल भावनाओं का जीता जागता वर्णन अंकित किया गया है। नन्द की अवस्था का स्वाभाविक चित्रण करते हुए कवि कहता है—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष
भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चयात् नापि ययौ न तस्थौ
तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः । सौन्दरनन्द ४.४२

"एक ओर वे बुद्ध के उपदेशों से आकृष्ट हो रहे हैं तो दूसरी ओर उनका पत्नीप्रेम उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। इस अनिश्चय के कारण वे न तो वहाँ से जा सकते थे और न रुक ही सकते थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि नदी की धारा के विरुद्ध तैरता हुआ हंस न तो आगे ही बढ़ता है और न पीछे ही हट सकता है।"

इस उदाहरण से इतना स्पष्ट हो जाता है कि अश्वघोष ने अलंकारों के साथ ही साथ अर्थ पर भी विशेष ध्यान दिया था। वैदर्भी शैली होने के कारण भाषा में माधुर्य और पूर्ण सरसता है। कल्पना का प्रयोग लालित्य से व्याप्त है।

---

१. सौन्दरनन्द १८.६३

अश्वघोष की काव्यात्मक प्रतिभा का पूर्ण परिपाक महाकाव्यों और रूपकों में मिलता है। छन्द, अलङ्कार और रसों के यथोचित सन्निवेश की दृष्टि से अश्वघोष सफल महाकवि हैं।

अश्वघोष के काव्यों में अनेक छन्दों का प्रयोग होने पर भी अनुष्टुप् की प्रमुखता है।

संस्कृत साहित्य में अश्वघोष ने रमणीय उपमाओं का संयोजन किया है। रूपक अलङ्कार का चमत्कार रमणीय है। यथा—

ततः स बोध्यङ्गशिताात्तशस्त्रः
सम्यक्प्रधानोत्तमवाहनस्थः ।
मार्गाङ्गमातङ्गवता बलेन
शनैः-शनैः क्लेशचमूं जगाहे ॥ सौन्दरनन्द १७.२४

"तब ज्ञान के तीक्ष्ण शस्त्र वाले, सम्यक् चरित्र के उत्तम वाहन पर स्थित, नन्द ने मार्गाङ्ग रूपी हाथी से युक्त सेना के द्वारा, शत्रुओं की क्लेशसेना को धीरे-धीरे आक्रान्त कर लिया।"

अश्वघोष मूलतः शान्त रस के कवि हैं। परन्तु शान्त रस के साथ-ही-साथ अश्वघोष ने दोनों काव्यों में शृङ्गार और करुण रस का संचार किया है। अश्वघोष की कवित्व शक्ति शृङ्गार रस के वर्णन में अद्वितीय है। बुद्धचरित की तृतीय और पञ्चम सर्ग में, तथा सौंदरनन्द के चतुर्थ और दशम सर्ग में शृङ्गार का सजीव और चित्रात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। रस के संयोजन में चित्रों का सहारा लेकर उन्हें परिपुष्ट किया गया है। इतना अवश्य है कि जिस प्रकार नायक सिद्धार्थ का मन शृंगारिकता में नहीं रमता है, उसी प्रकार कवि का भी मन उसमें नहीं रमा। शृङ्गार वर्णन में कुत्सित भावनाओं का अङ्कन नहीं हुआ है।

नारी-सौन्दर्य का वर्णन अश्वघोष ने यत्र-तत्र किया है। सौन्दरनन्द के दशम सर्ग में अप्सराओं तथा हिमालय की मनोरम उपत्यका में विचरण करती हुई किन्नरियों का सौन्दर्य-वर्णन सरसता से आप्लावित है। इस प्रकरण में अश्वघोष की अलंकारप्रियता दृष्टिगोचर होती है—

कासांश्चिदासां वदनानि रेजु-
र्वनान्तरेभ्यश्चलकुण्डलानि ।
व्याविद्धपर्णेभ्य इवाकरेभ्यः
पद्मानि कादम्बविघट्टितानि ॥ सौन्दरनन्द १०.३८

'इनमें से कुछ अप्सराओं के चंचल कुण्डल वाले मुख, वन के बीच वैसे ही सुशोभित हो रहे थे, जैसे घने पत्तों वाले तालाबों के बीच हंसों के द्वारा हिलाये हुए कमल।''

बुद्धचरित के अष्टम सर्ग और सौन्दरनन्द के षष्ठ सर्ग में करुण रस का आधिक्य है। जिस समय सूने घोड़े को लेकर छन्दक लौट आता है, उस समय सिद्धार्थ के माता-पिता तथा पत्नी यशोधरा के विलाप का वर्णन अत्यधिक मार्मिक है। छन्दक सिद्धार्थ के समक्ष ही विलाप करता है। वह विलाप करता हुआ लौट रहा है। उस समय की दशा देखिये—

क्वचित्प्रदध्यौ विललाप च क्वचित्
क्वचित्प्रचस्खाल पपात च क्वचित्।

कुमार को देखकर घोड़ा भी आँसू बहाता है। सिद्धार्थ उसको समझाते हुए कहते हैं—

मुञ्च कन्थक मा बाष्पं दर्शितेयं सदश्वता।
मृष्यतां सफलः शीघ्रं श्रमस्तेऽयं भविष्यति॥

विमान-वर्णन में भी करुण का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है—

इमाश्च विक्षिप्तविटंकबाहवः
प्रसक्तपारावतदीर्घनिःस्वनः।
विनाकृतास्तेन सहावरोधनैः
भृशं रुदन्तीव विमानपङ्क्तयः॥ बुद्धचरित ८.३७

''कपोत-पालिका रूपी भुजायें पटकती हुई, बैठे हुए कबूतरों के चिल्लाने के दीर्घ निःश्वास वाली ये प्रासाद-पंक्तियाँ, सिद्धार्थ से वियुक्त होने के कारण दुःखी होकर अन्तःपुरवासियों के साथ मानो अत्यधिक रो रही हैं।''

मोक्ष की ओर सहज ही उन्मुख करने के लिए शान्त रस का समावेश किया गया है। शान्त रस के वर्णन में स्पष्टवादिता झलकती है।[1] वीर रस का समावेश काम के विजय प्रकरण में किया गया है।

अश्वघोष के काव्यों की शैली शुद्ध वैदर्भी है। उनके प्रत्येक वर्णन स्वाभाविक और सजीव तथा प्रभावोत्पादक हैं। इसमें भाव और भाषा का समन्वय किया गया

१. सौन्दरनन्द ८.५१-५२

है। दार्शनिक तत्वों को प्रसाद पूर्ण भाषा में समझाया गया है। काव्यों में भाषा का माधुर्य और भावों का सौन्दर्य अनुपम है और मानवीय मनोभावों का सूक्ष्म वर्णन मिलता है।

प्रकृति-चित्रण

अश्वघोष का ध्यान विशेषतः दर्शन और धर्म की ओर था। अतः प्रकृति-वर्णन में उसने अपनी विशेष अभिरुचि नहीं दिखलाई। तथापि कुछ स्थलों पर प्रकृति का वर्णन बड़ा ही हृदयग्राही है।[1]

महाभिनिष्क्रमण के समय सोती हुई सुन्दरियों के वर्णन में कवि की तूलिका निष्णात है। इस स्थल पर उनका चमत्कार प्रदर्शन, चित्रों की सजीवता, वर्ण-प्रियता आदि पूर्ण मात्रा में अभिव्यक्त हुई हैं। राजकुमार को भौतिक भोग-विलासों से हटाने के लिये राजनीति-शास्त्र का उपयोग किया गया है। ओजस्वी वर्णन युद्ध के प्रसंगों में हुए हैं। उनकी अपनी निजी प्रतिभा के कारण ही उनके काव्यों में स्पष्टता, सरसता, और सजीवता विद्यमान है।

—०—

१. सौन्दरनन्द सप्तम सर्ग

पञ्चम अध्याय

भास

कवि-परिचय

भारत की अवनति के दिनों में भास का नाममात्र उन्नीसवीं शती तक ज्ञात था। इस बीच उनकी कोई रचना सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध नहीं थी। प्राचीन भारत के अनेक महाकवियों ने जिस आदर के साथ भास का नाम लिया है, वह केवल भास को ही नहीं, सारी प्राचीन कवि-परम्परा को गौरवान्वित करता है। ऐसे प्रशंसकों में सर्वप्रथम कालिदास हैं। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में भासादि के सम्बन्ध में 'प्रथितयशसाम्' कहा है। परवर्ती प्रशंसक बाण, वाक्पतिराज, राजशेखर आदि हैं। काव्य-शास्त्र-विधायकों ने भी भास का उल्लेख किया है, जिनमें दण्डी, भामह, वामन और अभिनवगुप्त प्रधान हैं।

१९१२ ई० में गणपति शास्त्री ने सर्व प्रथम उनके नाटकों का सम्पादन किया। कविता-कामिनी के हास रूप में प्रतिष्ठित महाकवि भास का प्रादुर्भाव कब हुआ—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। फिर तो भास का काल-निर्णय एक पहेली है। साहित्य के इतिहास की गवेषणा करने वाले पण्डितों ने भास को ई० पू० ५०० से लेकर ११०० ई० तक रखा है। इस प्रकार १६०० वर्षों के दीर्घ अन्तराल में भास को कहीं निबद्ध कर देना साहस का काम है। प्रत्येक इतिहासज्ञ के अपने-अपने प्रमाण हैं, जो उनको अभीष्ट गन्तव्य तक पहुँचाते हैं। मेरी समझ में भास को ३०० ई० के लगभग रखना समीचीन है। इस सम्बन्ध में मेरा प्रमाण भास के प्रतिमा नाटक पर आधारित है, जिसमें उन्होंने मृत राजाओं की मूर्तियों को प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख किया है। कुषन-युग के पहले राजाओं की मूर्तियों के तक्षण के प्रमाण स्वल्प ही मिलते हैं। कुषन-युग में मथुरा कला-केन्द्र में बनी हुई राजाओं की मूर्तियाँ मिलती हैं। इनमें से कनिष्क, वेमकडफिसीज और चष्टन की मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं। ऐसी मूर्तियों का विशेष प्रचलन कुषन-रीति के द्वारा प्रवर्तित हुआ। ऐसा मान लेने पर भास अनायास ही कुषन-युग और गुप्त-युग के मध्यवर्ती बन कर ३०० ई० में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

कीथ ने भास को ३०० ई० के लगभग नीचे लिखे प्रमाणों के अनुसार रखा है। "कालिदास भास के यश से प्रभावित थे, जैसा उन्होंने स्वयं लिखा है। यदि कालिदास

को ४०० ई० के लगभग मानें तो भास को २०० ई० के पश्चात् नहीं रख सकते। भास प्रथम शती ईसवी के अश्वघोष से पश्चात् के हैं क्योंकि उनकी प्राकृत भाषा अश्वघोष की प्राकृत से पश्चात् की प्रतीत होती है और प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण के एक श्लोक पर बुद्धचरित की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भास की शैली और भाव-विवेचन की रीति अश्वघोष की अपेक्षा कालिदास के अधिक निकट पड़ती है।[1]

भास की तिथियों की विभ्रान्तियों का निदर्शन करें—

१.	गणपति शास्त्री तथा हरप्रसाद शास्त्री—	छठी शती से चौथी शती ई० पू० तक
२.	कोनो, स्वरूप, वेलर	दूसरी शती ई०
३.	बनर्जी, शास्त्री, भण्डारकर, कीथ	तीसरी शती
४.	विण्टरनित्ज	चौथी शती
५.	बार्नेट	सातवीं शती
६.	काणे और कुन्हन राजा	नवीं शती
७.	रामावतार शर्मा	दशवीं शती
८.	रड्डी शास्त्री	ग्यारहवीं शती

भास पर गम्भीर गवेषणा करने वाले पुसाल्कर उन्हें पाँचवीं या चौथी शती ई० पू० में मानते हैं। उनके प्रमुख प्रमाण हैं—

(१) भास के द्वारा आर्यपुत्र शब्द का राजा के अर्थ में प्रयोग। यह अर्थ अशोककालीन है। इसके पश्चात् यह शब्द एकमात्र पति के अर्थ में नाटकों में प्रयुक्त होने लगा।

(२) भास के नाटकों में चित्रित सामाजिक दशा का पाँचवीं या चौथी शती ई० पूर्व का होना।

---

१. स्टेन कोनो का मत है कि शैली की दृष्टि से भास अश्वघोष के अधिक निकट हैं। वे भास को महाक्षत्रप रुद्रसिंह के समकालीन मानते हैं। रुद्रसिंह (१८१—१८८ ई०) तथा (१९१—१९६ ई०) तक शासक रहा। पंचरात्र के भरत-वाक्य में उनके मतानुसार जिस राजसिंह का उल्लेख है, वह यही रुद्रसिंह है।

(३) मन्दिर की परिधि में बालू छींटना। यह रीति पाँचवीं शती ई० पू० में थी।

(४) जैन और बौद्ध धार्मिक रीतियों का परिहासास्पद चित्रण। इससे सिद्ध होता है। कि भास इन दोनों धर्मों के आरम्भ होने के समय से बहुत पश्चात् के नहीं हो सकते।

उपर्युक्त प्रमाणों में से कोई भी इतना बलशाली नहीं दीखता, जिससे भास को निर्विवाद रूप से पाँचवी शती ई० पू० में रखा जा सके।

बार्नेट ने सातवीं शती में रचे हुए महेन्द्र वीर विक्रम के 'मत्तविलास' नामक प्रहसन को भाषा और पारिभाषिक शब्दों की दृष्टि से भास के नाटकों के समकक्ष बतलाकर इन नाटकों को सातवीं शती में रखा है।

कुछ इतिहासकार भास को इतिहासज्ञता का श्रेय नहीं देना चाहते। यदि भास ने पाटलिपुत्र को बड़ा नगर नहीं माना है तो वे इस परिणाम पर जा पहुँचते हैं कि भास पाटलिपुत्र के बड़ा नगर बनने के पहले के हैं। वे क्यों नहीं ऐसा मानते हैं कि भास कम से कम पाटलिपुत्र के इतिहास से सुपरिचित थे और उन्होंने प्राचीन कथा से लघु पाटलिपुत्र का संयोजन किया है।

कृतित्व

भास की नाट्य-रचना को प्रतिभा अप्रतिम थी। उनके जो तेरह रूपक मिले हैं, उनमें से अभिषेक, बालचरित, अविमारक, स्वप्नवासवदत्त और प्रतिमा—नाटक-कोटि में आते हैं। चारुदत्त प्रकरण है और पंचरात्र समवकार है। प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण ईहामृग है। कर्णभार, दूतघटोत्कच और ऊरुभङ्ग उत्सृष्टिकाङ्क हैं। दूतवाक्य वीथी है और मध्यम-व्यायोग व्यायोग है। नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु, नेता और रस के भेद से रूपक के उपर्युक्त भेद निर्धारित किये गये हैं। उपर्युक्त भेदों की विविधता से भास की नाट्य-कला का वैचित्र्य सिद्ध होता है।

भास की कृतियों का साधारण परिचय इस प्रकार है—

(१) अभिषेक में बालि के वध से लेकर रावण-विजय के पश्चात् उनके अभिषेक तक की कथा के मनोरंजक स्थलों का निरूपण मिलता है। (२) बालचरित में बालकृष्ण की कंस-वध तक की लीलाओं का संक्षिप्त वर्णन है। (३) अविमारक की कथा में राजकन्या कुरंगी से अविमारक नामक राजकुमार का पराक्रम द्वारा गान्धर्व विवाह करने का वर्णन है। (४) स्वप्नवासवदत्त में महाराज उदयन की रानी वासवदत्ता के त्याग और नीतिपथ पर चलकर मगध देश की राजकुमारी पद्मावती से राजा का विवाह करा देने में सहायक होने का वर्णन किया गया है। इसमें

स्वप्न में उदयन के वासवदत्ता से मिलने का सरस चित्रण है। (५) प्रतिमा नाटक की कथा वाल्मीकि-रामायण की कथा से अनेक स्थलों पर भिन्न है। इस प्रकार की भिन्नता को अपनाकर भास कथा में वास्तविकता लाने में सफल हुए हैं और साथ ही कुछ पात्रों के चरित्रगत दोषों का परिमार्जन भी अभिनव कथा में हो गया है। कथा में राम के अभिषेक के अवसर पर वन-गमन होने के समय से रावण-वध के पश्चात् जनस्थान में उनके लौट आने पर पुनः राज्याभिषेक होने तक की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का नाटकीय विन्यास है। इसके अनुसार कैकेयी के विवाह के अवसर पर उसके पुत्र को राजा बनाने की प्रतिज्ञा दशरथ ने की थी। भरत शैशव में ही मामा के घर चले गये थे और जब वे चित्रकूट गये तो सुमन्त्र को उनका परिचय देना पड़ा।[1] सीता-हरण के लिए रावण अतिथि बन कर जनस्थान में आता है। राम और सीता दोनों उससे मिलते हैं। राम पितृश्राद्ध के लिए रावण के कथनानुसार स्वर्णमृग के पीछे पड़ते हैं। इस बीच लक्ष्मण ऋषियों का स्वागत करने चले गये थे। रावण सीता को पुष्पक पर ले गया। सीताहरण के पश्चात् राम जनस्थान छोड़ देते हैं और सुमन्त्र जब उन्हें देखने आता है तो सीताहरण की बात उसे ज्ञात होती है। वह लौटकर सारा वृत्तान्त भरत से कहता है। उस अवसर पर भरत और कैकेयी की बात-चीत से ज्ञात होता है कि श्रवण की हत्या करने के कारण दशरथ के शापाभिभूत होने पर उनके राम के वियोग में मरने का कारण कैकेयी है। वह केवल १४ दिनों का वनवास माँगना चाहती थी, पर दैवी प्रेरणा से जीभ १४ वर्ष कह गई। भरत सेना-सहित जनस्थान आते हैं। तब तक राम भी रावण-विजय के पश्चात् लौटते हुए जन-स्थान को पुनः देखने के लिए विमान से उतरते हैं। जनस्थान में इसी मिलन के अवसर पर राम का अभिषेक होता है। इस नाटक का नाम दशरथ की उस प्रतिमा के आधार पर पड़ा है, जिसे मामा के घर से लौटते हुए भरत ने मृत राजाओं की प्रतिमा वाले मन्दिर में देखा था। (६) चारुदत्त की कथा अधूरी ही मिलती है। सम्भव है, भास इस प्रकरण को पूरा न कर पाये हों। इसमें चारुदत्त नामक विलासी ब्राह्मण-नागरिक के औदार्य के कारण दरिद्र होने पर भी अपने उदात्त गुणों का संरक्षण करते हुए वसन्तसेना नामक वेश्या से प्रेम करने का वर्णन है। (७) पंचरात्र में दुर्योधन के यज्ञ के अवसर पर द्रोणाचार्य को दक्षिणा देने के प्रसंग में सङ्कल्प करना पड़ता है कि यदि पाँच दिन के भीतर पाण्डवों का समाचार मिल जाये तो उन्हें राज्य बाँट दूँगा। कल्पना-बल से भीष्म और द्रोण ने जाना कि पाण्डव राजा विराट के यहाँ हैं। विराट से गवेष्टि-युद्ध हुआ। राजा विराट की विजय हुई और पाण्डवों का

---

१. रामायण के अनुसार कम से कम विवाह के समय तक चारों भाई साथ-साथ रहे थे।

रहस्य खुला तो राजा विराट ने अभिमन्यु का अपनी कन्या उत्तरा के साथ विवाह करने के उत्सव में कौरवों को भी निमन्त्रित किया। कहते हैं, दुर्योधन ने प्रतिज्ञानुसार राज्य बाँट दिया। (८) प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण में कौशाम्बी के महाराज उदयन का उज्जयिनी के राजा महासेन के कुटिल चक्र में पड़ कर बन्दी बनने का और फिर मंत्री यौगन्धरायण के बुद्धि-कौशल और पराक्रम से महासेन की कन्या वासवदत्ता के साथ हाथी की सवारी से उदयन के कौशाम्बी पहुँच जाने का वर्णन है। (९) कर्णभार में कर्ण ने महाभारत की युद्ध-भूमि पर पाण्डव-पक्षपाती और ब्राह्मण-रूपधारी इन्द्र को अपना कवच-कुण्डल दिया। (१०) दूतघटोत्कच में अभिमन्यु के मरने के पश्चात् की रात्रि की कथा है। पांडव-शिविर में शोक और कौरव-शिविर में वृद्धों को विषाद और युवकों को हर्ष हुआ। दुःखी धृतराष्ट्र के पास कृष्ण ने घटोत्कच को दूत बना कर भेजा कि धृतराष्ट्र से कहो कि अर्जुन को एक पुत्र का इतना शोक है तो आपको अपने सौ पुत्रों का कितना शोक होगा। यह संवाद कौरवों को अमर्ष-भरी वाणी का अवसर देता है। (११) ऊरुभंग में भीम के द्वारा दुर्योधन की जाँघ तोड़ने का वर्णन है। (१२) दूतवाक्य में महाभारतीय युद्ध के लिए सब तैयारी हो लेने पर कृष्ण के पाण्डवों का दूत बन कर दुर्योधन के पास सन्धि का प्रस्ताव लेकर आने की कथा है। इधर दुर्योधन युद्ध के लिए उत्कण्ठित है। दुर्योधन और कृष्ण का परस्पर अधिक्षेप संवाद रूप में है। (१३) मध्यम व्यायोग में मध्यम पाण्डव भीम और केशवदास ब्राह्मण के मध्यम पुत्र की कथा प्रधान है। घटोत्कच केशवदास के पुत्र को अपनी माता हिडिम्बा का भोजन बनाने के लिए ले जाना चाहता है। ब्राह्मणों के सदासहाय भीम घटोत्कच को मार्ग ही में मिल जाते हैं और ब्राह्मण के स्थान पर स्वयं ही जाना चाहते हैं। घटोत्कच के साथ कहा-सुनी और युद्ध भी करना पड़ता है, फिर भीम वचनानुसार घटोत्कच के साथ जाते हैं। वहाँ हिडिम्बा से उनका पूर्व-परिचय घटोत्कच को भी ज्ञात होता है।

भास की कृतियों में नाट्यकला के प्रारम्भिक युग का चरमोत्कर्ष स्पष्ट परिलक्षित होता है। महाभारत की भाँति ही भास की कृतियाँ काव्य-तत्त्वों के लिए महासागर हैं। भास की सबसे बड़ी विशेषता है मानव के उदात्त गुणों के प्रकर्ष को उसके अभ्युदय के लिए कारण बनाकर मानवता का विन्यास करना। जिन पात्रों को भास ने अपनी कृतियों का नायक बनाया है अथवा जिन्हें इन कृतियों में प्रमुख स्थान दिया है, उनके नाम आज भी अपनी गरिमा से स्मरणीय हैं—जैसे राम, कृष्ण, भरत, अर्जुन, भीम, कर्ण, भीष्म, द्रोण, उदयन, यौगन्धरायण, चारुदत्त, सीता, वासवदत्ता और वसन्तसेना आदि। जिन आदर्शों को लेकर कवि अपने काव्य को सुरभित करता है, वे भारतीय संस्कृति में शाश्वत रूप से प्रतिष्ठित हैं।

नाटकीय संदेश

भास के प्रायः सभी नाटक मानवता के लिए एक विशेष सन्देश देते हैं। उन्हें देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भास ने एक विशेष प्रयोजन को दृष्टि-पथ में रखकर ही उनकी रचना की है। उदाहरण के लिए देखिए—बालचरित बालकों को पराक्रमी बनाने के लिये है। 'विपत्ति से दीन-दुःखियों की रक्षा करना ही मनस्वियों का काम है'—यही दिखाना मध्यम व्यायोग की कथा का प्रयोजन है। दूतवाक्य के अनुसार 'अपने व्यवहार में क्षुद्रता लाना पतन और तिरस्कार का कारण होता है।' कर्णभार में 'यशःशरीर का संरक्षण ही परम कर्तव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।' पंचरात्र में 'भीष्म और द्रोण के औदार्य का वर्णन करके इन वयोवृद्ध और आचार्य के उत्तरदायित्व की गरिमा को कवि ने शतगुण कर दिया है।' ऊरुभंग और दूतघटोत्कच में 'युद्ध की भीषणता का चित्रण कर मानवता को उससे विरक्त करने की सीख दी गई है।' अविमारक में उत्साह और पराक्रम की प्रतिष्ठा की गई है। प्रतिमा में 'अहिंसा की सीख दी गई है। कौटुम्बिक वातावरण को शान्तिमय बनाने के लिए भास का यह नाटक सर्वाधिक सफल है।' प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण में 'स्वामिभक्त लोगों की अद्भुत कार्यपरता का निदर्शन किया गया है।' चारुदत्त में 'चारुदत्त और उसकी पत्नी की उदारता का सर्वस्पृहणीय चित्रण है।' भास ने राजा, मन्त्री, दम्पती, मित्र, सेवक, कुटुम्बी-जन आदि के चरितों का आदर्श रूप प्रतिष्ठित किया है।

भास की कृतियों में नाट्य-विधान सुविकसित है। उनके नाटकों में जीवन के सभी प्रकार के और प्रायः सभी परिस्थितियों में पड़े हुए पात्रों का समाहार मिलता है। उनमें संक्षिप्त रूप से पूरा जगत् ही सन्निविष्ट है। प्राकृतिक दृश्य—चन्द्रोदय, ज्योत्स्ना, अन्धकार, सूर्यसन्ताप, मेघ, महासागर, आश्रम के उपवन आदि का स्थान-स्थान पर रुचिर संविधान है। भास की कथाएँ यद्यपि महाभारत आदि से ली गई हैं, फिर भी उनके नये-नये विवरण ऐसी कलापूर्ण पद्धति से पिरोये गए हैं कि कथाएँ ज्ञात होने पर भी नवीन-सी ही प्रतीत होती हैं। भास उन परिस्थितियों के सफल पारखी हैं, जो वास्तव में नाटकीय कही जा सकती हैं। उदाहरण के लिए—पंचरात्र में विराट के यहाँ पाँचों पाण्डवों के गुप्त वेष में होने पर उनको न जानने वाले अभिमन्यु से मिला देना। अर्जुन बृहन्नला के रूप में होकर पिता की भाँति जब अभिमन्यु से बात करता है तो उसे न पहचानने वाला अभिमन्यु विस्मय और क्रोध करता है। अर्जुन पूछता है कि तुम्हारी माँ कैसी है? अभिमन्यु कहता है—तुम कौन हो हमारे कुटुम्ब की स्त्रियों के विषय में पूछने वाले? भास ने कथाओं का जो

कलात्मक अपूर्व विन्यास किया, वह भारतीय साहित्य में विरले स्थलों पर ही प्राप्य है।

भास को बहुविध रसों और भावों की निष्पत्ति में अनुपम सफलता मिली है। भास का हास्य तो अप्रतिम ही है। प्रायः नाटकों में एक अनुपमेय विधि से हास्य-सर्जन की प्रक्रिया देखी जा सकती है। उस हास्य के वृत्तान्त के साथ कथा-विन्यास का सामञ्जस्य भास की अपनी निजी विशेषता है। अविमारक में वीर और शृङ्गार की सामञ्जस्य-गति का आविर्भाव मनोरम है। मनोरञ्जक संवादों से रसात्मकता का संवर्धन हुआ है।

भास की भाषा प्रभावपूर्ण होने के साथ ही प्रसादगुणमयी है। उनके वाक्यों में भाव को साक्षात् बोधगम्य बनाने की शक्ति मिलती है। भाषा की उपर्युक्त विशेषता का चमत्कार स्थानोचित लोकोक्तियों से निखर-सा जाता है।

भास के लगभग १, १०० श्लोकों में एक-तिहाई से अधिक श्लोक छन्द में हैं। भास के अन्य प्रिय छन्द क्रमशः वसन्ततिलका, उपजाति, शार्दूलविक्रीडित, मालिनी, पुष्पिताग्रा, वंशस्थ, शालिनी और शिखरिणी आदि हैं।

भास की नाट्यकला कम से कम भरत के नाट्यशास्त्रीय नियमों से निगडित नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भास ने कथा के स्वाभाविक विकास में बाधा नहीं डाली है। भास का नाटकीय कथा-विन्यास स्पष्टतः दो प्रकार का है—प्रथम तो वह जिसमें रामलीला-शैली की कथा का अनुबन्ध दिखाई देता है और दूसरे वह जिसमें सन्ध्यङ्गों का आकलन किया गया है। इनके उदाहरण क्रमशः बालचरित और स्वप्न-वासवदत्त हैं।

इतिवृत्त को दृष्टि में रखते हुए भास की समस्त रचनाओं का विभाजन इस प्रकार हो सकता है—रामायण से सम्बन्धित 'प्रतिमा' और 'अभिषेक' हैं। महाभारत से सम्बन्धित कुल सात रूपक हैं—'बालचरित', 'पञ्चरात्र', 'मध्यमव्यायोग', 'दूतवाक्य', 'दूतघटोत्कच', 'कर्ण-भार' और 'ऊरुभंग। प्रचलित कथा से सम्बन्धित या उदयन की कथा से सम्बन्धित 'स्वप्नवासवदत्त' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' दो रूपक हैं। 'अविमारक' और 'चारुदत्त' भास के कल्पित नाटक हैं। इन उपर्युक्त सभी रूपकों में पर्याप्त साम्यता स्पष्ट परिलक्षित होती है। कवि ने अपनी प्रखर प्रतिभा और कोमल कल्पना के निजी माध्यम से सभी रूपकों में अपनी छाप रख छोड़ी है। 'प्रतिमा' और 'स्वप्न-वासवदत्त' प्रधान नाटक हैं।

प्रतिमा

'प्रतिमा' नाटक में सात अंक हैं, जिनमें रामवनवास से लेकर रावण-वध तक की कथा विशेष रोचकता और सरसता के साथ वर्णित है। महाराज दशरथ के अस्वस्थ होने की सूचना ननिहाल में रहने वाले भरत को मिलती है और वे अयोध्या के लिए चल देते हैं। मार्ग में उनके मानस में अनेक प्रकार की उमंगे हिलोरें ले रही हैं। वे जब अयोध्या पहुँचते हैं तो यह कह कर उन्हें प्रविष्ट होने से रोक दिया जाता है कि अभी मुहूर्त ठीक नहीं है। भरत इधर-उधर टहल रहे हैं कि संयोग वश वे सूर्यवंशी मृत राजाओं की बनी हुई मूर्तियों के पास पहुँचते हैं। एक-एक कर देखते हुए इनकी दृष्टि दशरथ की मूर्ति पर पड़ती है, जिससे उन्हें दशरथ की मृत्यु का ज्ञान होता। इसी के आधार पर इस नाटक का नाम प्रतिमा पड़ा है। तृतीय अङ्क की यह घटना विशेष महत्त्व रखती है। इसी घटना के आधार पर इसे प्रतिमा नाटक कहते हैं।

चरित-नायक

प्रतिमा-नाटक के नायक दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र राम हैं। राम धीरोदात्त कोटि के नायक हैं। यद्यपि राम के चरित्र का पूर्ण विकास इस नाटक में नहीं हो पाया है तथापि राम का आदर्श और निःस्पृहता आदि उल्लेखनीय हैं। राम का चरित रामायण में चित्रित राम-चरित के समान ही है। सभी प्रकार की उन्हीं विशेषताओं का समावेश भास ने किया है। त्याग, मोह का नितान्त अभाव, मातृ-पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, धैर्य-औदार्य, विनय आदि उनके प्रधान गुण हैं।

वन में राम जब भरत से मिलते हैं, उस समय उनके हर्ष की सीमा नहीं रहती। भास ने राम के चरित्र-चित्रण में अवतार की कल्पना न कर एक मर्यादा पुरुषोत्तम की ही कल्पना की है। उसी के अनुसार इनका चरित्र-चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

सीता

प्रतिमा नाटक के अनुसार सीता में सतीत्व प्रधान है। वह राम के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी है। उनमें श्वसुर दशरथ के प्रति श्रद्धा और देवर लक्ष्मण के प्रति विनय है। राम की भाँति ही उनमें मोह नहीं है—

प्रियं मे महाराज एव महाराजः आर्यपुत्र एवार्यपुत्र,

राम के निषेध करने पर भी यह कहते हुए वे वन जाने का आग्रह करती हैं क्योंकि—

भर्तृनाथा हि नार्यः (प्रतिमा १.२५)

अपने चरित्र पर उन्हें गर्व है। वे अपने कोमल हृदय का परिचय देती हुई राम से कहती हैं—

आर्यपुत्र, रोदितव्ये काले सौमित्रिणा धनुर्गृहीतम्,

भरत और लक्ष्मण के चरित्र-चित्रण में उनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। भरत का राम के प्रति प्रेम सर्वत्र व्यक्त होता है। वे अपनी माँ को ही दोषी समझकर उसे माँ कहने में भी सकुचाते हैं। उनका आत्मत्याग अतुलनीय है, भरत तपस्वी और कर्तव्यनिष्ठ हैं। लक्ष्मण मनस्वी हैं, पराक्रमी हैं और राम के प्रति उन्हें स्नेह है।'

रस

प्रतिमा नाटक में वीर, करुण, शृङ्गार और हास्य रसों का सम्मिश्रण है, जिनमें वीर रस की प्रधानता है। नाटक में धर्मवीर प्रधान रस माना जा सकता है। स्थायी भाव उत्साह है। राम अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हैं। धर्म-वचन उद्दीपन, धैर्य संचारी भाव और पिता के वचन को पूरा करने वाली युक्तियाँ अनुभाव हैं। यथा--

'पितुर्नियोगादहमागतो वनं
न वत्स दर्पान्न भयान्न विभ्रमात्।
कुलं च नः सत्यधनं ब्रवीमि ते
कथं भवान्नीचपथे प्रवर्तते।: प्रतिमा० ४.२०

"मैं पिता जी की आज्ञा से वन को आया हूँ। वत्स! मैं न तो अभिमान से यहाँ चला आया, न भय से और न चित्त-विभ्रम से ही। हमारा कुल सत्य का धनी होता आया है। यह मैं तुमसे कह रहा हूँ। तब तुम फिर नीच पथ पर कैसे प्रवृत्त होना चाहते हो?"

'प्रतिमा' नाटक में सुभाषितों के प्रयोग से भाषा बलशालिनी हो गई है। यथा (१) 'का नाम माता पुत्रकस्यापराधं न मर्षयति' (२) 'कुतः क्रोधो विनीतानां लज्जा वा कृतचेतसाम्' (३) 'तिर्यग्योनयोऽपि उपकृतमवगच्छन्ति' (४) 'पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च' (५) 'बहुवृत्तान्तानि राजकुलानि नाम' (६) भर्तृनाथा

हि नार्यः' (७) 'वाचाऽनुवृत्तिः खल्वतिथिसत्कारः' (८) 'विधिरनतिक्रमणीयः' (९) 'सर्वशोभनीयं सुरूपं नाम'—इत्यादि ।

स्वप्नवासवदत्त

भास के नाटकों में स्वप्नवासवदत्त सर्वश्रेष्ठ है। इसमें कवि की नाट्यकला का चूड़ान्त निदर्शन मिलता है। भास ने इसमें उदयन की उत्तरार्ध कथा का विकास किया है। उदयन की पूर्वार्ध कथा 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' में वर्णित है। यह नाटक एक प्रकार से 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' का पूरक कहा जा सकता है।

कथावस्तु

उदयन का प्रधान मंत्री यौगन्धरायण राजा के शत्रु आरुणि के द्वारा अपहृत प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने के लिए चिन्तित दिखाई देता है। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए वह मगधराज के साथ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक समझता है। वह चाहता है कि उदयन मगधराज की पुत्री से विवाह कर ले, परन्तु राजा उदयन का प्रगाढ़ अनुराग अपनी जीवित पत्नी वासवदत्ता के प्रति है। यौगन्धरायण इस कार्य में वासवदत्ता का सहयोग पा जाता है और यह प्रवाद फैला देता है कि लावाणक के अग्निदाह में वासवदत्ता जल गई।

प्रथम अङ्क में यौगन्धरायण अपनी भगिनी बतलाकर वासवदत्ता को न्यास-रूप में मगध राजकुमारी पद्मावती के पास रख छोड़ता है। वासवदत्ता अवन्तिका के कृत्रिम नाम से पद्मावती के पास रहने लगती है। उसी समय एक छात्र लावाणक ग्राम से लौटता है और वह उदयन की करुण-दशा का वर्णन करता है। राजा के सन्ताप के सजीव वर्णन में वासवदत्ता को अपने पति का अपने प्रति आदर्श प्रेम देखकर बड़ा ही सन्तोष होता है। उसी क्षण पद्मावती के हृदय में उदयन के प्रति प्रेम का अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है। पद्मावती उदयन से प्रेम करने लगती है।

द्वितीय अङ्क स्त्रियों की कन्दुक क्रीड़ा से आरम्भ होता है। राजकुमारी पद्मावती और अवन्तिका एक दूसरे को चाहने लगती हैं और वासवदत्ता बड़ी कुशलता से पद्मावती के विवाह की चर्चा का सूत्रपात कर देती है। उसकी दासी इस रहस्य को प्रकट कर देती है कि पद्मावती महासेन परिवार में अपना विवाह नहीं करना चाहती है अपितु वह उदयन पर अनुरक्त है। एक दूसरी दासी आती है और यह समाचार सुनाती है कि उदयन के न चाहने पर भी पद्मावती के भाई ने पद्मावती

का विवाह उदयन से निश्चित कर लिया है। तीसरी दासी आकर यह सूचित करती है कि विवाहोत्सव आज ही सम्पन्न होने जा रहा है।

तृतीय अङ्क में वासवदत्ता खिन्न दिखाई देती है। वह राजभवन को छोड़ कर प्रमदवन में इसलिये चली आती है कि वह अपने पति का विवाह दूसरी स्त्री से नहीं देख सकती। माला गूँथते समय वह अविधवाकरण औषधि को तो गूँथ देती है परन्तु सपत्नीमर्दन नामक औषधि को नहीं गूँथती। वह बहुत ही व्यथित है और किसी प्रकार उसे नींद से सान्त्वना मिलती है।

चतुर्थ अङ्क उपवन में आरम्भ होता है। राजकीय उपवन में पद्मावती, वासवदत्ता और एक दासी के सहित विचरण करती है। घटना-स्थल में राजा और विदूषक भी आ जाते हैं। पद्मावती वासवदत्ता का विचार कर अपने पति से नहीं मिलना चाहती और इस प्रकार वे सभी लता-कुंज में छिप जाती हैं। लता-मण्डप के बाहर राजा और विदूषक बैठे हैं। यद्यपि उन्होंने भी भीतर बैठने का प्रयास किया था परन्तु दासी मधुकरों से व्याप्त लता को हिलाकर रोक देती है। तब विदूषक विश्वस्त रूप से राजा से पूछता है कि 'आप पहले वासवदत्ता को अधिक प्यार करते थे या इस समय पद्मावती को'। राजा इस प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाहता है परन्तु विदूषक सुनना ही चाहता है। इधर वासवदत्ता और पद्मावती इस प्रेमाख्यान को सुन रही हैं। राजा कहता है कि 'मैं पद्मावती को प्यार करता हूँ किन्तु वह वासवदत्ता में अनुरक्त मेरे मन को खींच नहीं पाती है। वासवदत्ता इस प्रच्छन्न जीवन की सार्थकता अभिव्यक्त करती है। वासवदत्ता का स्मरण आ जाने के कारण राजा की आँखों में आँसू आ जाते हैं। विदूषक मुँह धोने के लिए पानी लेने चला जाता है। वासवदत्ता इस बीच निकल जाती है। पद्मावती राजा के पास पहुँच कर अश्रु का कारण पूछती है। राजा चतुरता के साथ अश्रु का कारण बतलाता है कि आँख में काश-पुष्प के पराग पड़ गये हैं।

पञ्चम अंक में पद्मावती शिरोव्यथा से पीड़ित है। यह समाचार राजा और साथ ही वासवदत्ता को प्राप्त होता है। राजा पद्मावती के पास जाता है, परन्तु रोग-शय्या को रिक्त पाकर उसी शय्या में सो जाता है। वासवदत्ता उस कक्ष में पहुँच जाती है। राजा को वह भूल से पद्मावती समझ जाती है और शय्या के एक भाग पर खुद लेट जाती है। राजा स्वप्न देखने लगता है। वासवदत्ता यथार्थ स्थिति को समझ जाती है और राजा द्वारा किये गये प्रश्नों का उत्तर देती हुई, राजा की लटकती हुई भुजा को शय्या पर रखकर चली जाती है। उसके हस्त-स्पर्श से राजा की नींद टूट जाती है और वह उसे पकड़ने के लिये पीछे दौड़ता है, परन्तु दरवाजे से

टक्कर खाकर गिर जाता है। विदूषक आ जाता है। राजा वासवदत्ता के जीवित होने की बात कहता है। विदूषक इसे मस्तिष्क का विभ्रम बतलाकर बात टाल देता है।

मगधराज का प्रतिहारी यह सन्देश लाता है कि सेनापति रुमण्वान् मगधराज की सैन्य-सहायता से शत्रु आरुणि पर चढ़ाई करने जा रहा है। उदयन युद्ध करने के के लिए प्रस्थान कर देता है।

षष्ठ अंक में राजा वासवदत्ता की प्रिय वीणा घोषवती को पाकर पुनः दुःखित होता है। उसी समय उज्जयिनी के राजा और रानी का भेजा हुआ दूत राजा उदयन के पास शत्रु के ऊपर विजय पाने के उपलक्ष में बधाई लेकर आता है। वह उदयन को वासवदत्ता और उनके विवाह के समय का चित्र अर्पित करते हैं। पद्मावती उस चित्र में चित्रित महिला को पहचान जाती है। ठीक उसी समय यौगन्धरायण अपनी बहन को लौटा देने की माँग करता है। यौगन्धरायण पहले तो उसे भगिनी घोषित करता है, पश्चात् सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। राजा का जयघोष होता है।

पात्रोन्मीलन

स्वप्नवासवदत्त नाटक का नायक उदयन है। वह युवा, वीर, सुशील और गम्भीर है। वह अपनी प्राणप्रिया के जल मरने की सूचना पाकर व्यथित होता है और अपने आप को भस्म कर देना चाहता है। उसका प्रेम आदर्श प्रेम है। लावाणक से लौटने वाला ब्रह्मचारी कहता है—

नैवेदानीं तादृशाश्चक्रवाका
नैवाप्यन्ये स्त्रीविशेषैर्वियुक्ताः।
धन्या सा स्त्री या तथा वेत्ति भर्ता
भर्तृस्नेहात्सा हि दग्धाप्यदग्धा ॥१.१३

(इस समय उनके समान चक्रवाक भी नहीं हैं और प्रसिद्ध पतिव्रताओं के वियोगी पति ही वैसे हैं जैसा उदयन। धन्य वह नारी, जिसको पति ऐसा प्यार करता है। यद्यपि वह (वासवदत्ता) जल मरी है तथापि स्वामी के अटूट स्नेह के कारण वह जीती ही है।)

राजा स्वयमेव वासवदत्ता के प्रति अपने अनुराग को इस प्रकार व्यक्त करता है—

पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः।
वासवदत्ताबद्धं न तु तावन्मे मनो हरति ॥४.५

(रूप और चरित्र की मधुरता के कारण पद्मावती यद्यपि मुझे बहुत प्यारी है तथापि वासवदत्ता पर अनुरक्त मेरे मन को वह वैसा नहीं मोह सकती ।)

इससे राजा का स्नेह वासवदत्ता के प्रति प्रकट होता है । वह निरन्तर वासवदत्ता के लिए आँसू बहाता है । वह वासवदत्ता को जन्मान्तर में भी भूलना नहीं चाहता—

कथं न सा मया शक्या स्मर्तुं देहान्तरेष्वपि,

इस स्थल पर राजा एक उत्कट प्रेमी के रूप में सामने उपस्थित हो जाता है । वह प्रेम में इतना उन्मत्त हो गया था कि उसे अपने राज्यभार की तनिक भी चिन्ता नहीं है । इसी आसक्ति के कारण वह अपना राज्य भी खो बैठा । यह राजा की दुर्बलता का द्योतक है ।

इस नाटक में राजा के चरित्र के प्रेम-पक्ष को विशेष रूप से चित्रित किया गया है । केवल सम्पूर्ण नाटक में एक ही ऐसा स्थल है, जहाँ उसमें वीरता और उत्साह के लक्षण दिखाई देते हैं। वह युद्ध में जाने के लिए तैयार है और कहता है—

उपेत्य नागेन्द्रतुरङ्गतीर्णे
तमारुणिं दारुणकर्मदक्षम् ।
विकीर्णबाणोग्रतरङ्गभङ्गे
महार्णवाभे युधि नाशयामि ॥ ५.१२

'बड़े-बड़े हाथी घोड़ों से खचाखच भरे तथा चलाये गये बाणरूपी लहरों से उमड़ते हुए समुद्र-तुल्य युद्ध में पहुँचकर उस क्रूरकर्मा आरुणि को मैं अवश्य मार डालूंगा ।'

इस प्रकार पञ्चम अंक के इस कथन में ही उदयन की वीरता का आभास मिलता है । समस्त नाटक में उसकी विलास-प्रियता के ही दर्शन होते हैं । कहीं पर यथार्थ रूप में वीरता नहीं दिखाई गई है ।

वासवदत्ता

चरित-चित्रण की दृष्टि से वासवदत्ता का चरित्र उच्चकोटि का है । वह अपने पति के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करती ।

वह कर्तव्यपरायण है और अपने कर्तव्यों का सदैव ध्यान रखती है। जब कभी उससे इस प्रकार की भूल हो जाती है तो तुरन्त ही उसे संभालने का प्रयत्न करती है—

वासवदत्ता—(आत्मगतम्) हम्, आर्यपुत्रपक्षपातेनातिक्रान्तः समुदाचारः। एवं तावत् भणिष्यामि। (प्रकाशम्) यद्यल्पः स्नेहः सा स्वजनं न परित्यजति।

"(मन में) स्वामी के पक्षपात के कारण मैं सदाचार की सीमा लाँघ गई। अच्छा, यह बात कहूँ। (प्रकट) यदि उसका स्नेह थोड़ा होता तो वह अपने परिवार को नहीं छोड़ती।"

वासवदत्ता का आत्म-त्याग और आत्म-बलिदान अत्यन्त ही प्रशंसनीय हैं और साथ ही वह अपमान की भावना तक को सहने में असमर्थ है—

अहमपि नाम उत्सारयितव्या भवामि-इति ''तथा परिश्रमः परिखेदं नोत्पादयति यथा अयम्।

यद्यपि उसके समर्थन से ही उदयन का पद्मावती से विवाह होना निश्चय हुआ था तथापि उदयन को पद्मावती के साथ देखकर नारी-सुलभ भावनाओं के कारण वह कह उठती है 'आर्यपुत्रोऽपि परकीयः संवृत्तः।' वह पद्मावती की वैवाहिक माला में अविधवाकरण औषधि को गूँथ देती है परन्तु सपत्नीमर्दन को नहीं।

वासवदत्ता नारी-सुलभ गुण-दोषों के रहने के कारण भी एक आदर्श नारी है। वह अत्यन्त ही सुन्दर रमणी है। वह उदयन का अपने प्रति अनुराग सुनकर आनन्द-विभोर हो उठती है और कहती है—

दत्तं वेतनमस्य परिखेदस्य, अहो अज्ञातवासोऽपि अत्र बहुगुणः संपद्यते।

वासवदत्ता में कर्तव्यपरायणता अधिक है। जब वह अपने पति उदयन को सोता हुआ देखती है तो अधिक समय तक वहाँ पर नहीं रुकती। शीघ्र ही वहाँ से चली जाती है। एक ओर अनिमेष पति को देखने की उत्कट लालसा है तो दूसरी ओर कर्तव्य की रक्षा। उसके हृदय में उस समय अपार तूफान उठ रहा था। अन्त में उस उद्योग-भावना की विजय हुई।

पद्मावती

पद्मावती मगध के राजा अजातशत्रु की कन्या है। वह धर्म प्रिय एवं गुणवती युवती है। उसका हृदय उदार है। उसमें सहनशीलता और सहानुभूति दोनों

का समन्वय है। वह जब राजा के मुख से यह सुनती है कि वासवदत्ता के समान पद्मावती ने अभी मेरे मन को नहीं मोहित किया है तो प्रसन्न होती हुई कहती है——

सदाक्षिण्य एव आर्यपुत्र य इदानीमपि आर्यायाः गुणान् स्मरति।

पद्मावती में सभी गुण उसकी कुलीनता के अनुरूप ही हैं। वह फलक में वासवदत्ता के चित्र को देखकर प्रणाम करती है और जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि यही वासवदत्ता है तो वह चरणों पर गिर पड़ती है। उसमें क्षमा है, दया है, ममता और मोह भी है। वह द्वेष से रहित आदर्श युवती है। वह अप्रतिम सुन्दर है। चेटी उसका वर्णन करती है—

. अम्मो ! इयं भर्तृदारिका उत्कृत-कर्ण-चूलिकेन-व्यायाम-सञ्जात-स्वेद-बिन्दु-विचित्रितेन परिश्रान्त-रमणीदर्शनेन मुखेन कन्दुकेन क्रीडन्ती इत एवागच्छति।

पद्मावती धर्म-भीरु है। उसके विषय में कहा गया है :—

धर्मप्रिया नृप-सुता नहि धर्मपीडामिच्छेत् तपस्विषु कुलव्रतमेतदस्याः॥

वह अपने वचन का परिपालन करती है।

आर्य ! प्रथममुद्घोष्य कः किमिच्छतीति अयुक्तमिदानीं विचारयितुम्।

यौगन्धरायण

यौगन्धरायण केवल प्रथम और षष्ठ अङ्क में दर्शकों के सामने आता है। इतने से ही उसके सामान्य गुणों का पूर्ण परिचय किया जाता है। यह नाटक का एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण पात्र है। उसकी प्रशंसा उदयन भी करता है। वह विचारशील और स्वामी के कल्याण में तत्पर है। उसकी सारी योजनायें अपने स्वामी के लिये होती हैं। कार्य सिद्ध हो जाने पर भी वह शंकित रहता है—

प्रच्छाद्य राजमहिषीं नृपतेर्हितार्थं
कामं मया कृतमिदं हितमित्यवेक्ष्य।
सिद्धेऽपि नाम मम कर्मणि पार्थिवोऽसौ
किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे॥

(महाराज के हित के लिए महारानी को छिपा कर, इसी में उनका कल्याण देखकर मैंने काम किया और मेरा कार्य सिद्ध होने पर भी 'महाराज क्या कहेंगे' यह सोचकर मेरा हृदय कांप उठता है।)

और कार्य सफल होने पर भी वह महाराज से क्षमा माँगता है।

वह नाटक के प्रथम अङ्क में एक संन्यासी के रूप में चित्रित है—

कार्यं नैवार्थैर्नापि भोगैर्न वस्त्रै-
र्नाहं काषायं वृत्तिहेतोः प्रपन्नः ।
धीरा कन्येयं दृष्टधर्मप्रचारा
शक्ता चारित्रं रक्षितुं मे भगिन्याः ।।

(मैं न तो धन चाहता हूँ, न भोग चाहता हूँ और न कपड़ा । जीविका के लिए मैंने यह गेरुआ वस्त्र नहीं धारण किया है । यह राजकन्या धीर स्वभाव की है, इसका धर्मप्रचार देखा हुआ है । यह हमारी बहन के चरित्र की रक्षा कर सकती है ।)

वसन्तक

स्वप्नवासवदत्त में विदूषक का नाम वसन्तक है । वासवदत्त नाटक का विदूषक गम्भीर है । वह पेटू अवश्य है परन्तु भोजन करते समय यह ध्यान रखता है कि कहीं अजीर्ण न हो जाय । उसकी यह दशा और कथन हास्य-रस का संचार करते हैं—

अधन्यस्य मम कोकिलानां अक्षिपरिवर्त्त इव कुक्षिपरिवर्तः संवृत्तः,

मुझ अभागे का पेट ऐसा उलट-पलट गया है जैसे कोयल की आँखे उलटती रहती हैं ।

विदूषक राजा का सहायक पात्र है । वह परमभक्त और देश-काल को जानता है । कई स्थलों पर उसके प्रत्युत्पन्न मति का परिचय मिलता है । 'वासवदत्त' नाटक का विदूषक अन्य संस्कृत नाटकों के विदूषकों की अपेक्षा शिष्ट और गम्भीर है ।

रस

'स्वप्नवासवदत्त' का प्रधान रस शृङ्गार है । इसमें भास की शृङ्गार-प्रियता परिलक्षित होती है । शृङ्गार का वर्णन करुण के साथ हुआ है—

मधुमदकलामदनार्ताभिः प्रियाभिरुपगूढाः ।
पादन्यासविषण्णा वयमिव कान्तावियुक्ताः स्युः ।।४।२

(परागपान से मत्त हो, मधुर गुञ्जार करने वाले कामातुर और अपनी प्रियाओं से आलिङ्गित ये भौंरे हम लोगों के पैरों की आहट से भयभीत होकर हमारी ही भाँति अपनी प्रियाओं से वियुक्त हो जायँगे ।)

इस नाटक में आद्यन्त करुण रस का परिपाक हुआ है। आरम्भ में उदयन की दशा का कारुणिक चित्र ब्रह्मचारी खींचता है। राजा और रुमण्वान् की यह दशा देखकर किसके नयनों से अश्रुपात नहीं होगा ?

अनाहारे तुल्यः सततरुदितक्षामवदनः
शरीरे संस्कारं नृपतिसमदुःखं परिवहन्।
दिवा वा रात्रौ वा परिचरति यत्नैर्नरपतिं
नृपः प्राणान्सद्यस्त्यजति यदि तस्याप्युपरमः ॥ १.१४

नाटक में उदयन के विलापों के माध्यम से करुण रस की सृष्टि हुई है।

पञ्चम अङ्क में किंचित वीर रस का आभास होता है। इस प्रसंग में भाव और भाषा भी तदनुकूल प्रवाहित हैं—

उपेत्य नागेन्द्रतुरङ्गतीर्णे,
तमारुणिं दारुणकर्मदक्षम्।
विकीर्णबाणोग्रतरङ्गभङ्गे,
महार्णवाभे युधि नाशयामि ॥ ५.१३.

विदूषक के कथनों में हास्य रस का आभास मिलता है। शान्त रस का सर्जन ब्रह्मचारी के कथन में हुआ है—

विस्रब्धाः हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया,
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशः,
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः ॥१।१२॥

अपने देश (तपोवन) में आ जाने के कारण विश्वस्त होकर मृगगण निश्चित और अचकित होकर चर रहे हैं। दया से पली वृक्षों की शाखायें फल और फूलों से लदी हुई हैं। कपिला गायें अधिक मात्रा में चर रही हैं। खेत नहीं दिखाई दे रहे हैं। होम का धुआं भी अनेक स्थानों से निकल रहा है। इससे यह निःसन्देह ही तपोवन है।

सुभाषित

'स्वप्नवासवदत्त' में सुभाषितों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया गया है—

(१) अनतिक्रमणीयो हि विधिः ।
(२) अकरुणाः खल्वीश्वराः ।
(३) अविज्ञातानि दैवतान्यवधूयन्ते ।
(४) अयुक्तं परपुरुषकीर्तनं श्रोतुम् ।
(५) कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्य-पंक्तिः ।
(६) कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले ।
(७) तपोवनानि नाम अतिथिजनस्य स्वगेहम्,
(८) दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः ।

नाटय-कला

याकोबी के अनुसार भास के नाटकों की संख्या तथा उनके वर्ण्य विषय की अनेकरूपता से स्पष्ट द्योतित होता है कि कवि की प्रतिभा कितनी मौलिक थी तथा उसका मस्तिष्क कितना विमर्श-परायण था । भास के नाटकों में नूतन कल्पनायें हैं । प्राचीन कथानकों को लेकर उन्होंने उनमें कुछ परिवर्तन करके पर्याप्त रोचकता लाने का प्रयास किया है । यद्यपि नाट्यशास्त्र के नियम का प्रायः पूर्णरूपेण पालन नहीं किया गया है तथापि सभी नाटक रंगमंच पर अभिनय के योग्य हैं ।

संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम भास के ही एकाङ्की नाटक मिलते हैं । उन्हें इनमें पूर्ण सफलता मिली । कुल पाँच एकाङ्की—ऊरुभंग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार और मध्यम व्यायोग हैं । इनमें कथानक सुघटित और सुसंयत है । अनावश्यक प्रसंगों का परिहार कर दिया गया है । महाभारत के आधार पर रचित सभी नाटक अनूठी कल्पना से मण्डित हैं ।

भास की भाषा नितान्त सरल और कृत्रिमता से दूर है । अस्वाभाविकता नहीं आने पाई है । संवाद सरल, छोटे और प्रभावशाली हैं । उनका अनावश्यक विस्तार नहीं किया गया है । पात्रों के मुख से उतनी ही बातें कहलवाई गई हैं, जितना नाटकीय कथावस्तु में उपादेय और विकासात्मक है । पात्र चुने हुए शब्दों में अपनी सारी बातें कह जाते हैं । इस प्रकार संवादतत्व के मर्मज्ञों में भास सर्वप्रथम हैं । उनका प्रत्येक संवाद सरसता से अनुप्राणित है । प्रतिमा नाटक रामायण की कथा पर

आधारित है, फिर भी इसमें मौलिकता और कल्पना शक्ति का परिणाम पद-पद पर मिलता है।

भास के नाटकों में घटनाओं की एकता है। सभी घटनाएं किसी एक प्रयोजन के लिए घटित होती हैं और अपने उद्देश्य की पूर्ति कर समाप्त हो जाती हैं। घटनाओं के द्वारा निरन्तर रस-संचार होता रहता है। सभी घटनाएं सार्थक होती हैं। निरर्थक घटनाओं का नाटकों में समावेश नहीं है। वे ही घटनाएं रंगमंच पर अभिनीत की गई हैं। इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है और वे फल की सिद्धि में सहायक होती हैं। घटनाओं में स्वाभाविकता, प्रभावोत्पादन-क्षमता और गतिशीलता है।

घटनाओं के घात-प्रतिघात के द्वारा कथानक आगे बढ़ता है। एक घटना दूसरी घटना को आगे बढ़ाकर समाप्त हो जाती है। इन नाटकों में अप्रत्याशित घटनाओं की मनोहारिणी शृंखला है। घटनाओं में वैचित्र्य और सरसता है। राजा उदयन को भी बंदी बनाना या होना एक गणिका वसन्तसेना का ब्राह्मण चारुदत्त से अनुरक्त—आदि कथानकों में सरसता और रोमांचकारी क्षमतायें विद्यमान हैं। भास ने सर्वत्र अधिक से अधिक मनोरंजन-सामग्री घटनाओं द्वारा प्रस्तुत करने की चेष्टा की।

भास ने अनेक स्थलों पर 'पताका-स्थान' का प्रयोग किया है। इस नाटकीय व्यंग्य का सुन्दर समन्वय किया गया है। अभिषेक नाटक में रावण सीता से कहता है 'कौन अब तुम्हारी रक्षा कर सकता है?' इसी समय एक राक्षस आकर यह कहता है 'राम'। सीता के प्रत्युत्तर के बिना भी पताकास्थानक के कारण यह अनुमान हो जाता है कि सीता की रक्षा राम कर सकते हैं। इस प्रकार के पताका-स्थानकों का अन्यत्र भी प्रयोग किया गया और उसमें सफलता मिली है। पताका-स्थानकों के प्रयोग से नाटकों में विशेष रोचकता आ गई है।

चरित्र-चित्रण में भास नितान्त निपुण हैं। पात्रों के अनुरूप जिस प्रकार वे भाव और भाषा का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार पात्रानुकूल उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं का आकलन करते हैं। उनकी रचना-परिधि में सभी प्रकार के पात्र हैं। देवी और देवताओं के चरित्र-चित्रण में पौराणिकता है। देवताओं में इन्द्र, अग्नि, वरुण, राम, कृष्ण और बलराम प्रधान हैं। देवियों में सीतादि मुख्य हैं। जिस प्रकार उन्होंने अपनी तूलिका से देवी-देवताओं का चित्र खींचा है, उसी प्रकार राक्षस और निशाचरियों का भी। रावण, कंस, इन्द्रजित, घटोत्कच और हिडिम्बा आदि प्रधान आर्येतर पात्र हैं।

राजा और राजकुमार के चरित्र-चित्रण में तात्कालिक भोग-विलासों का निदर्शन है। प्रत्येक राजा अपने गुणों से मण्डित है। उनमें उदयन, महासेन, दशरथ, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, कर्ण, शल्य, अविमारक, भरत आदि प्रधान हैं। रानियों में वासवदत्ता, पद्मावती, गान्धारी, अंगारवती और कौशल्या के चरित्र आदर्श कोटि के हैं। मन्त्रियों में यौगन्धरायण, रुमण्वान और सुमन्त्र प्रभावशाली हैं।

अलंकारों का उचित सन्निवेश नाटकों में विशेष उल्लेखनीय है। उनमें एक ओर जहाँ उनकी कवित्व-शक्ति का भान होता है, वहाँ दूसरी ओर श्लेष द्वारा नाट्कीय पात्रों का संकेत भी मिल जाता है। स्वप्नवासवदत्त के आरम्भ में इसी प्रकार का श्लोक है। इसे मुद्रालंकार कहते हैं। इसके अतिरिक्त सरल अलंकारों का सन्निवेश स्वाभाविकता के साथ किया गया है। शब्दचित्र के अलंकार का उदाहरण है :—

'लावाणके हुतवहेन हृताङ्गयष्टिं।
तां पद्मिनीं हिमहतामिव चिन्तयामि ॥५·१

उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का सफल प्रयोग हुआ है। समान ध्वनि के अक्षरों के सन्निवेश में विशेष ध्यान दिया गया है। ऐसे अलंकारों के प्रयोग से वर्णन सजीव और सरस बन जाते हैं—

'कथं लम्बसटः सिंहो मृगेण विनिपात्यते।
गजो वा सुमहान् मत्तः शृगालेन विहन्यते ॥

सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है और इनका प्रयोग वर्णनानुरूप है।

भास के नाटकों में नव रस मिलते हैं। दूतवाक्य में वीर और अद्भुत, कर्णभार में करुण और वीर, मध्यम-व्यायोग में वीर, करुण, अद्भुत, भयानक, रौद्र, हास्य और शृंगार, बाल चरित में वीर, अद्भुत, करुण, भयानक, हास्य और शान्त, अभिषेक में वीर, करुण, अद्भुत और भयानक, पञ्चरात्र में वीर और हास्य, दूतघटोत्कच में करुण और वीर, ऊरुभंग में करुण, वीर, रौद्र और शान्त, अविमारक में शृंगार, हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक, प्रतिमा में वीर, अद्भुत, हास्य और शृंगार, प्रतिज्ञायौगन्धरायण में वीर, अद्भुत, हास्य और शृंगार, स्वप्नवासवदत्ता में शृंगार और करुण, चारुदत्त में करुण हास्य और शृंगार आदि रसों का परिपाक हुआ है।

संस्कृत-साहित्य में एकमात्र, 'ऊरुभंग' को दुःखान्त माना जा सकता है। ऊरुभंग को दुःखान्त बनाकर भास ने नये प्रयोग की कल्पना की परन्तु आगे चलकर इस पर किसी ने भी विशेष ध्यान नहीं दिया। भास की नाट्य कला अप्रतिम है। सभी परवर्ती कवियों पर भास का प्रभाव माना जा सकता है।

शैली

भास पर रामायण का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। फलस्वरूप इसमें तदनुरूप भाषा और शैली अपनाई गई है। भाषा में सरलता है, सरसता है और है साथ ही अर्थ बोध कराने की क्षमता। उदाहरण के लिए—

'खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः,
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो,
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥ १,१६

पक्षी अपने घोसलों में चले गये। मुनिगण जलाशयों में स्नान कर रहे हैं। प्रज्वलित अग्नि शोभित हो रही है। यज्ञ का धुआँ तपोवन में चारो ओर फैल रहा है। सूर्य दूर से गिरने के कारण अपनी किरणों को समेट कर तथा रथ को मोड़कर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर प्रवेश कर रहा है।

सन्ध्या के इस वर्णन में नैसर्गिकता है, कथा का प्रवाह है और भाषा सरल है। अन्य कवियों की भाँति भास आलंकारिकता की ओर अधिक न जाकर स्वाभाविकता को ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि भास के वर्णन अधिक सजीव और चुस्त हैं। उपर्युक्त वर्णन में व्यंजना की छटा विराजती है।

भास अलंकारों के प्रयोग में सफल हैं। अनुप्रास और यमक के उदाहरण हैं:—

हा वत्स! राम जगतां नयनाभिराम (प्रतिमा २.४)
हा क्वासौ! सर्वजनहृदयनयनाभिरामो रामः।

एक ही ध्वनि वाले अक्षर यथा—'सजलजलधर', सनीर नीरद।

उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाओं का यथा स्थान प्रयोग, मार्मिक लोकोक्तियों का चयन, व्यंगात्मक ध्वनि आदि सभी भास की शैली को अनुत्तम बनाती हैं।

भास को मानवीय मनोवृत्तियों का पूर्ण ज्ञान था। वे मनोभावों के सच्चे पारखी थे। तत्सम्बन्धी वर्णन उच्चकोटि के हैं, यथा—

'दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः,
स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम्।
यात्रा त्वेषा यद्विमुच्येह बाष्पं
प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्॥ स्व० ४।६.

भास की नाटकावली में सांस्कृतिक भावों का निदर्शन प्राप्त होता है। पितृ-भक्ति, मातृभक्ति, पातिव्रत्य, मातृप्रेम, भगिनी-प्रेम, क्षमा, दया, माया, ममता, मोह, त्याग आदि का वर्णन नितान्त रमणीय तथा आदर्श है। यथा—

'अनुचरति शशांकं राहुदोषेऽपि तारा,
पतति वनवृक्षे याति भूमिं लता च।
त्यजति न करेणुः पङ्कलग्नं गजेन्द्रं
व्रजतु चरतु धर्मं भर्तृनाथा हि नार्यः॥ प्रतिमा १'२५.

'राहु के द्वारा ग्रहण होने पर भी रोहिणी चन्द्रमा के साथ रहती है। वनवृक्ष के गिरने पर लता भी भूमि पर गिर पड़ती है। गजराज के पङ्कमग्न होने पर भी हथिनी उसको नहीं छोड़ती है। अतएव सीता भी आपके साथ वन में जाये और अपने धर्म का पालन् करें क्योंकि स्त्रियों के पति ही आश्रय होते हैं।'

भास के सभी नाटकों की लोकप्रियता का प्रधान कारण उनकी भाषा की सरलता और रम्यता है। भाषा नितान्त सरल प्रयुक्त हुई है। यथा—

अहो बलमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो जवः।
राम इत्यक्षरैरल्पैः स्थाने व्याप्तमिदं जगत्॥ प्रतिमा ५'१४

अवसरानुकूल भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट और कठोर वर्णों से संयुक्त है। जटायु के आघात-प्रतिघात से रावण क्रोधित होकर कहता है—

मद्भुजाकृष्टनिस्त्रिंशकृत्तपक्षक्षतच्युतैः
रुधिरैरार्द्रगात्रं त्वां नयामि यमसादनम्॥ प्रतिमा ५'२२

(मेरे हाथ से निकाली हुई तलवार से काटे गये पंखों के घावों से गिरते हुए खून से आर्द्र शरीर वाले तुमको यमलोक भेजता हूँ।")

इस प्रकार की भाषा 'स्वप्न वासवदत्ता' के पंचम अंक के बारहवें और तेरहवें श्लोक में प्रयुक्त हुई है। भास के वर्णन को पढ़ते समय या सुनते समय आँखों के सामने वर्ण्य वस्तु का एक चित्र सा खिंच जाता है, यथा—

छत्रं सव्यजनं सनन्दिपटहं भद्रासनं कल्पितं' । प्रतिमा १.३

भास की शैली ओज, प्रसाद और माधुर्य से मण्डित है। इसमें क्लिष्ट कल्पना का अभाव है। स्वाभाविक पद विन्यास ही प्रचुर है। कहीं-कहीं भावों की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। 'अनुचरैव वनं गताः' इसमें राम, सीता और लक्ष्मण के अकथनीय हृदयगत भावों की अभिव्यञ्जना है।

भास ने बाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति दोनों का चित्रण किया है। उनका प्रकृति-चित्रण रोचक और सुन्दर है। अन्तःप्रकृति के अनुसार ही बाह्य प्रकृति बदल जाती है। वियोग के समय लता, पुष्प, चन्द्र, सन्ध्या और प्रभात आदि कष्ट-दायक हैं और संयोगावस्था में सुखदायक हैं। अविमारक को वियोगावस्था में सभी शुष्क और नीरस प्रतीत होते हैं—

"लोकोऽयं रविपाकनष्टहृदयः संयाति मूर्च्छामिव"

भास का व्यंग्य प्रयोग असाधारण है। कैकेयी के ऊपर कितना कठोर व्यंग्य है—

'अनपत्या वयं रामः पुत्रोऽन्यस्य महीपतेः।
वने व्याघ्री च कैकेयी त्वया किं न कृतं त्रयम् ।। प्रतिमा—२.८

हे दुर्दैव ! मुझे पुत्रहीन, राम को किसी अन्य राजा का पुत्र तथा कैकेयी को वन में क्यों नहीं बनाया।'

भास ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया है। राम सीता से कहते हैं—

'आपृच्छ पुत्रकृतकान् हरिणान् द्रुमांश्च'
विन्ध्यं वनं तव सखीर्दयिता लताश्च।
वत्स्यामि तेषु हिमवद्गिरिकाननेषु,
दीप्तैरिवौषधिवनैरुपरञ्जितेषु ।। प्रतिमा—५.११

(अपने पुत्रवत् पालित मृगों और वृक्षों से, विन्ध्यवन से, अपनी प्रिय सखी लताओं से विदाई लो। मैं प्रकाशमान औषधियों के वन से सुप्रकाशित हिमालय पर्वत के उन वनों में निवास करूँगा)

साम्प्रदायिक आलोचना

भास उन प्रसिद्ध नाटककारों में से एक हैं, जिनकी प्रशंसा महाकवि कालिदास तक ने की है। मालविकाग्निमित्र के आरम्भ में कवि इस प्रकार कहता है—

प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः।

(लब्धप्रतिष्ठ भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर आधुनिक कवि कालिदास की कृति का इतना अधिक आदर क्यों कर होने लगा ?)

महाकवि बाणभट्ट ने भास का इस प्रकार से गुणगान किया है—

'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव
हर्षचरित

(भास ने सूत्रधार से आरम्भ किये गये बहुत से भूमिका वाले तथा पताका से सुशोभित देवमन्दिरों के समान अपने नाटकों से बहुत यश पाया।)

वाक्पतिराज ने अपने प्रसिद्ध काव्य 'गउडवहो' में भास को जलणमित्त ('ज्वलनमित्र'—अग्नि का मित्र) कहा है—यथा

भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीदेवे तहावि रहुआरे
सौबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणंदो"

भास को 'अग्नि का मित्र' कहना सार्थक है। कुछ लोगों के अनुसार वासवदत्ता के जलने का मिथ्या समाचार फैलाकर भास को नाटकीय कथावस्तु के विकास के लिए सर्वथा उचित अवसर मिला है। अतः अग्निदाह का उपयोग करने वाले भास को अग्नि का मित्र कहा गया है। परन्तु वास्तव में भास के प्रति वाक्पतिराज का यह विशेषण भास-रचित नाटकों की कथा में आये अग्निदाह-दृश्यों के कारण है। स्वप्नवासवदत्ता में लावाणक की अग्नि का उल्लेख है। इसके समान ही

पञ्चरात्र में दावानल का वर्णन है तो अभिषेक नाटक में सीता का अग्नि में प्रवेश करना वर्णित है। अविमारक में नायक अपने आपको वनाग्नि में फेंक देता है। सर्वत्र अग्निदाह है। परन्तु इतना ध्यान में रखना है कि सभी नाटकों में अग्निदाह सहायक सिद्ध होता है। स्वप्नवासवदत्ता में अग्निदाह के कारण वासवदत्ता के मरण का समाचार फैल जाने के कारण राज्य-प्राप्ति में सहायता मिलती है और कथा का विकास होता है। अभिषेक में अग्नि सीता को जलाती नहीं वरं उसके सतीत्व की रक्षा की घोषणा करती है। अविमारक में आग की लपटें चन्दन के समान शीतल हो जाती हैं। इस प्रकार सर्वत्र अग्नि मित्र के रूप में व्यवहार करती हुई प्रतीत होती है। इसी को ध्यान में रखकर भास को ज्वलनमित्र कहा गया है और यह उक्ति पूर्णतः साभिप्राय है।

राजशेखर कवि और काव्य दोनों की स्तुति करते हुए लिखते हैं—

भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

"जब कविता के पारखी विद्वानों ने भास के नाटक-समूह की परीक्षा करने के लिए उन्हें समालोचना-रूपी अग्नि में डाला तो वह अग्नि स्वप्नवासवदत्त को न जला सकी"

राजशेखर के 'नाटकचक्र' और बाण के 'नाटकै' बहुवचनान्त पदों से भास के अनेक नाटकों के कर्ता होने का आभास मिलता है।

'प्रसन्नराघव' के रचयिता जयदेव ने भास को कविता-कामिनी का हास मानकर प्रशंसा की है—

"भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः"

इस स्थल पर भी भास को कविता-कामिनी का हास कहना नितान्त सार्थक है। जिस प्रकार कथानक को ध्यान में रखकर वाक्पति राज ने भास को 'ज्वलन-मित्र' की उपाधि से विभूषित किया, उसी प्रकार जयदेव ने भास के नाटकों में वर्णित शिष्ट हास्य को ध्यान में रखकर 'भासो हासः' कहा है। हास्य रस का चरम परिपाक भास के नाटकों में है। बालचरित, पञ्चरात्र, अविमारक, प्रतिमा, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, चारुदत्त आदि रूपकों में हास्य प्रधान रस के रूप में वर्णित है। हास्य रस के

क्षेत्र में भास कविकुलगुरु हैं। शिष्ट, साधारण और अनिन्द्य हास्य प्रस्तुत करने में भास अद्वितीय हैं। इस दिशा में भास की प्रवीणता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

पाश्चात्य आलोचक याकोबी का कथन है 'भास के नाटकों की संख्या तथा उनके वर्ण्य-विषय की अनेकरूपता से स्पष्ट द्योतित होता है कि उनकी प्रतिभा कितनी मौलिक तथा उनका मस्तिष्क कितना कर्मशील था।'' गणपतिशास्त्री के अनुसार—

The unrivalled merit of Bhasa lies in the delineation of the real nuture of things in their varied conditions by sweet, apt and lucid words suggestive of lofty ideals. In the *Pratima* the central sentiment is *Dharmavir* manifesting itself in the enthusiasm displayed by the hero in cherishing the single thought of carrying out the *Dharma* fulfilling the mandates of his father.

दोष

भास के कुछ दोषों का व्यपदेश असम्भव-सा हो जाता है, जैसे—दूत वाक्य में कृष्ण के मुँह से भद्दे अपशब्द कहलवाकर उन्हें दुर्योधन के स्तर पर ला देना कहाँ तक समीचीन है ? उसी प्रकार पंचरात्र में द्रोण के मुख से अपशब्द शोभा नहीं देते, जब वे शकुनि से बातचीत कर रहे हैं। अविमारक में पराक्रमी नायक और नायिका को आत्महत्या के लिए प्रस्तुत दिखाना ठीक नहीं लगता। प्रतिमा में वन जाते समय राम दशरथ से मिलते तक नहीं। वहीं यह वृत्त तो असम्भव-सा लगता है कि एक ओर राम के अभिषेक की प्रक्रिया ९० प्रतिशत पूरी हो चुकी है, पर सीता को इसका ज्ञान तक नहीं यद्यपि पत्नी को अर्धाङ्गिनी माना गया है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में नीच सिपाहियों के द्वारा उदयन की दुर्गति कराई गई है।

भास ने कहीं-कहीं समय की गति को मन्द समझने की भूल की है। उनके पात्र कोई काम करके क्षण भर में पुनः रङ्गमंच पर आ जाते हैं, जिसे करने में उन्हें घण्टों की अपेक्षा थी। कुछ व्याकरण सम्बन्धी दोष भी मिलते हैं।

षष्ठ अध्याय

मृच्छकटिक

कवि-परिचय

मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक का प्रादुर्भाव कब और किस प्रदेश में हुआ—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। शूद्रक के विषय में प्राचीन काल में अनेक ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से लिखे गये और बहुत से ग्रन्थों में शूद्रक के जीवन-चरित के विषय में चर्चायें मिलती हैं, पर इन पुस्तकों की प्रामाणिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं है और इनमें शूद्रक सम्बन्धी जो विवरण मिलते हैं, वे परस्पर साधक नहीं बाधक हैं।[1] यह भी सम्भावना निर्मूल नहीं कि अनेक शूद्रक हुए हों। फिर भी शूद्रक नाम की इस प्रतिष्ठा से स्पष्ट है कि शूद्रक राजा रहा हो या न रहा हो वह कविराज तो अवश्य ही था। उसकी विमल कीर्ति की ध्वजा चिरकाल तक दिग्दिगन्त में फहराती हुई, कवियों और लेखकों को उसका चरित निबद्ध करने के लिए चपल बनाती रही। इस महाकवि का प्रादुर्भाव चौथी शताब्दी ई० में कालिदास के पहले हुआ था।

शूद्रक के विषय में परवर्ती युग के अभिनेता कवि ने प्रशस्ति लिखी——हाथी की भाँति उसकी मस्त चाल थी। उसके नेत्र चकोर के समान थे। मुख पूर्ण चन्द्र के समान था। शरीर सुन्दर था। वह श्रेष्ठ ब्राह्मण था। उसका सत्व असीम था। उस राजा शूद्रक को युद्ध करने का चाव था। उसे प्रमाद नहीं था, वह वेदज्ञों में निपुण था, तपस्वी था, वह बाहु-युद्ध के लिए उत्सुक रहता था। कवि ने शूद्रक के सम्पूर्ण जीवन का विलास नीचे के श्लोक में दे डाला है—

---

१. शूद्रक-चरित-आख्यायिका है। रामिल और सौमिल ने मिलजुल कर शूद्रक-कथा का प्रणयन किया। पंचशिख ने प्राकृत भाषा में शूद्रक-कथा नामक काव्य का प्रणयन किया था। विक्रान्तशूद्रक में शूद्रक का चरित नाटक रूप में वर्णित है। इनके अतिरिक्त हर्षचरित, कादम्बरी, दशकुमार चरित, कथासरित्सागर राज-तरंगिणी आदि ग्रन्थों में शूद्रक के संक्षिप्त उल्लेख मिलते हैं। अवन्ति-कथा-सुन्दरी के अनुसार शूद्रक स्वयं आर्यक है और बन्धुदत्त इस प्रकरण का चारुदत्त है।

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि शूद्रक के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास हुआ था। वह कोरा कवि या विद्वान् ही नहीं था, वह युद्ध-भूमि में शत्रुओं के छक्के भी छुड़ाता था, नागरक था, कला विलासी था और मृगया करते समय स्वयं हस्ति-चालन करता था। उसके सत्व और तप अनुपम ही थे। इन सभी विशेषताओं से शूद्रक नाटककारों की परम्परा में वैदिक ऋषियों के समान अभ्युदित दिखाई देता है।

शूद्रक इस नाटक में कलाकार के रूप में सर्वोच्च प्रतिष्ठित हैं। चारुदत्त के घर में सेंध लगी है। क्या ले गया वह चोर--यह बताना शूद्रक को अभीष्ट नहीं। यह तो पीछे भी जाना जा सकेगा। पहले तो कवि को यह बताना है कि सेंध किस खूबी से बनाई गई है। यह वर्णन सविस्तर देकर ही शूद्रक आगे बढ़ते हैं। यह शूद्रक की कलाप्रियता है, जिसके द्वारा उसने नाटक के अन्त में वध्य-पटह-ध्वनि को विवाह-पटह-ध्वनि के समान निरूपित कर दिया।

कथावस्तु

मृच्छकटिक नाटक की कथावस्तु का संकेत इसके नाम से होता है, जिसका अर्थ है मिट्टी की गाड़ी। नाटक की कथा में मिट्टी की गाड़ी का विशेष महत्त्व है। नाटक के नायक चारुदत्त के पुत्र के लिए मिट्टी की गाड़ी दी गई थी, क्योंकि एक दिन वह पड़ोसी के लड़के की सोने की गाड़ी से खेल लेने के पश्चात् मिट्टी की गाड़ी का त्याग करके सोने की गाड़ी के लिए मचल गया था। चारुदत्त की सुप्रिया गणिका को जब यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उसने सोने के अपने गहनों से उस लड़के को अलंकृत करके माँ के पास भेज दिया कि इसी से लड़के के लिए सोने की गाड़ी दी जाय। चारुदत्त को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने मित्र विदूषक से कहा कि यह वसन्तसेना गणिका को दे आओ। वहाँ वसन्तसेना की हत्या के अभियोग में चारुदत्त को फंसाया गया था। यह कैसे ?

उन अलंकारों के साथ वसन्त सेना के घर जाते हुए विदूषक ने सुना कि चारुदत्त कचहरी में अभियुक्त बन गया है। वहाँ से वसन्तसेना के अलंकारों के साथ वह कचहरी में दौड़ा आया।

उज्जयिनी में सुदूर प्राचीन काल में एक नायक और एक नायिका थीं, जिनका संक्षेप में चित्रण है--

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः ।
गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ।।

उस समय अवन्ति का राजा पालक उस नगरी का मानो कलंक ही था । उससे भी बढ़ कर अन्यायी था उसका साला शकार जो वसन्तसेना को अपने चंगुल में फँसाना चाहता था । एक दिन वसन्तसेना चारुदत्त के साथ वन-क्रीडा के लिये पुष्पकरण्डक उद्यान में जा रही थी, पर भूल से वह शकार के प्रवहण में जा बैठी और शकार के हाथों में आ फँसी । वसन्तसेना के वश में न आने पर और तीखे प्रतिवाद करने पर शकार ने उसका गला घोंट दिया और न्यायालय में वाद लिखाया कि चारुदत्त ने वसन्तसेना के आभरणों के लिए उसका गला घोंटकर उसे मार डाला है । विदूषक अलंकारों के साथ जब कचहरी में देखा गया तो न्यायाधीशों का सन्देह दृढ हो गया ।[१] चारुदत्त ने पूछे जाने पर कहा कि हाँ, ये अलंकार वसन्तसेना के ही हैं । फिर तो न्यायाधीशों ने न्याय किया--

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ।। ९.३९

किन्तु पालक ने न्यायालय के न्याय को पूर्ण न मान कर अपना निर्णय सुनाया--

येनार्थकल्यवर्तस्य कारणाद्वसन्तसेना व्यापादिता,तं तान्येवा-भरणानि गाले बद्ध्वा डिण्डिमं ताडयित्वा दक्षिणश्मशानं नीत्वा शूले भंक्त इति ।

बस, चाण्डालों के द्वारा वह श्मशान-भूमि में वध्य बनाकर घोषणा-पूर्वक ले जाया जा रहा था ।

इधर गला घोंटने पर भी वसन्तसेना केवल मूर्च्छित होकर बच गई थी । वह स्वस्थ होने पर अपने घर की ओर आ रही थी । मार्ग में चारुदत्त को वध्य स्थान पर ले जाने का वृत्त सुनकर वह वहाँ जा पहुँची और चाण्डालों को बताया कि हमें शकार ने मारा है तो वे चाण्डाल राजा की आज्ञा का शब्दशः अनुवर्तन करते हुए चारुदत्त को छोड़ कर शकार को ढूंढ़ने दौड़ पड़े ।

---

१. चारुदत्त ने कहा है--

अस्मेवंविधे काले दृष्टो भूषणविस्तरः
अस्माकं भाग्यवैषम्यात्पतितः पातयिष्यति ।।९.३१

इधर पालक के अन्याय से सन्त्रस्त उज्जयिनी की जनता ने राज-विद्रोह कर दिया, जिसमें पालक की हत्या कर दी गई और आर्यक को राजा बना दिया गया। आर्यक चारुदत्त का अन्यतम मित्र था। ऐसी स्थिति में।

रक्तं तदेव वरवस्त्रमियं च माला
कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति।
एते च वध्यपटहध्वनयस्तथैव
जाता विवाहपटहध्वनिभिः समानाः ॥ १०.४२

उपर्युक्त कथा-वस्तु संस्कृत रूपक साहित्य में अपनी कोटि की निराली ही है।

पात्रोन्मीलन

मृच्छकटिक में अभिनव कोटि के मनुष्यों की चरित गाथा का संविधान है। इस दृष्टि से यह विशिष्ट कोटि की रचना है। नायक स्वयं उच्च ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ, किन्तु वह कुल सम्प्रति अपने ब्राह्मणत्व के लिए प्रसिद्ध नहीं है। चारुदत्त का पितामह विनयदत्त सार्थवाह था और उसका पिता सागरदत्त भी सार्थवाह ही था। पैत्रिक व्यवसाय-परम्परा चारुदत्त को सफल न बना सकी क्योंकि सार्थवाह में जिस बुद्धि-सौष्ठव का प्रकर्ष होना चाहिए, वह चारुदत्त के पास स्वभावतः नहीं था। इसके विपरीत उसके पास हृदय था, जिसमें दया, सहानुभूति, उदारता आदि का उत्कर्ष था और सबसे बढ़कर उसमें नागरक का कला-विलास था। उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न पुरुष के द्वारा लक्ष्मी का अर्जन असम्भव ही था। हां, उसने अपनी सारी सम्पत्ति का व्यय दूसरों का दुःख दूर करने में तथा कला की चारुता को अपने व्यक्तित्व से चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कर दिया। उसने पुरस्थापन, विहार, आराम, देवालय, तड़ाग, कूप, यूप आदि के निर्माण से उज्जयिनी को अलंकृत कर दिया था।

वैभव की क्षीणता के युग में चारुदत्त का वसन्तसेना नामक गणिका से परिचय हुआ तो कामदेवायतनोद्यान में प्रथम दर्शन में वसन्तसेना उसके रूप-सौन्दर्य, चारित्र्यौदार्य और यशोविश्रुति से उसकी हो गई।[१] यह उस समय की बात है, जब नायक को

निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम्

---

१. आर्यक ने चारुदत्त के विषय में कहा है—न केवलं श्रुतिरमणीयः दृष्टिरमणीयोऽपि।

वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च ॥१.१५

उपर्युक्त विवरणों से अन्तर्दृष्टि रखने वाले पाठक समझ सकते हैं कि यह कथा काल्पनिक नहीं, अपितु सर्वथा सत्य है। इसका नायक चारुदत्त अपनी दीनावस्था में भी उदार रहता है। जब एक प्रमत्त गज का दमन कर्णपूरक ने किया और इस प्रकार एक बौद्ध श्रमण को उसके दाँतों के बीच से बचा लिया तो—

एकेन शून्यान्याभरणस्थानानि परामृश्य ऊर्ध्वं प्रेक्ष्य दीर्घं निःश्वस्यायं प्रावारको ममोपरि क्षिप्तः।

यह वही चारुदत्त था। कर्णपूरक का पराक्रम देखा और अपने शरीर को आभरण रहित देखा तो प्राचीन वैभव के स्मारक अपने कम्बल को ही पुरस्कार-रूप में दे डाला। वह इतना दीन हो गया था कि घर में दीपक जलाने के लिए तेल का प्रश्न उठ खड़ा होता था। पर उसके नाम लेने मात्र से वसन्तसेना के घर में संवाहक का आदर बढ़ा तो सहसा उसके मुख से निकल पड़ा—

साधु आर्य चारुदत्त, साधु, पृथिव्यां त्वमेको जीवसि। शेषः पुनर्जनः श्वसिति।

अर्थात् अकेले चारुदत्त ही पृथिवी पर जीता है, शेष लोग तो केवल श्वास लेते हैं। क्यों ?

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥१.४८

वसन्तसेना ने अपने आभरण लुटेरों के भय से चारुदत्त के घर पर छोड़ दिये थे। रात में वे चोरी चले गये। चारुदत्त को एक उपाय सुझाया गया कि झूठ बोल कर वह बच निकले। चारुदत्त ने उत्तर दिया—

भैक्ष्येणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम्।
अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम् ॥३.२६

यह चारुदत्त का रक्त बोल रहा था, सार्थवाह का नहीं। ब्राह्मण भिक्षा मांग कर वसन्तसेना की क्षति पूरी करेगा, पर झूठ नहीं बोलेगा। झूठ से चरित्र-पतन भी हो जाता है।

दुःखियों का दुःख देखकर चारुदत्त द्रवीभूत हो जाता था। उसने आर्यक नामक भावी राजा के कारागार से भागते समय उसको शरण देते हुए कहा—

अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम्। ७.६

इन्हीं सब गुणों के कारण चारुदत्त की आकृति में वह सौम्यता थी कि न्यायाधीश के मुंह से उसके व्यवहार का निर्णय करते समय अनेक वार निकला—

घोणोन्नतं मुखमपाङ्गविशालनेत्रम्
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम्।
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु
नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्॥ ६.१६

न्यायाधीश का मत था—

तुलनं चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम्।
ग्रहणं चानिलस्येव चारुदत्तस्य दूषणम्॥ ६.२०

यदि वायु को पकड़ लेना सम्भव हो तभी यह सम्भव हो सकता है कि चारुदत्त कोई अपराध करे।

चारुदत्त कितना दयालु है, यह उसी के मुंह से सुनिये—

योऽहं लतां कुसुमितामपि पुष्पहेतो
राकृष्य नैव कुसुमावचयं करोमि। ६.२८

चाण्डालों ने भी चारुदत्त को जाना था कि वह सत्पुरुष है और सुजनों का आश्रयदाता है। तभी तो उसके वध्यस्थान पर ले जाते समय महिलाओं और पुरुषों के नेत्र से इतना अश्रुपात हुआ कि उज्जयिनी की सड़कों पर धूल ही नहीं उड़ती थी—

वध्ये नीयमाने जनस्य सर्वस्य रुदतः
नयनसलिलैः सिक्तो रथ्यातो नोन्नमति रेणुः॥ १०.१०

चारुदत्त को यश प्रिय है, जीवन नहीं। उसने इस सम्बन्ध में अपनी मानसी वृत्ति का परिचय दिया है—

न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमो भवेत्॥ १०.२७

चारुदत्त का विश्वास है क्षमा करने में। वह अपने मारक शत्रु शकार को भी क्षमा कर देता है। इसे कहते हैं—उपकारहत कर देता है।

चारुदत्त का चरित्र-चित्रण ऊपर किया गया है। इससे शूद्रक की अप्रतिम चरित्र-चित्रण-कला का आभास मिलता है। इस कला के द्वारा पात्रों के साथ तादात्म्य की प्रतीति होने पर पाठक उनके साथ सुखी और दुःखी होता है। यही कला मैत्रेय शर्विलक, संवाहक अधिकरणिक आदि पुरुषों और वसन्तसेना, मदनिका, धूता, आदि स्त्रियों के चरित्र-चित्रण में प्रस्फुटित हुई है। चरित्र-चित्रण की इसी विशेषता को परिलक्षित करके विल्सन ने मृच्छकटिक के विषय में लिखा है—

There is something strikingly Shakespearean in the skilful drawing of characters, the energy and life of the large number of personages in the play, and in the directness and clearness of the plot itself.

शूद्रक ने पात्रों के प्रति पाठक की सहानुभूति उत्पन्न कर दी है। चारुदत्त से जब व्यवहार मण्डप में पूछा जाता है कि गणिका वसन्तसेना से तुम्हारा मैत्रीभाव है तो वह कहता है—

'मया कथमीदृशं वक्तव्यम्-यथा गणिका मम मित्रम्। अथवा यौवनमत्रापराध्यति, न चारित्र्यम्॥

इसी प्रकार चतुर्थ अंक में शर्विलक चोरी करता है किन्तु उसकी बुद्धि कार्याकार्यविचारिणी होने के कारण परिशोधित है। उसे दोष दें तो कैसे दें, जब उसने व्रत ही बना लिया है—

नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवतीं फुल्लामिवाहं लतां
विप्रस्वं न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम्।
धात्र्युत्संगगतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचित्
कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता॥ ४.६

वही शर्विलक आगे चलकर कहता है--

स्वत्स्नेहयद्धहृदयो हि करोम्यकार्यम्' आदि

यदि पात्र में कोई दूषण है तो वह अस्थायी है। शर्विलक यह भी तो कह सकता है--

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च।
सम्प्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः॥ ४,२५

सामाजिक दशा

मृच्छकटिक से तत्कालीन सामाजिक दशा पर विशेष प्रकाश पड़ता है। उस समाज में गणिका का अतिशय सम्मान था, यद्यपि उसका सौन्दर्य ही उसके जीवन और प्रतिष्ठा के लिए संशयास्पद था। वर्णव्यवस्था का मनु-सम्मत आदर्श क्वचित् ही परिपालित होता था। कला-विलास को जीवन का प्रधान उद्देश्य मानने वाले ब्राह्मण-युवक येन-केन प्रकारेण ऐन्द्रियक परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील देखे जा सकते थे। शर्विलक और संवाहक तथा विदूषक और चारुदत्त इस प्रवृत्ति के पूर्ण परिचायक हैं। वन-क्रीडा, द्यूत-क्रीडा आदि का प्रचलन श्रेष्ठ मनोरंजन के रूप में था। उसमें बड़े-छोटे सभी व्यापृत हो सकते थे। बौद्ध धर्म का समाज में सम्मान था। वैदिक धर्म के इष्टापूर्त के लिए धार्मिक पुण्य की दृष्टि से समृद्धिशाली लोग प्रचुर व्यय करते थे। यज्ञों का विशेष प्रचलन था। धनियों के प्रासाद के साथ ही साथ दरिद्रों की वस्त्र-हीनता की ओर भी कवि ने ध्यान आकृष्ट किया है।

राजकीय शासन अव्यवस्थित था। प्रजा-पालन की वृत्ति दुर्बल थी। राजा स्वयं राज-काज में कम रुचि लेता था।

शैली

शूद्रक का संस्कृत और विविध प्राकृत भाषाओं पर अधिकार था। नाटक के लिए जिस सरस और बोल-चाल की भाषा की अपेक्षा रहती है, वह शूद्रक को पूर्ण रूप से मिली थी। नाटक के आरम्भ में ही सूत्रधार कहता है—

अनेन चिरसंगीतोपासनेन ग्रीष्मसमये प्रचण्डदिनकरकिरणोच्छुष्क पुष्करबीजमिव प्रचलिततारके क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायते।

इस वाक्य में 'खट-खटायते' शब्द कवि की शैली पर मकाम प्रकाश डालता है। इस पद का अर्थ ध्वनिमूलक है और नेत्रों का खट-खटाना भाव को मूर्त रूप देने में कितना समर्थ है—यह सहृदय पाठक समझ सकते हैं। नाटककार को प्राकृतों से अद्भुत प्रेम था। आठ प्रकार की प्राकृत भाषायें नाटक में प्रयुक्त हैं। अन्यत्र सूत्रधार साधारणतः संस्कृत बोलते हैं, पर मृच्छकटिक का सूत्रधार—कार्यवशात् प्रयोजन-वशाच्च प्राकृतभाषी संवृत्तः। शूद्रक की प्राकृत में भी वरण्डलम्बुक जैसे शब्दों का प्रयोग है। कविवर कहाँ-कहाँ से शब्द ढूंढ़कर उनका संयोजन करते हैं—यह कल्पनातीत ही है।

कवि ने भाषा पात्रोचित रखी है। शकार की भाषा पर्यालोचनीय है। वह वसन्तसेना का वर्णन करते हुए कहता है—

> एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका
> णिण्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मन्जूशिका।
> एशा वेशवहू शुवेशणिलआ वेशंगणा वेशिआ
> एशे शे दशणामके मयि कले अज्जावि मणेच्छदि॥ १.२३

इस श्लोक में शकार का बाहुल्य है क्योंकि इसका वक्ता शकार है। शकार नाम ही सम्भवतः इस कोटि के पात्र की भाषा में श के बाहुल्य के कारण दिया गया है।

शूद्रक अर्थालङ्कारों के संयोजन में अतिशय निपुण हैं। चन्द्रमा के अस्ताचल की ओर जाने का प्रसंग है। कवि कहता है—

> असौ हि दत्त्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः।
> जलावगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम्॥ ३.६

उपमाओं के क्रम विन्यास में कवि ने दूरदर्शिनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। शर्विलक की अपने सम्बन्ध में उक्ति है—

> भुजग इव गतौ गिरिः स्थिरत्वे पतगपतेः परिसर्पणे च तुल्यः।
> शश इव भुवनावलोकने ऽहं वृक इव च ग्रहणे बले च सिंहः॥३.२१

शर्विलक ने इन उपमाओं के द्वारा अपने व्यक्तित्व और प्रवृत्तियों का जो परिचय दिया है, वह उसके भावी कार्यों के लिए अपेक्षित शक्ति का रहस्योद्घाटन करने के लिए प्रतीक रूप में है।

उत्प्रेक्षा की दृष्टि से शूद्रक का विद्युत वर्णन उल्लेखनीय है। देखिये—

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः
शैलस्य मूर्ध्नि निहितेव सिता पताका
आखण्डलस्य भवनोदरदीपिकेय—
माख्याति ते प्रियतमस्य हि संनिवेशम् ।।५-३३

यह विद्युत इन्द्रभवन के मध्य भाग की दीपिका है। वर्षा-वर्णन के प्रसंग में अनूठी उपमाओं का समृद्ध सम्भार है। शूद्रक का मेघ तो चक्रधर है क्योंकि

केशवगात्रश्यामः कुटिलबलाकावलीरचितशङ्खः।
विद्युद्गुणकौशेयश्चक्रधर इवोन्नतो मेघः ।। ५-२

कहीं-कहीं कवि ने उलट-बांसियों के प्रति अपनी अनूठी रुचि का परिचय दिया है। चारुदत्त की पत्नी धूता अपने पति के निष्क्रय के लिए अपनी अन्तिम निधि रत्नावली अर्पित कर रही है तो चारुदत्त के मुंह से सहसा निकल पड़ता है—

कथं ब्राह्मणी मामनुकम्पते कष्टम्, इदानीमस्मि दरिद्रः।
आत्मभाग्यक्षत द्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः।
अर्थतः पुरुषो नारी या नारी सा अर्थतः पुमान् ।। ३-२७

इस प्रकार की उक्तियों के पीछे है कवि का दृष्टिकोण।

कवि की दृष्टि का साहचर्य व्यंजना ने दिया है, जिसके बल पर चारुदत्त और आर्यक का पद्यात्मक संवाद बन पड़ा है—

चारुदत्त—क्षेमेण व्रज बान्धवान्

आर्यकः—ननु मया लब्धो भवान् बान्धवः

चारुदत्तः—स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरेषु भवता

आर्यकः—स्वात्मापि विस्मर्यते।

चारुदत्तः—त्वां रक्षन्तु पथि प्रयान्तममराः

आर्यकः—संरक्षितोऽहं त्वया

चारुदत्तः—स्वैर्भाग्यैः परिरक्षितोऽसि

आर्यकः—ननु हे तत्रापि हेतुर्भवान् ।।७.७

शूद्रक की रचना सूक्तियों के प्रयोग से प्रभावशालिनी प्रतीत होती है। सूक्तियों की रमणीय यवनिका इस प्रकार है--

१. सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते।१.१०

२. रत्नं रत्नेन संगच्छते।१.१२

३. न हि चन्द्रादातपो भवति।

४. निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम्।१.३७

५. स्वके गेहे कुक्कुरोऽपि तावच्चण्डो भवति।१.४२

६. पुरुषेषु न्यासाः निक्षिप्यन्ते न पुनर्गेहेषु।१.५६

७. अपेयेषु तडागेषु बहुतरमुदकं भवति। २.१४

८. स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः।

पुरुषाणां तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपदिश्यते॥४.१९

९. मूले छिन्ने कुतः पादपस्य पालनम्।६.४१

१०. सर्वत्रार्जवं शोभते।१०.४६

शूद्रक की भाषा सरल और सौष्ठवपूर्ण है। वैदर्भी रीति का अनुसरण करते हुए कवि ने केवल इने-गिने स्थलों पर अपने गद्यों में या गीतात्मक पद्यों में कुछ लम्बे समासों का सन्निवेश किया है। नाटक की संवाद-शैली रमणीय और स्वाभाविक है।

मृच्छकटिक बहुविध संस्कृत और प्राकृत छन्दों के द्वारा मण्डित है। छन्दों की गीतात्मकता अद्वितीय गुण है, जो मृच्छकटिक में भरपूर है।

मृच्छकटिक में रस निष्पत्ति की अपूर्व निर्झरिणी प्रवाहित की गई है। रस का सर्वोच्च उत्स दसवें अंक में चारुदत्त का अपने पुत्र रोहसेन से मिलने का वर्णन है। पिता वध्यभूमि की ओर खींचा जा रहा है और पुत्र कहता है—व्यापादयत माम्। रक्षत पितरम्।

शूद्रक ने कतिपय स्थलों पर समस्त उज्जयिनी-वासियों को आलम्बन-विभाव रूप में चित्रित किया है।

वर्णन

शूद्रक वर्णनों के अतिशय प्रेमी हैं। निःसन्देह यह महाकवि महाकाव्य की रचना करने के लिए भी अत्यन्त समर्थ रहा होगा। यद्यपि नाटकों में विस्तृत वर्णनों के लिए समीचीन अवसर नहीं रहता, फिर भी कवि को वसन्तसेना के प्रकोष्ठों के वर्णन का गद्य-माध्यम से तथा वर्षा-ऋतु के वर्णन का पद्य-माध्यम से विस्तार करने में सफलता मिली है। पांचवें अंक में तो कवि को मानों विस्मृत ही हो गया है कि वह नाटक लिख रहा है। इसमें ३७ श्लोक वर्षा-वर्णन के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये श्लोक प्रत्येकशः विभिन्न भावों, छन्दों और कल्पनाओं को ग्रहण करने के कारण और साथ ही कथा के साथ सामञ्जस्य रखने के कारण अतीव मनोरम हैं। इस अंक का नाम ही दुर्दिन रख दिया गया है। स्थान–स्थान पर दरिद्रता का वर्णन उसकी प्रखरता का परिचय देता है। दरिद्रता का निरूपण करने के लिए शूद्रक ने ४० स्थलों पर गद्य और पद्य के माध्यम से लिखा है। इन वर्णनों में कवि की पैनी दृष्टि और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय मिलता है। यथा––

अभ्युदयेऽवसाने तथैव रात्रिंदिवमहतमार्गा।
उद्दामेव किशोरी नियतिः खलु प्रत्येषितुं याति ।१०.१६

शूद्रक ने द्वितीय अंक में जुआरियों के जीवन और उनकी मनोवृत्ति का, तृतीय अंक में चोरी का, नवम अंक में व्यवहार-विधि का तथा दशम अंक में वध्यभूमि-प्रयाण का मानो स्वानुभूत वर्णन किया है।

किसी काम को करते समय मन में जो विचार उत्पन्न होते हों, उनका सविस्तर वर्णन करा देना शूद्रक का परम प्रयोजन है। नाटक की कथा-वस्तु से उस विचार-सरणि का सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। हाँ, अपने आप में उन विवरणों को रोचक होना चाहिए।

कुछ वर्णन तो मृच्छकटिक में स्वाभाविकता और मधुरता की दृष्टि से अद्वितीय ही हैं। यथा निद्रा का––

इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी ललाटदेशादुपसर्पतीव माम्।
अदृश्यरूपा चपला जरेव या मनुष्यसत्त्वं परिभूय वर्धते॥ ३.८

विचारौदार्य

आधिभौतिक परिग्रहों के ऊपर हार्दिक विलास का परिकल्पन अत्यन्त उत्तमता पूर्वक इस नाटक में निर्वाहित है। गणिका वसन्तसेना कहती है—'गुणाः खल्वनुरागस्य कारणम्' अथवा हृदये गृह्यते नारी। शूद्रक ने निर्धनता में हार्द गुणों का सौरभ संवर्धित सा प्रदर्शित किया है। उसका कहना है—

सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्धनकोऽपि शोभते ॥ ३.१

यद्यपि कतिपय वेश्याओं की चर्चा इस प्रकरण में मिलती है, तथापि लेखक का मन्तव्य चरित्र-भ्रंश की विपत्तियों का निदर्शन कराना और तथाकथित नागरक को ठीक रास्ते पर लाना है। शर्विलक स्वयं अपनी अनुभूति का निरूपण करता है—

अयं च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः।
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च ॥ ४.११
न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति
न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो
न वेशजाताः शुचयस्तथाङ्गनाः ॥ ४.१७

अन्तिम निर्णय शर्विलक का ही है—

तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन।
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीया ॥ ४.१४

सन्देश

मृच्छकटिक नाटक का प्रमुख सन्देश अभिधावृत्ति से शूद्रक के शब्दों में ही है

शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥ १.८

अर्थात् मानव पुत्रवान् बने, अच्छे मित्र रखे, बुद्धि-वैभव का संवर्धन करे और दरिद्रता को पास न फटकने दे। यद्यपि दरिद्रता की सर्वाधिक निन्दा की गई है, पर मृच्छकटिक में दरिद्रों के ही पराक्रम से महान् उत्कर्ष की उपलब्धि प्रदर्शित की गई है। पात्र प्रायः दरिद्र हैं, पर उनका हृदय धनासक्त नहीं है, वे हृदय के धनी हैं।

मृच्छकटिक का एक सन्देश तो यही माना जा सकता है कि सर्वशून्य दरिद्र ही सर्वोच्च पराक्रम कर सकता है

त्रुटियां

मृच्छकटिक प्रकरण की कुछ त्रुटियां उल्लेखनीय हैं। दरिद्रता की लगभग ५२ श्लोकों में निन्दा करना और लगभग ४० स्थलों पर उसकी चर्चा करना उचित नहीं प्रतीत होता। दरिद्रता क्या इतनी निन्दनीय है ? इस सम्बन्ध में दो मत हो सकते हैं। व्यक्तिगत रूप से मुझे तो यही कहना है कि दरिद्रता को निन्दनीय समझना ही चारुदत्त के ब्राह्मणत्व से पतित होने का कारण है। कहाँ ब्राह्मण और कहाँ गणिका-विलास ? चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के प्रकोष्ठों का कादम्बरी की शैली पर वर्णन करते जाना नाटकीय कला की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त है। नाटक में ऐसे वाक्यों का तो प्रयोग ही नहीं होना चाहिए, जिसकी अन्यत्र संगति से कोई अभिनव चमत्कार उत्पन्न न होता हो। पंचम अंक में प्रायः आद्यन्त वर्षा-वर्णन भी महाकाव्य लिखने की कवि की शक्ति को ही प्रदर्शित करता है। वास्तव में काव्य की दृष्टि से ये वर्णन अनुत्तम हैं किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से अति विस्तृत होने के कारण त्याज्य हैं।

सप्तम अध्याय

कालिदास

कवि-परिचय

कवि-कुल-गुरु हैं कालिदास और दुरुतर समस्या है उनके काल-निर्णय की। कालिदास ने स्वयं अपने विषय में जो कुछ कहा है, उससे उनके काल के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। उनके समकालीन या परवर्तीयुगीन लेखकों ने भी कालिदास का तिथि-विषयक कोई निर्णायक उल्लेख नहीं दिया है। ऐसी परिस्थिति में एक, दो या तीन कालिदासों की प्रकल्पना अथवा उनका पहली शती ई० पू० से लेकर छठी शताब्दी ई० तक के ७०० वर्षों के अन्तराल में इतस्ततः प्रक्षेप इतिहासज्ञों के लिए स्वाभाविक ही है।

कालिदास के सम्बन्ध में कीथ का मत स्पष्ट है कि उनको गुप्तयुग के चरमोत्कर्ष के साथ रखा जाना चाहिए। कीथ के प्रमाण इस प्रकार हैं—(१) कालिदास ने ग्रीक शब्द जामित्र का प्रयोग किया है। (२) कालिदास की प्राकृत अश्वघोष और भास के पश्चात् की है। (३) कालिदास का ब्राह्मण-संस्कृति का सम्पोषण, काव्योचित वातावरण का ऐश्वर्य, अश्वमेध यज्ञ का वर्णन, रघु की विजय आदि गुप्त-युग में ही संसाध्य हैं। (४) कुमारसम्भव से कुमारगुप्त की और विक्रमोर्वशीय से विक्रमादित्य की समकालीनता अभिव्यक्त होती है। (५) ४७२ ई० की वत्सभट्टि की कुमारगुप्त सम्बन्धी प्रशस्ति में कालिदास के श्लोकों की स्पष्ट छाप है। कीथ उपर्युक्त प्रमाणों के बल पर कालिदास को ४०० ई० के लगभग रखते हैं। कीथ के इस मत के आसपास रामकृष्ण भण्डारकर, रामावतार शर्मा आदि का मत है, जो कालिदास को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं।

कालिदास को प्रथम शती ई० पू० में रखने वाले विद्वानों ने कालिदास को एक प्राचीनतर विक्रमादित्य से सम्बद्ध किया है। इस विक्रमादित्य का उल्लेख प्रथम शताब्दी ई० में लिखी हुई गाथासप्तशती में इस प्रकार मिलता है—

> संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।
> चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा।५.६४

इस गाथा के अनुसार शत्रुओं को जीतने वाले सैनिकों को विक्रमादित्य नाम का उपहार देते थे। विक्रमादित्य को प्रथम शती ई० पू० का सिद्ध करने के लिए हरप्रसाद शास्त्री ने ठोस प्रमाण दिये हैं, जिनका समर्थन प्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ने किया है। इस मत का निराकरण रामकृष्ण भंडारकर ने किया है।

परवर्ती युगीन जैन साहित्य के अनुसार प्रथम शताब्दी ई० के पूर्व ही विक्रमादित्य नामक राजा हुआ, जिसने शकों को उज्जयिनी से भगाया। यह घटना महावीर-निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् अर्थात् ७५ ई० पू० की उल्लिखित है।[१] कथासरित्सागर में पहली शती ई० पू० के उज्जयिनी के विक्रमादित्य के अतिरिक्त पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य का भी उल्लेख मिलता है।[२]

मालवा-प्रान्त में प्रथम शती ई० पू० में शकारि विक्रमादित्य के होने के प्रमाणों की शृंखला इस प्रकार बताई गई है—जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो पंजाब में प्रतिष्ठित मालव-गण ने उससे युद्ध किया, पर पराजित हुआ। इसी मालव-गण ने मौर्यों के शासन के शिथिल होने पर बाख्त्रियों के आक्रमण के कारण पंजाब छोड़कर पूर्वी राजस्थान से होते हुए वर्तमान मालवा प्रदेश में उपनिवेश बनाया। इस प्रकार आधुनिक उज्जयिनी में प्रथम-द्वितीय ई० श० में उज्जयिनी में मालव-गण प्रतिष्ठित हो चुका था। ई० पू० प्रथम शती में शकों की एक शाखा सुराष्ट्र पहुँची और मालव-गण के लिए भय का कारण बनी। मालव-गण की अध्यक्षता में इस प्रदेश के अन्य गणों ने शकों का सामना किया और उन्हें परास्त किया। इस विजय के उपलक्ष में मालव-गण के नेता को शकारि की उपाधि मिली और विजय के दिन से मालव-गण संवत् चला, जिसका उल्लेख मन्दसौर के शिलालेख में मिलता है।[३]

क्या ये वही शकारि हैं, जो परवर्ती युग में विक्रमादित्य के नाम से विख्यात हुए ? इस सम्बन्ध में विचारणीय बातें इस प्रकार हैं—अभिज्ञान शाकुन्तल की सत्रहवीं शती की एक हस्तलिखित प्रति में विक्रमादित्य को साहसांक उपाधि से सम्बोधित

१. इन उल्लेखों के लिए देखिए मेरुतुंगाचार्य की पट्टावली, प्रबन्धकोष और धनेश्वर सूरि का शत्रुञ्जय-माहात्म्य।

२. लम्बक ७ तरंग ४

३. मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।

किया गया है।[१] इसके विक्रमादित्य की गणघातपरिवर्तैः आदि भरतवाक्य के उल्लेख से विक्रमादित्य का गणाधिपति होना प्रत्यक्ष है। इस गण का केन्द्र-स्थान मालवा था।

गुप्तवंशीय विक्रमादित्य के कालिदास के आश्रयदाता होने के सम्बन्ध में नीचे लिखी कठिनाइयां हैं—

(१) गुप्तवंश के किसी राजा का नाम विक्रमादित्य नहीं है। उपाधि-रूप में भले ही गुप्तवंशीय और अन्य राजाओं ने विक्रमादित्य की उपाधि अपने नाम के आगे जोड़ी हो।[२]

(२) गुप्तवंशीय राजाओं की राजधानी मुख्यतः पाटलिपुत्र में थी, उज्जयिनी में नहीं। कालिदास के आश्रयदाता उज्जयिनी के थे।

कालिदास के सम्बन्ध में उपर्युक्त दो प्रमुख मत व्यक्त किये गए हैं। इन दोनों में से कोई भी पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। अभी अन्य प्रमाणों की छानबीन करके ही कालिदास को ई० पू० प्रथम शती या चतुर्थ शती ई० में रख सकते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रमाणों की कम-से-कम एक बड़ी दुर्बलता यह है कि उस युग में लिखित विशाल साहित्य-परम्परा मिलती है किन्तु उसमें कहीं भी कालिदास-विषयक ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, जिससे कहा जा सके कि कालिदास गुप्तकाल में ही हुए या उसके पहले हुए। हठधर्मी ऐतिहासिक उपर्युक्त मतों में से किसी एक को मान्यता प्रदान करने के लिए कभी-कभी दुर्बल तर्कों का सहारा लेते हैं। इससे उनका पक्ष दुर्बल ही पड़ता है।

---

१. काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी के भूतपूर्व अध्यक्ष पं० केशव प्रसाद मिश्र की अभिज्ञान शाकुन्तल की हस्तलिखित प्रति में लिखा है—
आर्ये रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य साहसांकस्याभिरूपभूयिष्ठेयं परिषद् आदि। इसी के भरतवाक्य में कहा गया है—
गणघातपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यैः आदि।

२. गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त की उपाधियां-मात्र विक्रमादित्य और क्रमादित्य थीं। यशोधर्मा ने हूणवंशी राजा मिहिरकुल को परास्त कर विक्रमादित्य उपाधि से अपने को अलंकृत किया।

ऋतु-संहार

ऋतु-संहार महाकवि कालिदास की प्रथम काव्य-रचना है। कवि की युवावस्था की कृति होने के कारण इसमें परवर्तीयुगीन मेघदूत और रघुवंश आदि के समान उच्चस्तरीय काव्य-सौष्ठव नहीं मिलता। प्राचीन काल से ही कुछ विद्वानों ने इसे कालिदास की रचना नहीं माना है। किन्तु ऋतु-संहार का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि इसमें कालिदास के वे सभी गुण बीज-रूप में वर्तमान हैं, जिनके विकास का परिचय अनेक परवर्ती काव्यों में मिलता है।

ऋतु-संहार काव्य में छः सर्ग और १४४ पद्य हैं, जिनमें क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त का मनोहारी और सरस वर्णन है। इसका प्रतिपाद्य विषय ऋतुओं से प्रभावित प्रकृति का चित्रण है। कवि ने काव्य का आरम्भ ग्रीष्म की प्रचण्डता से किया है और वसन्त की मादक सरसता अन्त में है। इससे ज्ञात होता है कि तप और सर्जन के सामंजस्य में कवि की आस्था थी।

ऋतु-संहार में नायक के मुख से नायिका के समक्ष ऋतुओं का क्रमशः वर्णन है। कवि स्थान-स्थान पर उन रसिक श्रोताओं को सम्बोधित करता है, जिनके लिए वह समग्र प्राकृतिक संविधान को पूर्व नियोजित मानता है। ऐसी धारणाओं को लेकर कवि ने जो वर्णना की है, उसका प्रायः शृंगारमयी होना स्वाभाविक है। कवि के शब्दों में—ग्रीष्म-ऋतु में रात्रि के समय उजले भवनों में युवतियों के सुखपूर्वक सोये हुए मुखों को देखकर चन्द्रमा अत्यन्त उत्सुक होने के कारण मानो लज्जा से रात्रि के अन्त होने पर पीला पड़ जाता है।

सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां
सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं
निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम्॥

वर्षा में वन, पुष्पसमन्वित कदम्बों के माध्यम से मानो मुदित है, वायु के द्वारा चलायमान शाखाओं वाले वृक्षों के माध्यम से नाच रहा है, केतकी की कलियों के माध्यम से मानो हंस रहा है। इस समय नये जल से स्नान कर लेने पर वन का सारा सन्ताप मिट चुका है—

मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः समन्ता-
त्पवनचलितशाखैः शाखिभिर्नृत्यतीव।

हसितमिव विधत्ते सूचिभिः केतकीनां
नवसलिलनिषेकच्छिन्नतापो वनान्तः ।२।२३.

शरत् नववधू काश का अंशुक धारण करके आती है। विकसित कमल ही उसका मनोरम मुख है। प्रमत्त हंसों का कलरव ही शरद्-रूपी नववधू के नूपुर का रम्य संगीत है। पके हुए धान के पौधे के रूप में उसकी रमणीय गात्र-यष्टि प्रत्यक्ष है।

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा,
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरा तनुगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ।।३।१

हेमन्त में गाँव के बाहर खेतों में शालि-राशि अतिशय मात्रा में विराजमान है। उसे हरिणियों के समूह विभूषित कर रहे हैं। क्रौंच पक्षियों का मनोरम निनाद हो रहा है। ऐसा सीमान्तर प्रदेश देखकर चित्त उत्सुक हो जाता है—

प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि
मृगांगनायूथविभूषितानि।
मनोहरक्रौञ्चनिनादितानि
सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः ।।४।८

शिशिर में उत्सुक रमणियाँ ताम्बूल, विलेपन और माला धारण करके, पुष्पासव से अपने मुख-कमल को सुगन्धित बनाकर उस शय्यागृह में प्रवेश करती हैं—

गृहीतताम्बूलविलेपनस्रजः
पुष्पासवामोदितवक्त्रपङ्कजाः।
प्रकामकालागुरुधूपवासितं
विशन्ति शय्यागृहमुत्सुकाः स्त्रियः ।।५।५.

वसन्त में तो सब चारुतर होता है। वृक्ष पुष्पों से आच्छादित होते हैं। जल में कमल खिले रहते हैं। स्त्रियाँ सकाम होती हैं। वायु सुगन्धित होता है। सन्ध्या का समय सुखावह होता है और दिन का समय रम्य होता है।

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं
स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः
सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥ ६।२

उपर्युक्त वर्णनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि का मन बाह्य सृष्टि, स्वभावोक्ति और शृंगार की ओर अधिक है। इसमें कवि का प्रारम्भिक प्रकृति-प्रेम चित्रित है। प्रासादिकता होते हुए भी इसमें ध्वनि का अभाव है।

राइडर ने ऋतु संहार को प्रेम का तिथिपत्र (Lover's Calender) कहा है, जो असमीचीन है[1] क्योंकि इसमें वस्तु और प्रकृति दोनों का पर्याप्त चित्रण है। मेकडालन के अनुसार "प्रकृति के प्रति कवि की गहरी सहानुभूति, सूक्ष्म निरीक्षण सजीव चित्रण, प्रणय-मूलक दृश्य और भारतीय प्राकृतिक दृश्यों को विशद रंगों में चित्रित करने की कुशलता को जितने सुन्दर रूप में यह ग्रंथ सूचित करता है, उतना अन्यत्र असम्भाव्य है।"[2] कीथ ने इस ग्रंथ की गणना श्रेष्ठतम ग्रंथों में करते हुये कहा है "कालिदास के दूसरे किसी भी ग्रंथ में वह पूर्ण प्रसाद गुण नहीं है, जिसे आधुनिक अभिरुचि के अनुसार कविता की रमणीयता माना गया है, यद्यपि प्राचीन अलंकार-विदों को इसने बहुत आकृष्ट नहीं किया है।"[3]

मेघदूत

भारतीय काव्य-साहित्य में मेघदूत अपनी कोटि की आदिम और सर्वश्रेष्ठ रचना है। कथा-साहित्य में पशु-पक्षियों के माध्यम से मानव और पशु-जगत् की प्रवृत्तियों का सामञ्जस्य करते हुये कौतुकपूर्ण कल्पना-विन्यास की रीति सुदूर प्राचीन काल से ही रही है। वैदिक और बौद्ध साहित्य में कथाओं की संख्या अगणित ही है। सम्भवतः उपर्युक्त आदर्श का अनुकरण करते हुये ही कालिदास ने प्रकृति के बीच से अतिशय मनोरम और सतत संचरणशील मेघ को दूत बनाकर उसमें मानवोचित प्रवृत्तियों को नियोजित किया है। कवि के इस प्रयोग की सफलता अपूर्व ही कही जा सकती है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने मेघदूत में कालिदास की उत्कृष्ट प्रतिभा की परख की है और प्रमाणित किया है—भारत में अनेक आनन्दोत्सवों के अवसर पर अनेक मिट्टी

१. Kalidasa Translations Page 211
२. Sanskrit Literature Page 337
३. History of Sanskrit Literature Page 103

के दीपक—अनेक क्षणिक साहित्य—अर्धरात्रि को अपना काम पूरा करके सबेरे बुझ गये हैं--विस्मृति-लोक में लीन हो गये हैं। पहले-पहल जो स्वर्ण दीपक हमें दिखाई देता है, वह कालिदास की रचना है। वह दैनिक प्रदीप इस समय भी हमारे घरों में प्रकाश डाल रहा है। वह जो रत्नदीप हमारे उज्जयिनीवासी पितामह के प्रासाद-शिखर पर जला था, उसमें अभी तक कलंक की छाया नहीं पड़ी। हमारे कहने का अभिप्राय है कि संस्कृत साहित्य में केवल आनन्द-दान के उद्देश्य से काव्य की रचना पहले-पहल कालिदास ने की है। हमारे इस कथन का एक दृष्टान्त है मेघदूत।

मेघदूत में एक यक्ष के प्रेम-विरह की कथा लगभग ११० श्लोकों में कही गई है। यक्ष के स्वामी कुबेर ने उसे एक वर्ष के लिए निर्वासन का दण्ड दिया है। वह रामगिरि पर्वत पर रहता है। वर्षा के समागम के अवसर पर यक्ष के हृदय में विरह की अग्नि सुलगती है। ऐसी परिस्थिति में वह पर्वत-शिखर पर हाथी के समान एक मेघ देखता है। वह कुटज-पुष्प का अर्घ समर्पित करके मेघ का स्वागत करता है और निवेदन करता है कि तुम अलकापुरी में मेरी प्रियतमा के लिए सन्देश ले जाओ। यक्ष ने मेघ को यात्रा-पथ इस प्रकार बताया है--अनुकूल वायु तुमको कोमलतापूर्वक आगे बढ़ायेगी, दाहिनी ओर चातक मधुर गान करते हुए मिलेंगे और कैलास तक तो हंस अपनी चोंचों में मृणाल-दण्ड का पाथेय लिए हुए मानसरोवर जाने के लिए तुम्हारे साथी रहेंगे। मार्ग में जब कभी थक जाना तो पर्वत-शिखरों पर विश्राम कर लेना और क्षीण हो जाने पर नदियों का जल पी लेना। आम्रकूट पर्वत कृतज्ञ होकर तुमको सिर पर धारण कर लेगा क्योंकि तुमने उसकी दावाग्नि बुझाई है। प्रत्येक पर्वत पर मयूर मधुर गान से तुम्हारा स्वागत करेंगे, किन्तु तुम जाने की शीघ्रता करना। विदिशा की राजधानी में जाकर वेत्रवती नदी का जल पी लेना। उत्तर की ओर जाने में पथ कुछ टेढ़ा अवश्य पड़ेगा, किन्तु तुम उज्जयिनी के प्रासादों की गोद का आनन्द अवश्य लेना। वहाँ महाकाल शिव की पूजा के समय अपने गर्जन से ढोल का स्वर निकालना। एक रात तुम उस नगरी की किसी ऊँची छत पर बिता लेना। मार्ग में गम्भीरा नदी का जल पी लेने के पश्चात् वहीं देर न करने लगना। वहाँ से देवगिरि की ओर जाते समय तुम्हारे नीचे ठंडी वायु बहती हुई मिलेगी। वहाँ अपने गर्जन से कार्तिकेय के मोर को नचा लेना। आगे बढ़ने पर रन्तिदेव के यश के रूप में चर्मण्वती नदी का जल पीते समय तुम मुक्ताहार में इन्द्रनील मणि की भाँति प्रतीत होगे। वहाँ से दशपुर होते हुए तुम ब्रह्मावर्त देश में कुरुक्षेत्र पहुँचोगे। वहाँ सरस्वती का जल पी लेने पर तुम्हारी आन्तरिक शुद्धि हो जायेगी, केवल शरीर-मात्र काला रहेगा। वहाँ से चलने पर तुम्हें गङ्गा मिलेगी। गङ्गा में जब तुम्हारी छाया पड़ेगी तो ऐसा ज्ञात होगा मानों प्रयाग के अतिरिक्त वहीं यमुना का संगम हो गया। वहाँ से हिमालय

पर्वत की शोभा का निरीक्षण करके तुम क्रौंच पर्वत के छेद से होकर कैलास के अतिथि बनना । वहाँ यदि पार्वती को पैदल चलते हुए देखना तो सीढ़ी बन कर शिखर पर चढ़ने में सहायक होना । मानस का जल पी लेने पर जब तुम आगे बढ़ोगे तो अलका दिखाई देगी । यात्रा-पथ के वर्णन के पश्चात् यक्ष ने अलकापुरी का विशद चित्रण किया है। उसने नगरी में अपने घर की पहचान बताई है और अपनी प्रियतमा को पहचानने के लिए उसके स्वरूप का वर्णन किया है । अन्त में उसने यक्षिणी को आश्वासन देने के लिए अपनी कुशल और वियोग के दुःखों का समाचार मेघ को बताया है और प्रार्थना की है कि सन्देश का उत्तर लेकर मेरे पास आना ।

भारतीय साहित्य में प्रकृति की सामञ्जस्यपूर्ण गतिविधि का ऐसा सफल वर्णन अन्यत्र सुलभ नहीं है । मेघदूत में कालिदास ने प्रकृति के उस वन्दनीय स्वरूप का चित्रण किया है, जिसमें वह उदारतापूर्ण सहानुभूति से परिव्याप्त है । आदि से अन्त तक मेघ जिस किसी के सम्पर्क में आता है, उसे सुख और शान्ति, हर्ष और उल्लास प्रदान करता है । प्रकृति के समस्त तत्त्व मेघ का समादर और स्वागत करने के लिए प्रस्तुत हैं । अपने अभिराम गुणों के द्वारा मेघ अनेक स्थलों पर प्रकृति का अलंकरण है ।

कला

रमणीय एवं सुकुमार कल्पना के अनुसार ही मेघदूत की भाषा और शैली भी अत्यन्त मनोहर है । इसकी भाषा मधुर पदावलियों के साथ-साथ प्राञ्जल तथ प्रवाह पूर्ण है, यथा

'मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरस्ते चातकस्ते सगर्वः"

कैलास की गोद में पड़ी हुई गंगा का चित्र दर्शनीय है—

"तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वां दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्"

उसी प्रकार विरह-विधुरा यक्ष-पत्नी का चित्र अत्यन्त ही मार्मिक है—

"उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य ! निक्षिप्य वीणां,
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।

तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती"

"हे सौम्य मेघ ! वहाँ तुम पहुँचकर देखोगे कि मेरी विरह-कातर पत्नी मलिन वस्त्र पहने हुए, गोद में वीणा लेकर कुछ ऐसे गीत गाने की चेष्टा कर रही होगी, जिनमें मेरे नाम का प्रयोग किया गया होगा। उस समय वह अश्रुओं से भीगी वीणा को किसी प्रकार पोंछ कर, मेरे स्मरण से विह्वल होकर बारंबार अपनी अभ्यस्त मूर्च्छनाओं को भी भूल जायगी।" वह चिन्ता के कारण कृश-काय कृष्णपक्ष की क्षीण चन्द्रकला के समान होगी—

"आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः"

वह न तो सोती है और न जागती है। उसकी स्थिति मेघाछन्न कमलिनी के समान है—

"चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्"

मेघदूत में विरह पीड़ित उत्कण्ठित हृदय की मर्मभरी वेदना है, जिसके प्रत्येक पद्य में प्रेम की विह्वलता, विवशता तथा विकलता अभिव्यक्त हो रही है। अपनी प्रिया का स्वप्न में भी समागम चाहने वाला यक्ष, उससे भी वंचित रह जाता है—

'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥"

मेघदूत में बाह्य-प्रकृति और अन्तः-प्रकृति का मार्मिक चित्रण है। सारा पूर्व-मेघ बाह्य-प्रकृति का मनोहर रूपयोजनात्मक वर्णन है। सर्वप्रथम यक्ष में प्रकृति के प्रति आत्मीय संवेदनशीलता है। वह मेघ की पूजा करता है और उसका स्वागत करने के पश्चात् प्रेमपूर्वक याचना करता है।

मेघदूत में आत्मीय सहानुभूति आद्यन्त विद्यमान है। यक्ष मेघ के लिए अनेक लोभनीय दृश्य बतलाता है। उसके विश्राम का प्रबन्ध करता है। उसे भोजन की

सामग्री निवेदन करता है। यक्ष अपने विरह वेदना में भी मेघ के सुख की बात नहीं भूलता--

"तां कस्यांश्चिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः" ॥

इसमें मेघ के प्रति यक्ष का स्नेह व्यक्त होता है। आत्मीय आग्रह है और प्रोत्साहन है। इस आत्मीय स्नेह के घने वातावरण में यक्ष मेघ को मानवीय चेतना और प्राणों से संवेदित कर देता है। मेघ इस साहचर्य और आत्मीयता की अनुभूति से सप्राण हो जाता है—

"गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसंपातहेतोः
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्।"

मेघ "धूमज्योतिः सलिलमरुतां" का सन्निपात नहीं, अपितु सजीव प्राणी है। वह एक नायक के समान है। उसके सारे व्यवहार मानवीय हैं। वह मानवीय गुणों से ओत-प्रोत है। यक्ष मेघ को कैलास पर्वत तक एक सहचर प्रदान करता है—

"आ कैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः
संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः।"

मेघ में विनोदप्रियता, रसिकता और यक्ष के समान ही प्रणय-पिपासा है। सारी चराचर प्रकृति सचेतन और भावनाशील है। नदियाँ प्रेमिकाओं की भाँति आचरण कर रही हैं। सूर्य प्रातःकाल अपनी प्रियतमा नलिनी के ओस-रूपी आँसुओं को अपने करों से पोंछता है। प्रियतम-सा चाटुकार शिप्रा-वात कामिनियों के सुखमय गात्र का स्पर्श करती है। सर्वतः प्रकृति में पारस्परिक संवेदना के भाव हैं। पहाड़ बहुत दिनों से अपने स्नेही मेघ को पाकर गरम-गरम आंसू बहाता है और मेघ सखा की भांति मिलकर उससे विदा मांगता है—

"आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।

काले काले भवति भवतो यस्य संयोग्यमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुंचतो वाष्पमुष्णम् ।"

उत्तरमेघ में अन्तःप्रकृति का मार्मिक उद्घाटन प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति में सहानुभूति की भावना का आरोप किया गया है। यक्ष की करुण दशा देखकर प्रकृति उसके प्रति समवेदना प्रकट करती है और आंसू बहाती है—

"मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ।"

कालिदास ने यक्ष और उसकी प्रेयसी की विरहावस्था का वर्णन कर उनकी अन्तःप्रकृति का मार्मिक चित्रण किया है। उसकी आतुरता, विकलता, कातरता, स्पन्दन और क्रन्दन की करुण तान झंकृत हो रही है। यक्ष-पत्नी के बाह्य एवं अन्तः सौन्दर्य का सुकुमार और करुण अंकन अपूर्व है—

"तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ।"

"मेघदूत में भावों का आवेश लेकर वाणी उठती है और इसके अतिरेक से मौन हो जाती है। वैदिक कल्पना के अनुसार द्युलोक की पुत्रियां अनग्ना और अवसना हैं, वे न तो एकान्त प्रकट हैं और न एकान्त गूढ़। मेघदूत के स्थूल शब्दों में अर्थ भी कुछ उसी प्रकार प्रकट है पर उसके भीतरी अर्थों का कोई ओर-छोर नहीं दिखाई देता। इसमें मनुष्य की चिर नवीन विरह-वेदना है। इसमें स्त्री-पुरुष के मधु-सिंचित प्रणय की कहानी है और अपूर्व सौन्दर्य का अंकन है—

"श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥

प्रियतमे ! मैं अहर्निश तेरी रूपमाधुरी का चिन्तन किया करता हूँ और अपने नेत्रों को कृतार्थ करने के लिए भिन्न-भिन्न वस्तुओं में तेरी समता ढूँढ़ने में लगा रहता हूँ। तेरे कोमल अंग की समता मुझे प्रियंगु लता में मिलती है। तेरी दृष्टि की समता चंचल चकित हरिणियों की चितवन में मिलती है। तेरे मुख की समता चन्द्रमा में और कुन्तलों की समता मोरों के पंखों में प्राप्त होती है। भृकुटि-विलास की समता नदी की पतली-पतली चंचल लहरों में मिलती है। परन्तु निष्ठुर ! तेरे सर्वाङ्ग की समता किसी भी एक वस्तु में कहीं भी एकत्र देखने को नहीं मिलती।"

"कुशल चित्रकार जिस प्रकार तूलिका की सहायता से चार-छः रेखाओं में सुन्दर से सुन्दर चित्र बनाता है, उसी प्रकार कवि ने बहुत ही अल्प शब्दों में मृदुल और अत्यन्त रमणीय उदार भावों का चित्र उतारने में सर्वोच्च सफलता पाई है।" अलंकारों का सन्निवेश अनुभव-सिद्ध है। कल्पना की पराकाष्ठा, चित्रों की चरम सीमा, और भावों की सीमान्तलेखा नितान्त प्रभावोत्पादक हैं। भावों की शिला पर कल्पना द्वारा भरे हुए सभी रंग उभर आये हैं।

वैदेशिक आलोचना

महाशय 'मोनफ्रेच' ने आशंसा की है कि यूरोप में ही क्या, विश्व भर के साहित्य में ऐसी कृति खोजने पर भी दूसरी नहीं मिलेगी। सी० ए० किंकेड का कथन है कि यह 'किसी भी भाषा में सर्वाधिक विस्मयजनक प्रेम-कविता है" प्रो० विलसन ने इसकी सरल किन्तु साथ ही, अत्यन्त सुष्ठु एवं परिमार्जित शैली को अनुत्तम कहा है। मैकडानेल के अनुसार इसमें उपलब्ध भावों की गहराई तथा प्रकृति के रमणीय दृश्य अनुपम एवं अलौकिक हैं। प्रेम विरहाग्नि में और खिलता है—

"स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति"

यही प्रेम का शाश्वत सन्देश है। तभी तो यक्ष के मानस में पुनर्मिलन की उत्कट अभिलाषा है—

"पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु"

विश्वविख्यात आलोचक हमबोल्ट के अनुसार "भाव व्यक्त करने में जो मृदुलता उन्होंने दिखलाई है और रचनात्मक कल्पना की जिस बहुलता का परिचय दिया है, उससे संसार के काव्यों में उसका स्थान बहुत ऊँचा हो गया है"

"Tenderness in the expression of feeling and richness of the creative fancy have assigned to him his lofty place among the poets of all nations".

मैक्समूलर के अनुसार--

'Besides the expression of emotion, the descriptive element is very prominent in this famous poem. Kalidasa's 'Meghaduta' or 'Cloud Messenger' is a lyrical gem which won the admiration of Goethe"

गेटे के अनुसार—

"The first acquaintance with this work made an epoch in our life."

प्रो० मानियर विलियम्स के अनुसार इसमें क्या नहीं है ? "ग्रीस के महाकवि होमर की शोभा, रोम के महाकवि वर्जिल की कोमलता, फ्रांस के महाकवि ओटविड की विशालता और इंगलैण्ड के महाकवि शेक्सपियर की गम्भीरता—इन सबों का एकत्र दर्शन मेघदूत में होता है"। कालिदास ने अपनी भावनाओं के सागर को मेघदूत के गागर में भर दिया है।

मेघदूत के सम्बन्ध में कविवर रवीन्द्र का अभिमत सर्वोपरि है—

"कविवर ! कबे कोन् विस्मृत बरषे,
कोन पुण्य आषाढेर प्रथमदिवसे

लिखेछिले मेघदूत !

मेघदूत इतना सम्पन्न, इतना गेय, इतना मधुर, प्रौढ़ और सुरुचि-सौरभ से भरा काव्य है कि यदि कालिदास अपनी तूलिका से इसी का एकमात्र सर्जन करते, तब भी उनका स्थान संस्कृत कवियों में प्रथम होता। मेघदूत के विषय में 'माघे मेघे गतं वयः' उक्ति सार्थक है।

कुमारसम्भव

कथावस्तु

कुमारसम्भव में कालिदास ने शिव और पार्वती के विवाह और उनके पुत्र कार्तिकेय के द्वारा तारकासुर के वध की कथा लिखी है। पार्वती हिमालय पर्वत की कन्या थी। नारद ने हिमालय से कहा कि इसका विवाह शिव से होगा। तभी से पार्वती शिव की सेवा करने लगी। इधर देवताओं को ब्रह्मा ने बताया कि उनके शत्रु तारक को शिव और पार्वती का पुत्र ही युद्ध में मार सकता है। देवताओं के राजा इन्द्र ने काम को शिव की तपस्या भंग करके पार्वती के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिये भेजा। इस प्रयास में काम को प्राण से हाथ धोने पड़े। शिव ने उसे जला दिया। पार्वती को छोड़कर शिव अन्यत्र चले गये। ऐसी परिस्थिति में पार्वती ने शिव के लिए तप करना आरम्भ किया। उसकी घोर तपस्या से शिव प्रसन्न हुए। उन्होंने पार्वती को तपोमयी निष्ठा देखकर उसे अपनी पत्नी बना लिया। कुछ समय बीतने पर कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ और उन्होंने घोर संग्राम में तारक का वध किया। स्वर्ग से देवी-देवताओं ने पुष्प-वृष्टि की तथा उपद्रव समाप्त हुआ।

कुमारसंभव में कालिदास की कला का अन्यतम दर्शन होता है। इसमें भाव व्यंजना, कोमल कल्पना तथा ललित पदविन्यास, वर्णना-शक्ति आदि अपनी चरम-सीमा में अभिव्यक्त हुए हैं। अन्तः और बाह्य दोनों प्रकृति का मनोरम वर्णन किया गया है। कुमारसम्भव में शृंगार प्रधान होने पर भी विप्रलम्भ और करुण रसों का पूर्ण परिपाक हुआ है। प्रथम सर्ग में हिमालय का उदात्त और मनोरम वर्णन, तृतीय सर्ग में आकस्मिक बसन्त-ऋतु के आगमन से वनश्री का वर्णन, चतुर्थ सर्ग में रति-विलाप, और पंचम सर्ग में शिव-पार्वती-संवाद अत्यन्त प्रसादपूर्ण शैली में निबद्ध किए गये हैं। महादेव, पार्वती, रति और मदन इस काव्य के प्रमुख पात्र हैं। समाधिस्थ शंकर का जो दिव्य चित्र अंकित हुआ है, वह भव्य, प्रभावोत्पादक तथा आध्यात्मिकता से समन्वित है। पार्वती के रूप-लावण्य में कवि ने विशेष प्रतिभा दिखलाई है, यथा

"स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥ कु० ५।२४

इसमें पार्वती के अनिन्द्य सौन्दर्य का वर्णन व्यंजना-शक्ति के माध्यम से किया गया है। पार्वती के अवयवों का चारु चित्रण है। पार्वती निर्जन प्रदेश में तपस्या कर रही हैं। वर्षा की प्रथम बूंदें उसके ललाट से नाभि तक पहुँचती हैं। क्षण भर के लिए भौंहों में रुकती हैं, क्योंकि वे घनी एवं स्निग्ध हैं। इसके पश्चात् अधरों से होती हुई उसके वक्षःस्थल से टकराकर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं।

कुमारसंभव का उपजीव्य रामायण प्रतीत होता है। इसका नामकरण भी उसी ग्रंथ के आधार पर प्रतीत होता है।

एष ते राम गङ्गायाः विस्तरोऽभिहितो मया।
कुमारसंभवश्चैव धन्यः पुण्यस्तथैव च ॥वा० ३७·३२

किष्किन्धा-वन में वसन्त का वर्णन और कुमार सम्भव के तृतीय सर्ग के वसन्त-वर्णन में साम्य है। रति की निराशा का सादृश्य रामायण में बाली की पत्नी तारा के विलाप में प्राप्त होता है। दोनों का विलाप एक जैसा है। फिर भी कालिदास अधिक सुन्दर भाव-चित्र खींचने में समर्थ हुए हैं।

कुमारसम्भव में दैविक-लौकिक, मर्त्य-स्वर्ग, त्याग-भोग और तप-विलास का अपूर्व सामञ्जस्य सम्पन्न हुआ है। वासना-जनित प्रेम का पर्यवसान दुःख और क्लेश है। तप से प्राप्त प्रेम में ही आनन्द और सच्चा स्नेह है—यही कुमारसम्भव का अमर संदेश है। महर्षि अरविन्द के शब्दों में "प्राक्तन संस्कृत साहित्य में 'कुमारसम्भव' का वही महनीय स्थान है जो आँग्ल साहित्य में मिल्टन के 'पैराडाइज़ लास्ट' का। यह महाकाव्य की पद्धति की अपने युग की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस महान् काव्य का केन्द्रीय वक्तव्य है शिव और पार्वती का विवाह जो, अपने मूल भाव में, पुरुष तथा प्रकृति के मंगल-मिलन का प्रतीक है। इस कहानी में आत्मा के द्वारा परमेश्वर की खोज एवं प्राप्ति का प्रतीकत्व भी अभिप्रेत है और पार्वती के शिव-उपलब्धि के अनुष्ठानों में यह भाव एक प्रकार से ओत-प्रोत है।" पार्वती (आत्मा) के रूप-सौन्दर्य की सार्थकता अपने प्रिय (परमेश्वर) को आकर्षित कर लेने में ही सन्निहित है—अन्यथा वह असौन्दर्य है—

"निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ कु० ५·१

अतः निर्व्याज सौंदर्य एवं अनुराग के लिए, अप्रतिहत लावण्य और औदार्य के लिए एवं चिरन्तन नारीत्व के अमोघ आवर्जन के लिए कालिदास द्वारा अंकित उमा का

वर्णन विश्व-साहित्य में अनुपम और अद्वितीय है"[१] विश्वकवि रवीन्द्र के शब्दों में "कालिदास ने अनाहूत प्रेम के उन्मत्त सौन्दर्य की उपेक्षा नहीं की है। उसे तरुण लावण्य के समुज्ज्वल रंगों से चित्रित किया है। किन्तु, इसी उज्ज्वलता में उन्होंने अपना काव्य समाप्त नहीं किया। 'महाभारत' के सारे कर्मों का अन्त जैसे महाप्रस्थान में हुआ, वैसे ही 'कुमारसंभव' के प्रेम का आवेग मंगल-मिलन में परिसमाप्त हुआ है।"[२] कामदेव द्वारा मिलन असम्पन्न और अपूर्ण रहकर, देवाहत होकर अपने मिलन-मन्दिर में ही समाप्त हो गया और उसके पश्चात् तप से प्राप्त मिलन, सौन्दर्य के सारे बाहरी आडम्बरों से रहित, निर्मल वेश में कल्याण की कमनीय दीप्ति से जगमगा रहा है। "सौन्दर्य की पूर्णता शान्ति में है, विरोध में नहीं। कालिदास ने अपने काव्य के रस-प्रवाह को स्वर्ग-मर्त्य-व्यापी सर्वाङ्गसम्पन्न शान्ति में मिलाकर उसे महान् परिणाम का रूप दिया है।"[३]

कथावस्तु के सम्बन्ध में रवीन्द्र का यह कथन अक्षरशः सत्य है—"आधुनिक कवि हतमनोरथा पार्वती के दुःख और लज्जा के मध्यकाल में ही 'कुमारसंभव' को समाप्त कर देते। उस असामयिक वसन्तकालीन रक्ताशोक के मधु-कुंज में मन्मथ-मथन महादेव के दीप्त कोपानल की छटा देखकर नम्रमुखी लज्जारुणा पार्वती अपने समस्त व्यर्थ पुष्पाभरण को धारण किये, पाठकों के व्यथित हृदय के करुण अरुण-कमल पर आकर खड़ी रहती। अकृतार्थ प्रेम की वेदना पाठकों को चिरकाल तक घेरे रहती। आधुनिक समालोचकों के मत में यहीं काव्य का उज्ज्वलतम सूर्यास्त होना चाहिए। इसके पश्चात् विवाह की रात तो अत्यन्त प्रकाशहीन है।"[४]

महर्षि अरविन्द के शब्दों में—"प्राक्तन संस्कृत साहित्य में 'कुमार-संभव' का वही महनीय स्थान है जो आंग्ल-साहित्य में मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' का। यह महाकाव्य की पद्धति की अपने युग की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस महान् काव्य का केन्द्रीय वक्तव्य है शिव और पार्वती का विवाह, जो, अपने मूल भाव में, पुरुष तथा प्रकृति के मंगल-मिलन का प्रतीक है। इस कहानी में आत्मा के द्वारा परमेश्वर की खोज एवं प्राप्ति का प्रतीकत्व भी अभिप्रेत है और पार्वती के शिवोपलब्धि के अनुष्ठानों में यह भाव एक प्रकार से ओत-प्रोत है।"

१. K. S. Ramaswami Sastri "Kalidasa" पृ० 16
२. प्राचीन साहित्य पृ० १६
३. वही ,, २३
४. वही ,, १५

रघुवंश

'रघुवंश' समस्त संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। यह कालिदास की परिपक्व प्रतिभा का चरम उदाहरण है। 'रघुवंश' में कालिदास ने १९ सर्गों में रघुवंश के २९ राजाओं का वर्णन किया है।

कथावस्तु

रघुवंश का आरंभ महाराज दिलीप की कथा से हुआ। दिलीप ने कामधेनु की पुत्री नन्दिनी गाय की सेवा करके उससे पुत्र पाने का वर पाया। पुत्र का नाम रघु पड़ा। रघु ने दिग्विजय करके विश्वजित् यज्ञ किया। रघु के पुत्र का नाम अज था। कालिदास ने अज के विवाह के अवसर पर इन्दुमती के स्वयंवर का विशद चित्रण किया है। अज के पुत्र महाराज दशरथ हुए। दशरथ को मृगया का बड़ा चाव था। उन्होंने रात्रि के समय घड़ा भरते हुए श्रवण को शब्द-वेधी बाण द्वारा मार डाला था। इस घटना का पूरा विवरण नवम सर्ग में मिलता है। इसके पश्चात् राम की कथा का वर्णन आरम्भ होता है

राम-कथा का आधार वाल्मीकि रामायण है। केवल चार सर्गों में राम-जन्म से लेकर रावण की मृत्यु तक की घटनाओं का वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् राम के लंका से लौटने और सीता-वनवास का वर्णन है। राम की आज्ञा के अनुसार लक्ष्मण सीता को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आते हैं। वहाँ उसके लव और कुश, दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। ऋषि राम से सीता को पुनः ग्रहण करने के लिए कहते हैं। राम प्रजा के सामने सतीत्व का प्रमाण देने के पश्चात् सीता को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते हैं। सीता आती है, किन्तु आत्म-शुद्धि की परीक्षा देते समय पृथ्वी उसे सदा के लिए अपने गर्भ में ले लेती है। अन्त में पुत्रों को राज्य देकर राम विमान से स्वर्ग चले जाते हैं। उस समय कुश कुशावती में राज्य करते थे। अयोध्या नगरी की दुर्दशा का समाचार जानकर वे पुनः आते हैं और एक बार पुनः नगरी का अभ्युदय होता है। कुश के पश्चात् कोई योग्य राजा रघुवंश में नहीं हुआ। अन्तिम राजा अग्निवर्ण क्षय-रोग से मर गया और उसकी रानी ने, जो गर्भवती थी, शासन-भार अपने हाथों में लिया।

इन्दुमती का स्वयंवर, अज का मार्मिक विलाप, राम तथा सीता की विमान-यात्रा, सीता का सन्देश, शून्य अयोध्या की कारुणिक स्थिति—इनमें प्रत्येक घटना

स्वाभाविक, सुन्दर और रुचिरतम शैली में वर्णित है, जो बलात् पाठकों को अपनी ओर खींच लेती है।

राम के चले जाने के पश्चात् अयोध्या की दशा दयनीय हो रही है--

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां
पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः
क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥१६।१६

अर्थात् "पहले उद्यान की कोमल लताओं को धीरे से झुकाकर सुन्दरी स्त्रियां ममतापूर्वक फूल तोड़ती थीं। उन्हीं प्यारी लताओं को अब जंगली म्लेच्छों के समान उत्पाती बन्दर झकझोर रहे हैं।"

इसमें कितना सुन्दर, चमत्कारपूर्ण अमिट वर्णन अंकित है! तभी तो कहा गया है "क इह रघुकारे न रमते।" रघुवंश का प्रत्येक वर्णन विशेष मार्मिक और ग्राह्य है। परवर्ती कवियों ने रघुवंश का अनुकरण किया है, पर वे प्रायः सफल न हो सके।

राइडर ने रघुवंश काव्य में एकसूत्रता का अभाव, कथानक की रूपविहीनता और असंबद्धता आदि दोष बताये हैं। साथ ही उनका यह भी कथन है कि इसमें महाकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य हैं। वस्तुतः कालिदास ने आरम्भ में ही यह सचेत कर दिया है कि "रघूणामन्वयं वक्ष्ये"। अतः कालिदास का निश्चित उद्देश्य प्रस्तुत रचना में निष्कलुष नरेशों के जीवन-कृत्यों का वर्णन करना था, जिससे कवि चिरन्तन जातीय-आदर्शों का चित्रण कर सके और हमारे राजाओं तथा प्रजाओं को यह चेतावनी दे सके कि यदि वे उन आधारभूत आदर्शों से स्खलित हुए, तो उनका पतन होगा। अतएव एक निश्चित उद्देश्य-पूर्ण पुरुषत्व के आदर्शों को निदर्शित करने और जातीय-जीवन की एक मूल्यवान् निधि तथा एक राष्ट्रीय चेतावनी प्रस्तुत करने के उद्देश्य से रघुवंश का प्रणयन किया गया है।

दिलीप, रघु, अज, दशरथ, रामादि का चरित्र अत्यन्त ही उदात्त चित्रित किया गया है। वे सभी आदर्शपरायण थे।

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः॥

"रूप के अनुसार बुद्धि, बुद्धि के अनुसार शास्त्र-ज्ञान का अभ्यास करने वाले, शास्त्र के अनुरूप कर्म प्रारम्भ करने वाले, प्रारम्भ किये हुए कर्म के अनुरूप फलसिद्धि प्राप्त करने वाले राजा रघुवंश में हुए।

रचना सुबोध तथा अतिरमणीय, भावतरंग मधुर तथा वर्णन मनोहर होने के कारण 'रघुवंश' संस्कृत साहित्य का देदीप्यमान नक्षत्र और अद्वितीय सर्वाङ्ग-सुन्दर काव्य है।

रघुवंश में कुछ ऐसे वर्णन हैं जो अनुपम हैं। षष्ठ सर्ग में सुनन्दा राजाओं का परिचय इन्दुमती से कराती है। इस वर्णन में नितान्त रमणीय और भव्य चित्र अंकित है। प्रत्येक राजा इन्दुमती को प्राप्त करने के लिए लीला करता है। सप्तम सर्ग में इन्दुमती और अज जब नगर-प्रवेश करते हैं, उस समय का वर्णन हृदयग्राही है—

'आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः॥
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥
जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः॥
अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रसना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा॥

रघुवंश ७६-१०

"खिड़की के रास्ते पर शीघ्रता से जाती हुई किसी स्त्री ने ढीला होने से गिरी हुई पुष्प-मालावाले, हाथ पकड़े हुए केश-समूह को नहीं बाँधा।"

"किसी स्त्री ने दासी आदि से महावर लगवाते हुए आलम्बित पैर के अग्र भाग को गीला ही खींचकर लीला-पूर्वक जाते हुए, खिड़की तक महावर से युक्त पैरों के चिह्न बना दिये।"

"दूसरी स्त्री दाहिनी आँख में अञ्जन लगाकर बायीं आँख में बिना अञ्जन लगाये ही सलाई ली हुई झरोखे के पास पहुँच गई"

---

१. Kalidasa पृ० १६७, १६८

"झरोखे से देखते हुए दूसरी स्त्री ने चलने से खुली हुई नीवी को नहीं बांधा। वह नाभि में प्रविष्ट होती हुई कंकण की कान्तिवाले हाथ से कपड़े को पकड़ कर खड़ी रही"

"शीघ्रता से उठी हुई किसी स्त्री की आधी गुथी हुई तथा शीघ्र चलने से पद-पद पर गिरती हुई करधनी का अँगूठे में बाँधा हुआ केवल धागा ही बच गया।"

रघुवंश को कुछ आलोचकों ने 'मनोरम चित्रों की चित्रशाला' कहा है। रघुवंश में कवि ने चिरन्तन आदर्शों का निबन्धन किया है। उसमें एक प्रकार का प्रवाह है, जो कथा को पूर्ण अन्वित बनाये रखने की क्षमता रखता है। रघुवंश में तीन खण्ड हैं— प्रथम रघु-खण्ड, द्वितीय राम-खण्ड और तृतीय अन्वय-खण्ड। अन्तिम प्रकरण में कवि की तूलिका शिथिल जैसी है। षष्ठ सर्ग में कवि ने इन्दुमती को प्राप्त करने की इच्छा वाले राजाओं की विभिन्न चेष्टाओं का वर्णन किया है, जो ध्वनिमूलक है। रस का एक प्रवाह है। वर्णन रमणीय और अभिनव दर्शनकारी है। राम के वर्णन में लेखनी अत्यन्त ही सशक्त हो गई है। 'वाल्मीकि राम के ईश्वरत्व का संकेत करते हुए भी, राम की मानवीयता को उपपादित कर रहे हैं। जहाँ कालिदास राम के पूर्ण मानवत्व को निदर्शित करते हुए, उनके ईश्वरत्व को परिपोषित कर रहे हैं। इस प्रकार कालिदास ने भावी कवियों को मार्गदर्शन कराया, जिन्होंने उनकी प्रणाली का अनुसरण कर राम-कथा के क्षेत्र से आध्यात्मिक सौन्दर्य की प्रचुर शस्यराशि उत्पन्न की है।'[1] रघुवंश में जीवन की विविध विधियों का वर्णन अत्यधिक रुचिपूर्ण मिलता है। शब्द, अर्थ, भाव, भाषा, रस आदि सभी का सामंजस्य है।

कालिदास सच्चाई एवं सहानुभूति के द्वारा से विश्व-हृदय में प्रवेश करते हैं। मानव-मन की शाश्वत अभिलाषाओं तथा उद्वेगों का उनका चित्रण इतना सटीक, सजीव तथा सर्वाङ्गपूर्ण है कि उनकी सृष्टियाँ चिरकाल तक जीवित रहेंगी और सभी कालों एवं सभी देशों में सभी हृदयों को आवर्जित करती रहेंगी।[2]

मालविकाग्निमित्र

'मालविकाग्निमित्र' महाकवि कालिदास की पहली नाट्य-रचना है। इसकी प्रस्तावना में 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यं' अपनी नवीन कृति को उपस्थित करते हुए, प्ररोचना रूप में है।

---

1 K. S. Ramaswami 'Kalidasa' p. 220

2 ,, VOl. II ,, p. 118

'मालविकाग्निमित्र' में पाँच अंक हैं, जिनमें राजा अग्निमित्र और मालविका की प्रणय-कथा वर्णित है। 'मालविकाग्निमित्र' की कथावस्तु भास की 'स्वप्न-वासवदत्त' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' की पद्धति पर विकसित हुई है। विदर्भ की राजकुमारी मालविका विदिशा के राजा अग्निमित्र की पत्नी बनने वाली तो थी, किन्तु विवाह के पूर्व ही विदर्भ में राज्यक्रान्ति होने पर वह किसी प्रकार बचती हुई अग्निमित्र का आश्रय लेती है। वह विदिशा के अन्तःपुर में महारानी धारिणी की दासी बनती है और वहीं नृत्य-कला की शिक्षा प्राप्त करती है। एक दिन राजा मालविका का एक चित्र देखता है और उसके प्रेम में बँध जाता है। प्रत्यक्ष दर्शन कराने के लिए श्रीविदूषक एक नृत्य-प्रतियोगिता आयोजित करते हैं, जिसमें मालविका नर्तकी बनकर राजा को अपने अनुपम सौन्दर्य, संगीत और नृत्य से और अधिक आकृष्ट कर लेती है। अशोक-वृक्ष को पादाघात से पुष्पित कराने के महोत्सव में राजा एक बार और मालविका को देखने का अवसर पाता है और उसे अपना बना लेता है। यह बात राजा की पहले की दो रानियों—धारिणी और इरावती को सह्य नहीं हुई। इरावती मालविका को राजा के प्रणय-सूत्र में बँधती हुई देखकर राजा का अपमान करती है। धारिणी तो उसे बन्दिनी ही बना देती है। विदूषक ने एक बार और अपने चातुर्य का प्रयोग किया तो मालविका छूटी और राजा से उसका पुनर्मिलन सम्भव हुआ। इस बार भी इरावती बाधक बनी। थोड़े ही दिनों के पश्चात् ज्ञात होता है कि मालविका वास्तव में राजकुमारी है। तब धारिणी उसे राजा के विवाह के लिए स्वीकार कर लेती है।

मालविकाग्निमित्र संस्कृत साहित्य की उन कृतियों में से है, जिसके पर्यालोचन से भारत का विदेशियों के समक्ष युद्ध-भूमि में न टिक सकने के कारणों का ज्ञान होता है। राजाओं के चरित्र में उन वैदिक आदर्शों की प्रतिष्ठा नहीं दिखाई पड़ती, जिनके बल पर वे सर्वोच्च विजय की कामना करते थे। नाच, गान, सुरा और सुरांगना के चक्कर में अपने दिन बिताने वाले राजाओं के विषय में कवियों की रचनाओं की यदि कोई उपयोगिता आज है तो यही है कि उस विलास-पथ पर चलने वाली प्रजा और उसके राजा का विनाश अवश्यम्भावी है।

यद्यपि नाट्य-कला और प्रतिभा का जैसा प्रौढ़तम निदर्शन 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में मिलता है वैसा 'मालविकाग्निमित्र' में नहीं है, फिर भी प्रथम कृति की दृष्टि से इसे सफल रचना मान सकते हैं। नाटक के सभी पात्र, सारी घटनाएँ और अवस्थाएँ राजा की प्रणयसिद्धि की पूर्ति के लिए प्रवर्तित हैं। घटना-कौशल, वैचित्र्यपूर्ण प्रसंग, काव्य-सौन्दर्य, नाटकीय-क्रियाशीलता, प्रसादपूर्ण और ललित

भाषा, संवाद, सरस विनोद आदि इसकी कतिपय प्रमुख विशेषताएं हैं। इसमें 'ऋतु-संहार' के समान ही ग्रीष्म-ऋतु का वर्णन हुआ है।

'पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि ।
बिन्दूत्क्षेपान्पिपासुः परिपतति शिखी भ्रान्तिमद्वारियन्त्रं ।
सर्वैरुस्त्रैः समग्रस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः ।।२।१

मालविका के सौन्दर्य-निरूपण में कवि के सूक्ष्म निरीक्षण और अद्भुत वर्णना का परिचय प्राप्त होता है। विदूषक एकमात्र विनोद नहीं करता है अपितु उसके हास्योत्पादक प्रसंगों से कथानक की पुष्टि होती है। विनोद कथानक से सम्बद्ध और मनोहर हैं। अग्निमित्र, विदूषक, मालविका, धारिणी, इरावती और परिव्राजिका प्रमुख पात्र हैं तथा हरदत्त, गणदास, बकुलावलिका और निपुणिका गौण पात्र हैं। प्रथम अंक में वस्तु-नियोजन सफल है और तृतीय अंक में कथानक की गति सफल है। चतुर्थ अंक में मालविका का अग्निमित्र के प्रति उपालम्भ सफल विधान है। "अत्यन्त मर्मस्पृक् और भावुकतापूर्ण' उपालम्भ, मालविका की विशेषता है, जिससे यह दृश्य नाटकों में सर्वाधिक सुन्दर बन सका है। कालिदास ने शकुन्तला को भी ऐसी वाणी नहीं प्रदान की।"[१]

इस नाटक में चरित्र-चित्रण और नैतिक आदर्श की स्थापना विलुप्त ही है। रूपवती नवयुवती मालविका अपने लज्जाविभूषित अनुपम सौन्दर्य, अस्फुट अनुराग और पवित्रता से अवश्य आकृष्ट करती है। सौन्दर्य का प्रशंसक होने पर भी अग्निमित्र का चरित्र निम्नकोटि का है। उसमें औदात्य की कमी है। विदूषक नाटक की कथा का प्रधान नियोजक और नियामक है। इस नाटक का विदूषक अन्य नाटकों की अपेक्षा चतुर, प्रतिभाशाली और छल-कपट में दक्ष है।

विक्रमोर्वशीय

विक्रमोर्वशीय की कथा में पुरूरवा राजा और उर्वशी अप्सरा की प्रणय-कथा का वर्णन है। कैलास पर्वत से लौटती हुई उर्वशी अपनी सखियों से वियुक्त हो जाती है, जब उसे केशी दैत्य हर ले जाता है। पुरूरवा उसको बचाते हैं और गंधर्व-

१. Walter Buben 'Kalidasa' पृष्ठ ८३.

राज के पास पहुँचा देते हैं। इस बीच दोनों का परस्पर प्रगाढ़ प्रेम संवर्धित हो जाता है। कुछ समय बाद उर्वशी का प्रेम-पत्र आकाशमार्ग से राजा को मिलता है। पश्चात् उर्वशी और उसकी सखियाँ राजा से मिलती हैं। उर्वशी इन्द्रलोक में भरत के एक नाटक में अभिनय करने लौट जाती है। लक्ष्मी के स्वयंवर की भूमिका थी। तभी प्रेमाभिभूत होने के कारण अन्यमनस्क होने से यह पूछने पर कि तुम किससे प्रेम करती हो—उर्वशी ने पुरुषोत्तम के बदले पुरूरवा नाम लिया। भरतमुनि ने शाप दिया कि तुम्हारा निवास अब देवलोक में नहीं रहेगा। इन्द्र ने अपने सहायक राजर्षि पुरूरवा का प्रत्युपकार करते हुए शाप का संस्कार कर दिया कि प्रियतम पुरूरवा के साथ सन्तान-दर्शन के समय तक रहो। उर्वशी का पुरूरवा से बिना कठिनाई के ही मिलन हो गया, पर शीघ्र ही साधारण बात पर ही प्रियतम से रूठकर वह कुमारवन में चली गई। वन में घुसना ही था कि वह उस प्रदेश के विधानानुसार लतारूप में परिणत हो गई। फिर तो राजा उसे ढूंढने लगे। वियोगी के हृदयोद्‌गारों का काव्योचित उदाहरण है। विरह-पर्यटन में भाग्यवश शिला के अन्तराल में मणि दिखाई देती है, जो प्रियोचित प्रतीत होती है। उसी समय नेपथ्यवाणी से आदेश पाकर राजा उस संगमनीय मणि को ग्रहण करता है। फिर तो एक लता की मनोहारिता पर मुग्ध हो कर ज्यों ही वह उसका आलिंगन करता है कि वह उर्वशी बन जाती है। वह मणि का प्रभाव था।

राजधानी में पुनः पुरूरवा और उर्वशी का सरस जीवन चलता है। एक दिन उस मणि को एक गिद्ध ले उड़ा। गिद्ध को आयुष्कुमार ने मारा, जिसका पुरूरवा और उर्वशी के पुत्र होने का उल्लेख उस बाण पर था, जो गिद्ध को बींधे था। उसी समय च्यवन के आश्रम से आयुष्कुमार एक तपस्विनी के साथ आता है। वह राजा का पुत्र ही है। उर्वशी ने सबके हर्षोल्लास के इस अवसर पर भरत के शाप का उल्लेख करते हुए बताया कि आज तक ही मुझे आपके साथ रहना है। ऐसी मनःस्थिति में राजा पुत्र का राज्याभिषेक करके तपोवन जाना चाहते हैं। उसी समय नारद पधारते हैं और इन्द्र का सन्देश सुनाते हैं कि उर्वशी आपकी जीवन-संगिनी रहेगी।

विक्रमोर्वशीय में पदे-पदे पराक्रम और प्रेम का सामञ्जस्य दिखलाया गया है। पराक्रम से ही पुरूरवा को उर्वशी पहले प्राप्त होती है और अन्त में भी जीवनसंगिनी बनती है। इसमें भी शकुन्तला की भाँति देवलोक और मानव की परिधियों का परस्पर मिलन दिखाया गया है। कथावस्तु में विलासमय जीवन का निदर्शन प्रधान है। इसमें उपमा के वैचित्र्यपूर्ण प्रभावों को दरशाने वाले वर्णनों की प्रचुरता है।[1]

---

१. १·१०; १२; २·१; २·६; ४·२५, ३८; ५·१९,२२

यथा —

आविर्भूते शशिनितमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैंशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गारोधः पतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम् ॥१.९

"चन्द्रमा निकल रहा है। रात्रि अन्धकार से मुक्त सी हो रही है। धुँआ का क्रम टूटता जा रहा है। आग अपने ज्वालामय भास्वर रूप में निखरती जाती है, कगारों के गिरने से जो पानी में मलिनता आ गई थी, वह बैठती जा रही है। गंगा विमल-सलिला होती जा रही है, [उसी प्रकार उस सुन्दरी की मूर्च्छा धीरे-धीरे दूर होती जा रही है और] इसका रूप निखरता आ रहा है।"

इन तीन-तीन उपमाओं में जितनी गहराई से सौन्दर्य चित्रित किया गया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें प्रसाद और सौष्ठव झलक रहा है।

चतुर्थ अंक कवित्व से परिपूर्ण है। पुरूरवा उन्माद में उर्वशी को नदी के रूप में देखता हुआ कहता है—

'तरङ्गभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥४।२८

"अवश्य ही उर्वशी मेरे अपराधों को न सह सकने के कारण, उनका बारंबार स्मरण करती हुई नदी के रूप में परिणत हो गई है—तरंगें उसकी टेढ़ी भौंहें हैं, कलरव करते हुए पक्षिगण ही उसकी करधनी है, कोप से खिसके हुए अपने फेन-रूपी वस्त्रांचल को समेटती हुई वह चली जा रही है।" काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से 'विक्रमोर्वशीय' का चतुर्थ अंक अप्रतिम है। इसमें गीति-सौन्दर्य, प्रकृति-वर्णन और प्रेमी की विरह-व्यथा का अपूर्व सम्मिलन है। कुछ श्लोकों में समासोक्ति और उत्प्रेक्षा अर्थालंकारों की छटा है। सन्ध्या वर्णन उच्चकोटि का है।

"विक्रमोर्वशीय" में पुरूरवा और उर्वशी की प्रणयकथा कमनीय रूप में उपस्थित है। पुरूरवा और उर्वशी-आख्यान ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में संक्षेप में प्राप्त होता है। उपर्युक्त स्थलों से भले ही कथा का सूत्र कालिदास ने ग्रहण किया हो, परन्तु कवि-कल्पना का विकास ही इसमें अधिक है। सम्पूर्ण पाँचवां अंक कवि की

नूतन कल्पना से मण्डित है। चतुर्थ अंक का प्रकृति-चित्रण अद्वितीय और अनुपम है। नायक-नायिकाएं मानवी और दैवी होने के कारण इसे 'त्रोटक' कहते हैं। श्री अरविन्द ने इसे रूपक मानते हुए कहा है—"उर्वशी नारायण के जंघे से उत्पन्न अप्सरा है, जो विश्व के सकल काल्पनिक सौन्दर्य का सारतत्व, वह अप्राप्य आदर्श है, जिसके लिए सभी कालों तथा सभी देशों में मनुष्य की आत्मा तड़पती आई है। इसकी प्राप्ति केवल पुरूरवा कर सकता है, जिसका पिता बुध तथा माता इडा है। वह ईश्वरीय प्रेरणा का प्रतीक है। इस प्रकार का पुरूरवा का वंशगत सम्बन्ध सूर्य एवं चन्द्र से है। उर्वशी के लिए वह अपनी मानुषी पत्नी का, सम्पूर्ण पार्थिव एषणा एवं प्रसिद्धि का परित्याग कर देता है और अपनी सम्पूर्ण अन्तरात्मा को उस ईश्वरीय सौन्दर्य में निमज्जित करता है। पर वह भी अपनी मनःकांक्षित वस्तु का निर्बाध उपभोग नहीं कर सका है। कुमारवन की सीमा का अतिक्रमण करने से उर्वशी अन्तर्धान हो जाती है। उस समय उसकी आत्मा सकल प्रकृति में भ्रमण करने लगती है, और उसे तभी उर्वशी की प्राप्ति होती है, जब वह संगमनीय मणि को उठा लेता है, जो जगज्जननी उमा के रक्तिम चरणों से प्रसूत है। इस प्रकार से उर्वशी-पुरूरवा का जो अन्तिम संयोग सम्पन्न होता है, उसका परिणाम हुआ है बालक आयु, जो ईश्वरीय संसर्गों से गरिमान्वित मानव-जीवन तथा क्रिया का प्रतीक है। कालिदास ने इस भव्य 'रूपक' को मानवीय प्रेम की अत्यन्त मधुर एवं सुकुमार कहानी में परिणत कर दिया है।"[1]

पुरूरवा धीरोदात्त कोटि का नायक है। उसमें शील, विनय, शौर्य आदि समुचित रूप में हैं। उसकी प्रधान विशेषता उसकी काव्यात्मकता है। उसका हृदय रसमय है। चतुर्थ अङ्क में उसका करुण-विलाप दर्शकों की हृत्तंत्री को हिला देता है। अन्तिम अङ्क में पुनः उसके शौर्य की कलात्मक व्यंजना प्राप्त होती है। कवि का चतुर्थ अङ्क पुरूरवा के कारण ही काव्यात्मक अधिक है। उसमें वंशानुगत वाणी का वरदान है। वह सूर्य एवं चन्द्रमा का पौत्र है। उसमें निसर्ग-सिद्ध कवि-सुलभ कल्पना का प्राचुर्य है। वह शास्त्रादि का ज्ञाता है।

उर्वशी में सौर ज्योति की चमक, प्रत्यूष की लजीली सुषमा, जलधि की बहुरूपिणी मुसकान, गगन की भव्य गरिमा तथा विद्युल्लतिका की चमक—संसार में जो कुछ भास्वर, अनधिगम्य, अग्राह्य एवं आकर्षक है, जो कुछ विस्मयोत्पादक, मधुर, आस्वाद्य तथा मानवीय सौन्दर्य एवं मानवीय जीवन में मादक है, जो मानवीय

---

1. Kalidasa, Second Series. पृ० ५४

भावानुभूति का आह्लाद है, जो कला, कविता, विचारणा एवं ज्ञान को आकर्षण प्रदान करता है, जो हमें अभिभूत करता है तथा विह्वल एवं आत्मविभोर बनाता है—वह सभी एकत्र समाहित हो गया है"। उर्वशी रूपगर्विता सुन्दरी है, जिसके जीवन की प्रधान प्रेरणा प्रेम है। वह धरा की ललित प्रतिच्छाया में मण्डित स्वर्ग की अप्सरा है, जिसमें मानवीय और अमानवीय गुणों का मणि-काञ्चन संयोग है। कीथ ने उर्वशी में वात्सल्य का अभाव आरोपित किया है, जो असंगत है। उर्वशी अपने प्रेम को सफल बनाने के लिए पुत्र को पति के सामने नहीं उपस्थित करती है। वह अपने प्रणय और वात्सल्य दोनों को एक साथ रखना चाहती है। यह तभी सम्भव था, जब आयु पुरूरवा से दूर रहे। शाकुन्तल के समान अवश्य ही उसमें माता का वत्सल हृदय नहीं है।

विक्रमोर्वशीय में पात्रों का चरित्र-चित्रण मार्मिकता पूर्ण है। प्रत्येक पात्र अपना वैशिष्ट्य रखता है। उर्वशी का अप्रतिम रूप दर्शनीय है—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलः
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥१।८

विक्रमोर्वशीय में संभोग और विप्रलम्भ दोनों रसों का उत्तम परिपोष हुआ। इसकी भाषा प्रासादिक, प्राञ्जल, प्रवाहपूर्ण, अलंकृत और सौष्ठवपूर्ण है। 'मालविकाग्निमित्र' और 'विक्रमोर्वशीय' की तुलना करते हुए अरविन्द ने कहा है—

'मालविकाग्निमित्र' प्रमदाओं का नाटक है। इसकी कथावस्तु रमणियों के अन्तःपुर एवं राजप्रासाद के प्रमदवन की सीमाओं में नियोजित की गई है तथा वह ललिताङ्गनाओं के वस्त्रों की सरसराहट, उनके आभूषणों की झनझनाहट, उनकी वेणियों की मादक सुगन्ध एवं उनकी वाणियों के मोहक संगीत से परिपूर्ण है। 'विक्रमोर्वशीय' में नाटक के चित्रपट का अर्धांश केवल नायक के लिए सुरक्षित है। अतएव, इसमें नारी चरित्राङ्कन के लिए अवकाश सीमित हो गया है। ऐसी परिस्थिति में भी कालिदास ने उसे चमकीला, सुन्दर आकृतियों एवं रम्य रुचिर आननों से भर दिया है।[१]

१. Kalidasa (Second Series) पृ० ६२।

अभिज्ञानशाकुन्तल

'अभिज्ञानशाकुन्तल' अपार्थिव कल्पना-रूपिणी उद्यान-वाटिका की अमृतमयी पारिजात लता है। वाणी के वरद पुत्र का यह अक्षय आलेख्य है। इसमें कालिदास की नाट्यकला का पूर्ण परिपाक हुआ है। आलोचकों ने इस नाटक को सर्वश्रेष्ठ मानकर एक स्वर से प्रमाणित किया है—

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला"

प्रेम और सौन्दर्य का ऐसा सरस, हृदयग्राही एवं मर्मस्पर्शी चित्रण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है। उसमें ओज के साथ मनोज्ञता और लघुत्व के साथ ही भावप्रांजलता का अद्भुत समन्वय विद्यमान है'।[1] अभिज्ञान शाकुन्तल समस्त संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसके सात अङ्कों में दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय, वियोग तथा पुनर्मिलन की कथा वर्णित है। अभिज्ञान-शाकुन्तल की कथा का नायक दुष्यन्त है—

कथा परिचय

दुष्यन्त कण्व के आश्रम में जाकर उनकी पालित कन्या शकुन्तला से गन्धर्व-विवाह करके राजधानी लौट आता है, पर दुर्वासा के शाप के कारण उसे विवाह की स्मृति नहीं रह जाती है। दुष्यन्त ने शकुन्तला को एक प्रणय-मुद्रिका दी थी। वह भी शची तीर्थ में गिर जाती है। जब कण्व के आदेशानुसार शकुन्तला दुष्यन्त के समीप पहुँचाई जाती है, तो वह उसे पहचान नहीं पाता और ऐसी स्थिति में उसे स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट करता है। शकुन्तला मारीच के आश्रम में चली जाती है। वहाँ उसे पुत्र उत्पन्न होता है। इस बीच शकुन्तला को दी हुई मुद्रिका, जो शची तीर्थ पर वन्दना करते समय गिर जाने पर मछली का भोजन बन चुकी थी, राजा के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। उसे देखते ही राजा को शकुन्तला की स्मृति हो आती है। इसी वियोगावस्था में राजा इन्द्र की सहायता करने के लिए स्वर्गलोक में जाता है और वहाँ से लौटते समय मारीच के आश्रम में शकुन्तला से उसका पुनर्मिलन होता है। यह लघुकथा कवि के हाथों में स्थान-स्थान पर उसकी प्रतिभा और कल्पना को मनोरम व्यंजना और चित्रण के लिए अवसर प्रदान करती है।

---

१. सी० ई० एम० जोड दि हिस्ट्री ऑफ इंडियन सिविलिजेशन, पृ० ८७

उपर्युक्त कथा का एक रूप सर्वप्रथम महाभारत में मिलता है। इस कथा के अनेक रूप अवश्य ही रहे होंगे। कालिदास ने उनमें से सर्वोत्तम काव्योचित कथा-रूप को सम्भवतः अपनाया है। महाभारत की कथा इस प्रकार है—

महाभारत की कथा

शकुन्तला विश्वामित्र ऋषि और मेनका अप्सरा की सन्तान थी। उसे माता वन में छोड़कर चली गई। महर्षि कण्व ने उसका पालन किया। शकुन्तला जिस समय युवती हुई, उस समय एक दिन राजा दुष्यन्त मृगया के लिए निकले और घूमते-घूमते महर्षि कण्व के आश्रम में जा पहुँचे। वहाँ शकुन्तला के प्रति उनका प्रेम हो गया और उन्होंने गान्धर्व विधि से शकुन्तला से विवाह किया। फिर वे अकेले ही अपनी राजधानी लौट गए।

जिस समय यह सब हुआ, उस समय महर्षि कण्व आश्रम में नहीं थे। वे जब आश्रम में लौटकर आए, तब ध्यान-बल से सब जान गए। क्षत्रियों में गान्धर्व विवाह की रीति रही है। इसलिए ऋषिवर ने उसका अनुमोदन किया। पीछे कण्व के आश्रम में ही शकुन्तला को पुत्र उत्पन्न हुआ। कण्व ने पुत्रवती शकुन्तला को राजा के घर भेज दिया।

शकुन्तला जब राज-सभा में पहुँची, तब दुष्यन्त उसे न पहचान सका और उसने शकुन्तला को पत्नी-रूप में ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। उसी समय आकाश-वाणी हुई कि शकुन्तला उनकी विवाहिता स्त्री है और यह उनका पुत्र है। तब राजा ने शकुन्तला को ग्रहण किया। वास्तव में विवाह का वृत्तान्त राजा को स्मरण था, पर पहले धर्म-भय और लोक-लज्जा से उसने शकुन्तला को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया था।

इस उपाख्यान को कवि की उद्भाविनी प्रतिभा एवं कल्पना ने काव्योचित प्रतिष्ठा, सरसता और गरिमा से युक्त कर दिया है। 'महाभारत' में शकुन्तला विवाह करने से पूर्व राजा के सामने यह प्रस्ताव रखती है कि मुझसे उत्पन्न पुत्र ही आपका उत्तराधिकारी होगा—

'मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम्।
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥

कथान्तर

इससे स्पष्ट है कि महाभारत में शकुन्तला का चरित्र उतना उदात्त एवं परिष्कृत नहीं चित्रित किया गया है, जितना अभिज्ञान-शाकुन्तल में। 'महाभारत की शकुन्तला प्रगल्भ, स्पष्टवादिनी और निर्भीक तरुणी है। किन्तु कालिदास ने जिस शकुन्तला की सृष्टि की है, वह एक लज्जाशील, प्रेम-परायण और मुग्ध बालिका है। उसी प्रकार महाभारत का दुष्यन्त कामुक, भीरु और स्वार्थी प्रतीत होता है, किन्तु कालिदास का दुष्यन्त अत्यन्त परिष्कृत रुचिसम्पन्न 'धीरोदात्त' नायक है।' महाभारत की कथा और अभिज्ञान शाकुन्तल की कथा में पर्याप्त अन्तर है। कालिदास ने नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उसे काव्यात्मक रूप प्रदान किया है। मूल कथा में परिवर्तन करके कवि ने अपनी चरम प्रतिभा का परिचय दिया है। महाभारत के अनुसार महर्षि के आश्रम में ही शकुन्तला को पुत्र हुआ था, परन्तु कालिदास के नाटक में शकुन्तला के प्रत्याख्यान के पश्चात् पुत्र की उत्पत्ति हुई। महाभारत की शकुन्तला का उसी सभा में प्रत्याख्यान और ग्रहण भी हुआ, परन्तु नाटक की शकुन्तला का प्रत्याख्यान सभा में हुआ और ग्रहण मारीच-आश्रम में। सर्वोत्कृष्ट महत्व मुद्रिका-अभिज्ञान और दुर्वासा के शाप का है। महाभारत में दोनों बातों का संकेत तक नहीं है। अभिज्ञान और दुर्वासा के अभिशाप के आमेलन से दुष्यन्त निर्दोष बनाये जाते हैं।

कथा-विन्यास

नाटक मृगया से प्रारम्भ होता है। उस समय का वर्णन अत्यधिक कवित्वमय है। राजा आगे बढ़ता है। ज्योंही वह मृग के ऊपर बाण छोड़ना चाहता है, त्योंही करुण आर्तनाद सुनाई पड़ता है कि यह आश्रम का मृग है। मत मारो। मत मारो। राजा मृगया से विरत होकर श्रद्धापूर्वक आश्रम में जाता है। आश्रम का वातावरण अत्यन्त ही शान्त और शोभापूर्ण है। तीन युवतियाँ आपस में आमोद-प्रमोद करती हुई, पौधों को सींच रही हैं। उनमें सरसता है, स्वाभाविकता है और आमोद-प्रमोद करने की प्रवृत्ति है। शकुन्तला के अप्रतिम सौन्दर्य को देखकर राजा मुग्ध हो जाता है। वह उसकी तुलना वहाँ की रमणीय प्रकृति से करता है—

> 'अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
> कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥ १. २२

'अधरोष्ठ नवपल्लव के समान लाल हैं। दोनों हाथ दो कोमल शाखाओं की भाँति हैं और फल के समान सुन्दर दिखलाई देने वाला यौवन इसके सब अंगों में

व्याप्त है।' राजा को प्रकट होने का अवसर उस समय मिलता है, जब भ्रमर से सतायी जाती हुई शकुन्तला की रक्षा करने के लिए उसकी आवश्यकता पड़ती है। शकुन्तला प्रथम दर्शन से ही राजा से प्रेम करने लगती है।

"शकुन्तला के प्रथम अङ्क में प्रिया के साथ दुष्यन्त का हार्दिक प्रेम अङ्कित है। इसमें चपलता की छटा है। उसमें उमड़ते हुए यौवन से भरी ऋषिकन्या, कौतुक से उछल रहीं सखियाँ, विकसित लता, सुगन्ध, मद से उन्मत्त भ्रमर और वृक्षों की ओट में मुग्ध राजा, इन सब ने तपोवन के एकान्त स्थान में मिलकर विलक्षण दृश्य उपस्थित किया है। यहाँ से हटकर शकुन्तला पतिद्वारा अवमानित होने पर मारीचाश्रम की दिव्य तपोभूमि मे आश्रय पाती है। वहाँ का दृश्य भिन्न है। वहाँ किशोरी तापस-कन्याएं वृक्षों के थालों में जल नहीं डालतीं, लता-भगिनी को स्नेह-भरी दृष्टि से नहीं सींचतीं और न धान्य-मुष्टि-द्वारा गोद-लिये मृग-शावकों का पालन ही करती हैं। वहाँ के वृक्ष, लता-पत्र आदि सभी निश्चल हैं, चंचल है तो एक बालक। वह बालक समस्त वन में व्याप्त है। वहाँ इस बात को कोई देखता भी नहीं कि आम के वृक्षों में अभी बौर आये हैं कि नहीं अथवा नवमालती लता अभी फूली है कि नहीं। प्रथम अंक में शकुन्तला से परिचय होने के पहले दूर से ही उसके नवयौवन की लावण्य-लीला ने दुष्यन्त को मुग्ध और आकृष्ट कर लिया था। अन्तिम अंक में शकुन्तला के बालक ने शकुन्तला के सारे लावण्य को लेकर राजा के अन्तःकरण को आर्द्र बना दिया"[१]
"प्रथम अंक के उस चंचल सौंदर्यमय मनुष्य-लोक के विचित्र पूर्व मिलन से स्वर्गीय तपोवन में नित्य आनन्दमय उत्तर मिलन की यात्रा ही अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का उद्देश्य है। यह केवल किसी विशेष भाव की अवतारणा नहीं है अथवा किसी विशेष चरित्र का विकास नहीं है। यह है—सारे काव्य को एक लोक से दूसरे लोक में ले जाना। यह है प्रेम को स्वाभाविक-सौंदर्य के देश से मङ्गलमय सौन्दर्य के अक्षय स्वर्गधाम में पहुँचाना।"[२]

"शकुन्तला के आरम्भ में ही जब धनुष-बाण-धारी राजा ने मृग पर बाण चलाना चाहा, तब "भो भो राजन्! आश्रममृगोऽयं, न हन्तव्यो न हन्तव्यः" यह निषेध-ध्वनि सुनाई पड़ी। उस समय शकुन्तला-काव्य का एक मूल 'सुर' बज उठा। यह निषेध-वाक्य आश्रम-मृग के साथ ही साथ तपस्वी-कन्या शकुन्तला को भी करुणा के आवरण से आच्छादित करता है। वैखानस कहते हैं—

१. प्राचीन साहित्य पृ० २५

२. वही पृ० २९-३०

"न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः ।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रशाराः शरास्ते ।"

यही बात शकुन्तला के विषय में भी कही जा सकती है । शकुन्तला के प्रति भी राजा का प्रेम-बाण चलाना दारुण कर्म है। प्रणय के विषय में दक्ष राजा प्रवीण और कठोर हैं और इस आश्रम में पली हुई बालिका का भोलापन और सरलता बड़ी ही कोमल और दयनीय हैं, जिस प्रकार मृग के प्राणों की रक्षा के लिए कातर प्रार्थना की आवश्यकता है, उसी प्रकार शकुन्तला की रक्षा के लिए भी। क्योंकि दोनों तपोवन-वासी हैं । 'द्वौ अपि अत्र आरण्यकौ ।'

मृग की रक्षा के लिए की गई इस कातर प्रार्थना की प्रतिध्वनि के साथ ही साथ हम लोग वल्कल वस्त्र पहने सखियों के साथ वृक्षों को सींचती हुई तापस-कन्या को देखते हैं। देखते हैं कि वह अपने भाई वृक्षों और भगिनी लताओं की सेवा—जो उसका नित्य कर्म है—स्नेहपूर्वक कर रही है। केवल वल्कल के वस्त्रों से ही नहीं, किन्तु हाव-भाव और चेष्टा आदि से भी वह वृक्ष-लताओं में से कोई एक जान पड़ती है। दुष्यन्त ने कहा है—

इदं किलाव्याजमनोहरं वपु—
स्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥

नाटक के आरम्भ में ही शान्ति-सौंदर्य युक्त एक सम्पूर्ण जीवन, एकान्तवासी पुष्प-पल्लवों के बीच में, नित्य के आश्रमधर्म, अतिथि सेवा, सखी-स्नेह और वात्सल्य आदि को लेकर हमारे समक्ष प्रस्तुत है। यह ऐसा अखण्ड और आनन्द-मय है कि हमें यह आशंका होती है कि कहीं धक्का लगने से टूट न जाय। उस समय राजा दुष्यन्त को दोनों हाथ उठाकर रोकते हुए पुकार कर यही कहने की इच्छा होती है कि "बाण न मारना, बाण न मारना ! इस परिपूर्ण सौन्दर्य को न तोड़ना !"

जब देखते ही देखते दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रणय घनिष्ठ हो जाता है, तब प्रथम अङ्क के अन्त में यह आर्त्त शब्द सुनाई पड़ता है कि "हे तपस्वियो ! आप लोग तपोवन के प्राणियों की रक्षा के लिए सावधान हो जायं, क्योंकि शिकारी राजा दुष्यन्त पास आ गये ।"

"यह सारे तपोवन की भूमि का क्रन्दन है और उस तपोवन के प्राणियों में शकुन्तला भी एक है । परन्तु उसकी रक्षा कोई न कर सका ।"[१]

द्वितीय अंक में राजा का प्रेम शकुन्तला के प्रति अभिव्यक्त होता है। वह शकुन्तला की लीलाओं का स्मरण करता है, जिससे प्रेम और उत्कट होता जाता है। उसके मानस में सबसे बड़ी चिन्ता यही है कि शकुन्तला का उपभोक्ता कौन होगा ?

'अनाघ्रातं पुष्पं, किसलयमलूनं कररुहै
रनाविद्धं रत्नं, मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति भुवि ॥

और वह अब आश्रम से राजधानी नहीं जाना चाहता ।

तीसरे अंक में विरह-व्यथा से च्युत नवमालिका की भांति शकुन्तला दिखलाई पड़ती है । उसके अङ्ग में एक मात्र लावण्यमयी छाया शेष रह गई है । उसकी सखियाँ उसके हृदयगत भावों को जानने के लिए उत्सुक हैं । शकुन्तला अपनी आकांक्षा और विरह-व्यथा का कारण प्रकट करती है । सखियों की सम्मति से वह एक प्रेम-पत्र लिखती है। राजा को प्रकट होने का अवसर मिलता है और वह वहाँ पर उपस्थित हो जाता है । पूर्व परिस्थिति से तो वह परिचित था ही। सखियाँ मृगपोत की रक्षा के बहाने चली जाती हैं और राजा तथा शकुन्तला को प्रणय-चर्चा का समय मिलता है । लता-कुंज में पुनः विहार के लिए आमन्त्रित करती हुई शकुन्तला वहाँ से चली जाती है । इसमें नायक में नायिका के प्रणय का पूर्ण परिपाक हुआ है ।

चतुर्थ अंक का विष्कम्भक भावी विपत्तियों का सूचक है । 'सूर्य-चन्द्रमा के एक साथ उदय-अस्त द्वारा मानों संसारियों का भाग्य-चक्र नियन्त्रित हो रहा है ।' यह सूचित करता है कि जीवन अथवा प्रणय एकमात्र आनन्दमय नहीं है । दुर्वासा

---

१. प्राचीन साहित्य पृ० ३५–३६ ।

के शाप की घटना का ज्ञान होता है, जो नाटकीय कौशल है। आज तपोवन की लता-शकुन्तला अपने पति के घर जा रही है। सभी अस्त-व्यस्त हैं। दोनों सखियों के मानस में एक ओर आनन्द का अपार सागर लहरा रहा है तो दूसरी ओर विषाद की गहरी रेखा स्पष्ट झलक रही है। यह अंक शब्द-निर्मित मूर्तिमान् मानव-हृदय ही है। चारों ओर बिदाई का दृश्य करुणा से आप्लावित है। शकुन्तला जब तपोवन से जाती है तब महर्षि कण्व वृक्षों को सम्बोधन करके कहते हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

'हे समीपवर्ती तपोवन के वृक्षो ! तुम लोगों को बिना जल दिए जो स्वयं जल पीने की इच्छा भी नहीं करती थी, जो आभरण के लिए रुचि होने पर भी स्नेह के कारण तुम्हारे नूतन पत्ते तक नहीं तोड़ती थी, तुम सबका जिस समय पहला पुष्प निकलता था, उस समय जो अत्यधिक उत्सव मनाती थी, वही शकुन्तला आज अपने पति के घर जाती है। तुम सब अब इसे जाने की आज्ञा दो।'

चेतन-अचेतन सभी के साथ ऐसी अन्तरंग आत्मीयता, प्रीति और कल्याण का ऐसा बन्धन अन्यत्र दुर्लभ है।

शकुन्तला ने कहा 'सखि प्रियंवदे ! आर्य पुत्र को देखने के लिए मेरा हृदय व्याकुल है, तो भी इस आश्रम को छोड़कर जाने के लिए जैसे पैर नहीं उठते।' प्रियंवदा ने कहा—'केवल तुम्हीं तपोवन के विरह से व्याकुल नहीं हो रही हो, तुम्हारे होने वाले वियोग की आशंका से तपोवन की भी यही दशा है'—

'उद्गीर्णदर्भकवला मृगी परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्ति अश्रु इव लताः॥

'मृगियों के मुँह से चबाया हुआ तृण नीचे गिर रहा है। मोरों ने नाचना छोड़ दिया, पुराने पत्तों के गिरने के बहाने लतायें आँसू गिरा रही हैं।'

शकुन्तला ने कण्व से कहा—'पिता जी, कुटी के पास चरने वाली, गर्भ के कारण मन्दगति से चलती हुई यह मृगी जब निर्विघ्न पुत्र उत्पन्न करे, तब यह प्रिय संवाद सुनाने के लिए आप कोई दूत अवश्य मेरे पास भेजिएगा।'

कण्व ने कहा "मैं कभी न भूलूंगा।"

इस समय पीछे से बाधित हुई शकुन्तला बोली—"यह कौन पीछे की ओर से मेरा वस्त्र खींच रहा है।" कण्व ने उत्तर दिया, बेटी—

"यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्द्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते" ॥

"कुश के कांटों से जिसका मुख घायल हो जाता था तो तुम उसमें घाव भरने वाला इङ्गुदी का तेल लगाकर अच्छा करती थीं और तुमने सांवा की बालें खिलाकर जिसका पालन किया है, वह पुत्र के समान पालित मृग तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ता।"

शकुन्तला ने मृग से कहा—"अरे बेटा! मैं तो तुम सहवासियों को छोड़कर जा रही हूँ। अब तू मेरा पीछा क्यों करता है। तेरे उत्पन्न होने के बाद ही तेरी माँ मर गई थी। तब से लालन-पालन कर मैंने ही तुझे इतना बड़ा किया है। अब मैं जाती हूँ। पिता जी तेरी देख-रेख करेंगे।"

शकुन्तला लताओं का आलिंगन करती है और उनसे बिदा माँगती है।

इस प्रकार सम्पूर्ण वृक्ष, लता, पशु आदि से बिदा होकर रोती हुई शकुन्तला ने तपोवन से प्रस्थान किया है। लता के साथ फूल का जैसा सम्बन्ध होता है, वैसा ही स्वाभाविक सम्बन्ध शकुन्तला का तपोवन के साथ है।

प्रथम तीन अङ्कों में यौवन, सौन्दर्य, प्रेम, शान्ति आदि का चित्र खींचा गया है तो चतुर्थ अंक में विरह-व्यथा की साकार प्रतिमा स्थापित की गई है। कन्या-वियोग का मर्म-स्पर्शी चित्र कालिदास की तूलिका से ही सम्भव था। यह वर्णन स्नेह की सरिता है, प्रीति की मन्दाकिनी है। कण्व कह उठते हैं—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

'आज शकुन्तला जायगी, इसलिए विषाद ने आकर हृदय पर अधिकार कर लिया है। आँसू रोकता हूँ, परन्तु वह आकर गले की आवाज को अस्पष्ट कर देता

है और चिन्ता के कारण दृष्टि-शक्ति भी कुण्ठित हो चली है। मैं वनवासी हूँ, तब भी स्नेहवश मुझे इस प्रकार की विह्वलता है, तो फिर गृहस्थ लोग कन्या के वियोग के नये दुःख से क्यों न दुःखी होते होंगे।' अन्त में उनका मन शकुन्तला को भेजकर स्वस्थ हो जाता है—

"अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातोऽस्मि सद्यः विशदान्तरात्मा चिरस्य निक्षेपमिवार्पयित्वा ॥"

"इस अंक में शकुन्तला की हृदय-लता ने चेतन-अचेतन सभी को स्नेह के सुन्दर बन्धन से भली-भांति बाँध लिया है। वह तपोवन के वन-वृक्षों के लिए जल सींचती है और उन पर अपने सहोदर भाई का सा स्नेह रखती है। वह नवकुसुम-यौवना 'वनज्योत्स्ना' को स्नेह-भरी दृष्टि के द्वारा अपने कोमल हृदय में स्थापित करती है। शकुन्तला जब तपोवन को छोड़ कर पति के घर जाती है तब पद-पद पर तपोवन के साथी उसे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, पद-पद पर उसे व्यथा होती है। वन के साथ मनुष्य का बिछोह इतना मर्मभेदी और करुणा से पूर्ण हो सकता है, यह बात सारे संसार के साहित्य में केवल अभिज्ञान शाकुन्तल के चौथे अंक में देख पड़ती है। इस काव्य में स्वभाव और धर्म के नियमों का जैसा मिलन है, वैसा ही मनुष्य और प्रकृति का भी मिलन है। ऐसे विसदृश पदार्थों का ऐसा पूरा मेल कदाचित् भारतवर्ष के अतिरिक्त और कहीं पर संभव नहीं हो सकता"[१]

पाँचवें अंक में राजा ने शकुन्तला को अस्वीकार किया है। उस अंक के आरम्भ में ही कवि ने राजा के प्रणय की रङ्गभूमि का आवरण थोड़ा उठाकर उसका दृश्य लोगों को दिखाया है। राजा की प्रियतमा हंसपदिका, नेपथ्य में, संगीतशाला में [illegible] हुई, आप ही आप गा रही है—

'अभिनवमधुलोभभावितस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर! विस्मृतोऽसि एनां कथम् ॥

'हे नवरस के लोभी मधुकर! आम्रमञ्जरी को चूमकर कमल-वन में रहने के आनन्द को कैसे भूल गये हो?'

राजा के अन्तःपुर से आया हुआ यह व्यथित-हृदय का आँसुओं से सिक्त गीत रसिकों के हृदय में गहरी चोट पहुँचाता है। विशेष चोट पहुँचाने का कारण यह है कि इससे पहले ही शकुन्तला और दुष्यन्त के प्रणय की लीला हमारे हृदय पर अधिकार कर चुकी है। उसके पहले के अंक में ही शकुन्तला वृद्ध महर्षि कण्व के

१. प्राचीन साहित्य पृ० ३४-३५

आशीर्वाद तथा इस तपोवन के मङ्गलाचरण को ग्रहण कर बड़े ही स्निग्ध-करुण और बड़े ही पवित्र-मधुर भाव से पति के घर जाने के लिए यात्रा कर चुकी है। उसके लिए हमारे आशा-पटल में जिस प्रेम का, जिस गृह-सुख का चित्र अंकित हो उठता है, वह चित्र अगले अंक के आरम्भ में ही विकृत हो जाता है।

विदूषक ने जब राजा से पूछा 'आप ने इस गान का क्या अर्थ समझा?' तब राजा ने मुस्करा कर उत्तर दिया 'सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः' एक ही बार प्रणय करके मैंने इसे छोड़ दिया है। इसी से, देवी वसुमती से प्रेम करने के कारण, मैं इस भारी भर्त्सना के योग्य ही हूँ। मित्र माधव्य तुम जाकर मेरी ओर से हंसपदिका से कहो कि बड़ी चतुरता से तुमने भर्त्सना की है।...जाओ बड़ी कुशलता के साथ उससे यह बात कहना।

पंचम अंक के आरम्भ में राजा के चंचल प्रणय का परिचय निरर्थक नहीं है। इसके द्वारा कवि ने बतला दिया है कि दुर्वासा के शाप के द्वारा जो घटना हुई है, उसका बीज राजा के स्वभाव में था। काव्य का सौंदर्य नष्ट होने के लिए जो बात 'दैवी घटना' के रूप में दिखाई गई है, वह स्वाभाविक ही है।

चतुर्थ अंक से पाँचवें अंक में हम एक दूसरी ही धारा में आ पड़े। अब तक हम मानों एक मानस-लोक में थे। वहाँ का जो नियम था, वह यहाँ नहीं है। उस तपोवन का और यहाँ का 'सुर' कैसे मिल सकता है? वहाँ जो बात सहज-सुन्दर भाव से अनायास ही हो गई थी, उसकी क्या दशा होगी? यह सोचते ही शङ्का पैदा हो जाती है। पंचम अंक के आरम्भ में ही नागरिकता विषयक दर्शन है कि यहाँ का हृदय बड़ा कठिन है, प्रणय बड़ा कुटिल है और मिलन का मार्ग सहज नहीं है, तब हमारा वह तपोवन का सौंदर्य उचट गया। ऋषि के शिष्य शार्ङ्गरव ने राजभवन में प्रवेश करते हुए ही कहा "ऐसा लगता है कि आग से घिरे हुए घर में जैसे हम लोग आ गये हों।" शारद्वत ने कहा—"नहाये हुए मनुष्य को तेल लगाए हुए मनुष्य के देखने से, शुद्ध मनुष्य को अशुद्ध मनुष्य के स्पर्श से, जागते मनुष्य को सोये हुये मनुष्य के स्पर्श से तथा स्वतन्त्र मनुष्य को किसी बन्दी मनुष्य के स्पर्श से जैसा विकार होता है, यहाँ के विषयी मनुष्यों के देखने से मुझे भी वैसा ही मनोविकार हो रहा है।" ऋषिकुमार इस बात का अनायास ही अनुभव कर सके कि वे किसी दूसरे लोक में आ गये हैं। पंचम अंक के आरम्भ में इसी प्रकार के नानाविध आभासों के द्वारा कवि ने हम लोगों को इसके लिये उद्यत कर दिया कि शकुन्तला-प्रत्याख्यान की निष्ठुर घटना से विशेष आघात न लगे। हंसपदिका के सरल करुण-गीत को इस क्रूर काण्ड की भूमिका समझना चाहिए।

तदनन्तर जब दुष्यन्त-कृत प्रत्याख्यान शकुन्तला के सिर पर वज्र की भाँति अचानक आ पड़ा, तब वह तपोवन की कन्या विश्वासी पुरुष के हाथ से बाण की चोट खाई हुई मृगी के समान विस्मय, भय और वेदना से व्याकुल होकर राजा की ओर देखती रह गई। तपोवन की पुष्पराशि के ऊपर अग्नि की वर्षा हुई। शकुन्तला को भीतर-बाहर छाया और सौंदर्य से आवृत करके जो एक तपोवन लक्ष-अलक्ष में विराजमान था, वह आज इस वज्रपात से चूर-चूर होकर शकुन्तला के चारों ओर से चिर काल के लिए अलग हो गया। शकुन्तला एक-दम निराश्रय हो गई। कहाँ हैं पिता कण्व, कहाँ हैं माता गौतमी, कहाँ हैं प्रियंवदा और अनुसूया सखियाँ, कहाँ है वह सुन्दर शान्ति और निर्मल जीवन ? इस घड़ी भर की भारी चोट से शकुन्तला की बहुत कुछ हानि हो गई। यह देखकर हम सन्नाटे में आ जाते हैं। नाटक के पहले के चार अंकों में जो संगीत की ध्वनि उठी थी, वह क्षण भर में रुक गई।

इसके पश्चात् शकुन्तला के चारों ओर कैसा गहरा सन्नाटा—कैसी विरलता है ! जो शकुन्तला अपने कोमल हृदय के प्रभाव से अपने चारों ओर की वस्तुओं को अपना बनाये रखती थी, आज वही अकेली असहाय है। अपनी उस भारी शून्यता को शकुन्तला अपने एकमात्र महान् दुःख से परिपूर्ण की हुई विराजती है। कालिदास शकुन्तला को फिर कण्व के आश्रम में लौटा नहीं ले गये। इससे उनकी असाधारण कवित्व-शक्ति का परिचय प्राप्त होता है। अपनी पूर्व परिचित वन भूमि के साथ शकुन्तला का पहले का ऐसा मिलन अब संभव नहीं। क्योंकि कण्व के आश्रम से यात्रा करते समय तपोवन से शकुन्तला का केवल बाहरी वियोग हुआ था। आज दुष्यन्त के प्रत्याख्यान से वह वियोग सम्पूर्ण हो गया। अब वह शकुन्तला नहीं रही। अब संसार के साथ उसका सम्बन्ध परिवर्तित हो गया है। इस समय शकुन्तला को उसके पुराने सम्बन्ध के बीच स्थापित करने से उत्कट निष्ठुर असामंजस्य ही प्रकाशित होता। इस समय इस दुखिया के लिए उसके महान् दुःख के योग्य एकान्त स्थान की ही आवश्यकता थी। सखी-रहित नवीन तपोवन में कालिदास ने शकुन्तला के विरह-दुःख की प्रत्यक्ष अवतारणा नहीं की। कवि ने चुप रह कर शकुन्तला के चारों ओर की नीरवता और शून्यता हमारे हृदय में और भी घनी कर दी है। वे यदि शकुन्तला को कण्व के आश्रम में लौटा ले जाकर कहीं पूर्णतः चुप भी रहते तो वह आश्रम बोलता। वहाँ के वृक्षों और लताओं का क्रन्दन और सखियों का विलाप आप ही आप हमारे हृदय में ध्वनित होता रहता। किन्तु इस अपरिचित नवीन तपोवन में हमें सब स्तब्ध नीरव देख पड़ता है। वहाँ विश्व से बिछुड़ी हुई शकुन्तला का नियम से संयत और धैर्य से गम्भीर दुःख ही केवल हमारी मानस-दृष्टि के सामने ध्यान लगाये विराजमान है। इस ध्यान-मग्न दुःख के सामने कवि अकेले निस्तब्ध

अपने ओठों पर उँगली रखे खड़ा है। उन्होंने उस निषेध के संकेत से प्रश्नों को मिटाकर सारे विश्व को वहाँ से दूर हटा रखा है।

इस अंक में दुष्यन्त की भी विषम स्थिति है। वह एक प्रणयी है और सौंदर्य का उपासक है। उसकी स्थिति उस भ्रमर के समान है, जो कुन्द के पुष्प का न तो रस-पान कर सकता है और न छोड़ ही सकता है, क्योंकि उसके भीतर तुषार भरा हुआ है—

"इदमुपनतमेवं रूपमक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरिगृहीतं स्यान्न वेत्यव्यवस्यन्।
भ्रमर इव निशान्ते कुन्दमन्तस्तुषारं
न खलु सपदि भोक्तुं नापि शक्नोति मोक्तुम्॥

इस प्रकार राजा के हृदय में तूफान मचा हुआ है। अलक्ष्य में युद्ध हो रहा है। एक ओर क्षत्रिय तेज है, और दूसरी ओर ब्रह्मतेज है। ऋषि के दोनों शिष्यों ने और गौतमी ने राजा को बड़ी कड़ी झिड़कियाँ दीं। भर्त्सना में कोई बात उठा नहीं रखी। दुष्यन्त क्रोध नहीं करते, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा से तनिक भी स्खलित नहीं होते। साथ ही ब्राह्मण का अभिशाप भी सिर-आँखों से स्वीकार करना पड़ा, अपूर्व दृश्य है।

"शकुन्तला नाटक के इस पंचम अंक को विश्व के नाट्यसाहित्य में अद्वितीय, अद्भुत, अपूर्व और अतुलनीय समझता हूँ। ग्रीक नाटकों में मैंने ऐसा नहीं पढ़ा, फ्रेंच नाटकों में नहीं पढ़ा, जर्मन नाटकों में ऐसा दृश्य नहीं देखा, अंग्रेजी के नाटकों में भी नहीं देखा।"[१]

छठें अंक में अभिज्ञान मिल जाने से राजा को स्मरण होता है और अब वह पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगता है। यह पश्चात्ताप ही उसे शकुन्तला से मिलन कराने में समर्थ हुआ है। यदि बिना पश्चात्ताप के शकुन्तला की प्राप्ति हो जाती तो शकुन्तला के पाने का कुछ गौरव ही न होता। चारों ओर वसन्त का साम्राज्य होने पर भी उत्सव मनाने का निषेध है। वह शासन के भार से खिन्न होने पर भी सतर्क है। वह शकुन्तला का चित्र देखकर आँसू बहाता है। उन्हीं अश्रुओं के द्वारा परित्याग-फल प्रवाहित हो जाता है। वह पुत्र-स्नेह का आकांक्षी प्रतीत होता है। इस अंक में राजा की मनोवृत्तियों का सफल अंकन है और शकुन्तला के मिलन की आकुलता है।

---

१. द्विजेन्द्रलाल राय—कालिदास और भवभूति पृ० ४३

अंतिम अङ्क में मारीच का पवित्र आश्रम है। राजा शकुन्तला को देखता है और करुणार्द्र चित्त से कहता है—

> "वसने परिधूसरे वसाना
> नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
> अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला
> मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥

"मैले वस्त्र पहने, नियमानुष्ठान करने के कारण सूखे मुख वाली, एक वेणी धारण किये है। इससे ज्ञात होता है कि यह मुझ निर्दयी पति के लिये बहुत दिनों से विरह-व्रत का पालन कर रही है। दुष्यन्त ने पश्चात्ताप किया, शकुन्तला ने तप किया और पुत्र भरत के माध्यम से अपूर्व मिलन हुआ, जो शाश्वत और अमर रहा। कवि ने अपनी तूलिका का चरम विकास पाकर सन्तोष का अनुभव किया। उसे और पाना ही क्या था? सब कुछ मिला अब तो वह अन्त में यही भगवान् शंकर से प्रार्थना करता है कि मुझे अपने पुनर्जन्म से निवृत्त कर दें। स्वर्ग और मर्त्य का यह मिलन कालिदास ने बहुत ही सहज में कर दिखाया है। फूल को उन्होंने ऐसे स्वाभाविक ढंग से फल में फलाया है और मनुष्यलोक की सीमा को उन्होंने इस प्रकार स्वर्ग के साथ मिला दिया है कि उनके बीच में कुछ भी अन्तर किसी को देख नहीं पड़ता। प्रथम अंक में शकुन्तला के अनुराग में कालिदास ने मर्त्यभूमि का कुछ भी गुप्त नहीं रखा। मर्त्यभूमि में वासना कितनी प्रबल है, यह बात शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों के व्यवहार में कवि ने स्पष्ट करके दिखा दिया।"

नाटक के प्रथम चार अंकों को 'भोग-भूमि' बीच के दो अंकों को 'दण्ड-भूमि' और अन्तिम अंक को 'सिद्ध-भूमि' कहा गया है।

भावात्मक परिवेश

'शाकुन्तल' काव्य के आरम्भ में हम शकुन्तला को एक निष्कलंक सौंदर्यलोक में देखते हैं। वहाँ वह सरल आनन्द के साथ अपनी सखियों तथा तरु-लताओं में मिली-जुली है। उस स्वर्ग में छिपे-छिपे पाप ने प्रवेश किया और वह स्वर्ग-सौंदर्य कीट-दष्ट कुसुम की भाँति विशीर्ण और ध्वस्त हो गया। इसके अनन्तर लज्जा, संशय, दुःख, विच्छेद और अनुताप हुए और सबके अन्त में विशुद्धतर, उच्चतर स्वर्गलोक में क्षमा, प्रीति और शान्ति दिखलाई पड़ने लगी। इसी कारण 'शाकुन्तल' नाटक को एक तरह से 'Paradise Lost और Paradise Regained' कहा जा सकता है।

'पहला स्वर्ग बड़ा ही कोमल और अरक्षित था। यद्यपि वह सुन्दर और सम्पूर्ण था, तथापि पद्म-पत्र के शिशिर-बिन्दु की भाँति सद्यः पतनोन्मुख था। इस संकीर्ण सम्पूर्णता की सुकुमारता से छुटकारा पाने में ही हमारा कल्याण है, क्योंकि न तो वह स्थायी है और न उससे हमारी परिपूर्ण तृप्ति ही होती है। अपराध ने मत्त गज की भाँति आकर पद्म-पत्र के बन्धन या घेरे को तोड़ दिया। आलोडन के विक्षोभ ने सारे चित्त को उन्मथित कर दिया। सहज स्वर्ग इस प्रकार सहज ही नष्ट हो गया। अब शेष रह गया साधना का स्वर्ग। अनुताप के द्वारा और तपस्या के द्वारा जब इस स्वर्ग को जीत लिया गया, तब कोई शंका शेष नहीं रही। यही स्वर्ग शाश्वत है।'

पात्रोन्मीलन

दुष्यन्त

कालिदास ने नाटक के नायक दुष्यन्त में सभी गुणों का आरोप करने का सफल प्रयास किया है। उसकी आकृति गजराज के समान है—

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरकर्मा
रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥

'निरन्तर धनुष की डोरी खींचने के कारण महाराज की देह कठिन हो गई है, वे सूर्य के ताप को सहन करने में समर्थ हैं, पसीना निकलने से विकल नहीं होते। यद्यपि इनके सब अंग दुबले-पतले हैं, उनकी कृशता अलक्ष्य है। वे पर्वतीय हाथी की भाँति केवल बलवान् शरीर धारण किये हुए हैं।' इससे राजा की श्रमशीलता का परिचय होता है। उनकी आकृति गम्भीर है तथा वे मधुर भाषी हैं—

'दुरवगाहगम्भीराकृतिर्मधुरमालापनप्रभुत्वदाक्षिण्यं विस्तारयति' 'सम्भावनीयप्रभावा अस्याकृतिः' 'चतुरगभीराकृतिश्चतुरं प्रियमालपन्प्रभाववानिव लक्ष्यते।'

विनय वीरता का आभूषण है और राजा दुष्यन्त विनय के आगार हैं। उन्होंने सर्वत्र अपने वार्तालापों में विनय का परिचय दिया है। यद्यपि नाटक भर में दुष्यन्त के पराक्रमों का परिचय कम ही प्राप्त होता है, तथापि उनकी वीरता देवलोक तक में प्रख्यात है। द्वितीय अंक में वह राक्षसों के निवारणार्थ कण्व मुनि

का आमन्त्रण स्वीकार करते हैं। तृतीय अंक में हुंकार सुनाई पड़ती है–'भो भोस्तपस्विनः मा भैष्ट मा भैष्ट। अयमहमागत एव।' 'हे तपस्वियो ! डरो मत, डरो मत, यह लो, मैं आ पहुँचा।' सातवें अंक में जब वे दानवों का दमन करके लौट रहे हैं, उस समय मातलि उनका वर्णन करता है—

सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्य
स्तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं प्रभवति यन्नसप्तसप्ति
स्तन्नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः॥

'वे दानव तुम्हारे सखा इन्द्र के लिए अवध्य हैं, युद्धक्षेत्र में तुम्हीं उनके मारने वाले नियुक्त हो। जिस रात्रि के अन्धकार को सूर्य नहीं दूर कर सकते, उसे चन्द्रमा दूर करते हैं।

दुष्यन्त धार्मिक हैं और धर्मशास्त्रों तथा ब्राह्मणों के वचनों पर आस्था रखते है। माता की आज्ञा का पालन करना वह अपना कर्तव्य समझते हैं। दुष्यन्त धर्मभीरु भी हैं, जिसका परिचय विशेष रूप से पंचम अंक की इस पदावलि से होता है—

'भोस्तपस्विनः, चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्र भवत्याः स्मरामि, तत्कथमिमामभिव्यक्तसत्त्वलक्षणामात्मानमक्षत्रियं मन्यमानः प्रतिपत्स्ये।'

हे तपस्वियो, बहुत कुछ विचार करने पर भी मुझे स्मरण नहीं आता कि मैंने कभी इन्हें स्वीकार किया है। तब मैं किस प्रकार इस गर्भ-लक्षणवती स्त्री को ग्रहण करके अपने को अक्षत्रिय बनाऊँ। अर्थात् यह क्षत्रियों का काम नहीं है कि वे अपरिचित और गर्भवती पराई स्त्री को अपने घर में रखें। उसे अपने क्षत्रियत्व पर गर्व है।

दुष्यन्त में अनेक रमणीय गुणों का भी समावेश है। दुष्यन्त एक कलाकार हैं। वे चित्रकार हैं। छठें अंक में वे चित्र के सम्बन्ध इस प्रकार कहते हैं—

'अस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेव नाभिः स्थिता,
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि।
अङ्गे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धप्रभावाच्चिरं,
प्रेम्णा मन्मुखमीषदीक्षत इव स्मेरा च वक्तीव माम्॥

'चित्र की भित्ति समतल होने पर भी इस शकुन्तला के दोनों स्तन उठे हुए से, नाभि गहरी-सी और वहाँ की त्रिवली विषम और उभरी हुई-सी दिखाई पड़ रही है। स्नेह के प्रभाव के कारण अंगों में कोमलता का भाव स्थायी-सा भासित हो रहा है। यह जैसे प्रेमपूर्वक मेरे मुख की ओर कटाक्षभरी दृष्टि से देख रही है और मुस्कराकर मानों मुख से कुछ कहना चाहती है।' इस चित्र को देखकर सानुमती अप्सरा को भी वास्तविक शकुन्तला का भ्रम हो गया। राजा इतने से सन्तुष्ट नहीं है। वे और सुन्दर चित्र बनाने के अभिलाषी हैं (६.१६)। वे संगीत के प्रेमी हैं। हंसपदिका का गीत सुनकर यह कहना 'अहो रागपरिवाहिनी गीतिः' उनकी संगीत-कला में दक्षता का परिचय देता है।

दुष्यन्त में कोमलता के भाव स्पष्ट लक्षित होते हैं। वह धीवर को पुरस्कार देकर विदा कर देते हैं। रानियों से भयभीत भी रहते हैं। वे बहुपत्नीक हैं, परन्तु शकुन्तला के प्रति उनका प्रेम वास्तविक और निश्छल है (३.१८)।

इस नाटक के वास्तव में तीन भाग हैं। प्रथम भाग तो आरम्भ के तीनों अंक हैं, जिनमें प्रेमका चित्र है। दूसरे भाग में चौथे और पाँचवें अंक हैं, जिनमें वियोग का वर्णन है। तीसरा भाग शेष दो अंकों में है, जिसमें मिलन का वर्णन है। प्रथम भाग में राजा का पतन, द्वितीय भाग में उठने की चेष्टा और तृतीय भाग में उत्थान दिखाया गया है।

दुष्यन्त के चरित्र का महत्त्व इसी उत्थान और पतन में है। मृगया के लिए घूमते-घामते आश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् शकुन्तला को देखकर जहाँ तक सम्भव था, उनका पतन हुआ। छिपकर सुनना, अपना मिथ्या परिचय देना, देखकर ही अपने उपभोग के योग्य नारी समझ लेना, माता की आज्ञा पर ध्यान न देना, विदूषक को छल करके राजधानी में भेजना और झूठ बोलना, विवाह के बाद कण्वमुनि के आने के पहले ही भाग जाना आदि जहाँ तक गर्हित काम करना संभव था, वहाँ तक उन्होंने किया। उस पापाचार में केवल एक पुण्य की रेखा उनका गान्धर्व विवाह कर लेना है। प्रथम तीन अंक में केवल विवाह ने उनको अनन्त नरक में जाने से बचाया है। साथ ही आगे चलकर इसी से उनका ऊपर उठना और सुधरना सम्भव हुआ है।

पंचम अंक में राजधानी में आकर राजा शकुन्तला को भूल गये। यह उनके पतन की चरम सीमा है। इस अंक में हम देखते हैं कि राजा उस विस्मृति-सागर में डूबकर गोता खाता है—एक बार ऊपर उठता है और फिर नीचे डूब जाता है।

राजा के मन में सन्देह है—'किमत्रभवती मया परिणीतपूर्वा' (क्या मैंने पहले आपके साथ विवाह किया है ?) । एक ओर शकुन्तला का अनुपम सौंदर्य तो दूसरी ओर धर्म । राजा धर्मपथ से तनिक भी नहीं विचलित हुए ।

छठें अंक में शकुन्तला का स्मरण आया और वे पश्चात्ताप करने लगे। वे विरह-व्यथा से पीड़ित हैं, धर्मासन में नहीं बैठते, फिर भी राजकार्य के प्रति जागरूक हैं। वे अंगूठी पर दोषारोपण न कर अपने ऊपर करते हैं—

'कथं नु तं कोमलबन्धुराङ्गुलि
करं विहायासि निमग्नमंभसि ।

अथवा

अचेतनं नाम गुणं न वीक्षते
मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया ।।

'हे अंगूठी, उस कोमल और सुन्दर अंगुलियों वाले हाथ को छोड़कर तू जल में कैसे मग्न हो गई ? अथवा, अचेतन पदार्थ तो गुण को देखने का सामर्थ्य नहीं रखता, पर मैंने चेतन होकर भी प्रिया का प्रत्याख्यान कैसे कर दिया ?'

उनके सामने राज-कार्य की सूचना आती है कि 'धनवृद्धि नामक व्यापारी जो जलयान पर सागर के मार्ग से घूमकर व्यापार करता था, जहाज डूब जाने के कारण मर गया है। उसके कोई लड़का नहीं है । उसके यहाँ कई करोड़ की सम्पत्ति है । वह धन इस समय राजा का है । महाराज की इस बारे में क्या आज्ञा है ?'

राजा ने कहा कि सम्भवतः उसकी अनेक स्त्रियाँ हैं । यदि उसकी किसी विधवा पत्नी के गर्भ में सन्तान हो, तो वही उस सम्पत्ति का स्वामी है । इतना कहकर फिर बोले—

किमनेन सन्ततिरस्ति नास्तीति वा—

'येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
न स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ।।

'सन्तान है या नहीं । इससे क्या प्रयोजन ? घोषणा कर दो कि प्रजा को जिस-जिस स्नेह-पात्र बन्धु का वियोग हो, उस बन्धु का स्थान दुष्यन्त पूर्ण करेगा, यदि वह प्रजा किसी पापकर्म से कलुषित न हो ।' इस स्थल पर कवि ने अपने नाटक के नायक को बहुत ऊपर उठा दिया । कितनी सुन्दर उक्ति है ! वे आदर्श राजा हैं ।

सप्तम अंक में राजा विशेष उदात्त हैं। शकुन्तला के पैरों पर गिर पड़ते हैं। क्षमा माँगते हैं। इस अंक में वे शिशुवत्सल हैं। सभी गुण स्वाभाविक रूप में राजा में प्रकट होते हैं। वे उत्तम पति और उत्साही प्रेमी हैं। बड़ों के प्रति आदर का भाव रखते हैं। वे उच्चकोटि के शासक, वीर, पुत्रवत्सल, कर्तव्यपरायण और प्रजा के प्रेमी, अविकत्थक, धर्मभीरु, आदर्श राजा और आदर्श मनुष्य हैं।

आश्रम में प्रवेश करते ही अनिन्द्य सुन्दरी आश्रमललामभूता शकुन्तला के प्रथम दर्शन में ही उनके हृदय में प्रेम का अंकुर उत्पन्न होता है, जो स्वाभाविक है। उनका बाह्य रूप भी उत्तम है। पंचम अंक में 'अनार्यः परदार-व्यवहारः' कथन से उनकी धर्मपरायणता का परिचय मिलता है। एक असाधारण रूपवती युवती उनसे पत्नी-भाव की भिक्षा माँगती हुई, अपना आँचल फैलाए हुए, गर्भ के लक्षणों से युक्त, राजा के सामने खड़ी है। एक ओर अलौकिक रूप है, ऋषि का क्रोध है, नारी का अनुनय-विनय, प्रयास सब कुछ है तो दूसरी ओर धर्म का भय है। राजा के इस दृढ व्रत से विस्मित होकर कंचुकी कहता है—

"अहो धर्मापेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं रूपं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति ?"

राजा धनुर्विद्या में प्रवीण और मृगया व्यसनी हैं। "शकुन्तला के प्रति उनका प्रेम केवल वासना-प्रेरित ही नहीं है—यह एक साथ ही व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन तथा जातीय जीवन की समन्वित उपलब्धि है।"[१]

"सम्पूर्ण नाटक पढ़ने पर प्रतीति होती है कि दुष्यन्त कोरे कामुक नहीं हैं। वे प्रेमी हैं, कवि हैं, चित्रकार हैं और कर्तव्यपरायण राजा भी हैं। कालिदास का कौशल देखकर स्तम्भित होना पड़ता है कि उन्होंने एक साधारण राजा को गढ़कर उत्कृष्ट बना दिया ! धन्य है कालिदास की कल्पना और प्रतिभा।"[२]

प्रजापालन

दुष्यन्त एक आदर्श राजा हैं। वे अपने कर्तव्यों को भलीभाँति समझते और कहते हैं—

औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा,
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।

१. K. S. Ramaswami Sastri "Kalidasa" पृ० २६३
२. कालिदास और भवभूति पृ० ४९

नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ।।५.६

"राजा बनकर प्रतिष्ठा पा लेने से मन की उमंग तो पूरी हो जाती है, पर जब राज्य का पालन करना पड़ता है, तब कष्ट का अन्त नहीं रहता। इसलिए राज्य उस छाते के समान है, जिसकी मूठ अपने हाथ में ले लेने पर थकावट ही अधिक होती है और विश्राम कम मिलता है।"

वैतालिक राजा के सम्बन्ध में कहता है—

"स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्"।।५.७

"अपने सुख की इच्छा छोड़कर आप नित्य प्रजा की भलाई करते हैं। इससे आप अपने धर्म का ही पालन कर रहे हैं। वृक्ष अपने सिर पर कड़ी धूप सहता है, पर अपने नीचे बैठे हुए जीवों को छाया देता है।"

राजा का प्रजा पर भाई के समान व्यवहार है। वे सदा शंकित रहते हैं कि कहीं मुझसे कोई अपराध तो नहीं हो गया। अपराध हो जाने पर वे अपने आपको धिक्कारते हैं। मातलि दुष्यन्त की उपमा नृसिंह से देता है (७.३)। दुष्यन्त परम तेजस्वी राजा और निपुण शासक चित्रित किये गये हैं। यही चाहते हैं कि राजा सदा अपनी प्रजा की भलाई में लगें।

"प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः।"

कंचुकी दुष्यन्त के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करता है—

"प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवते श्रान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः
शीतं गुहास्थानमिव द्विपेन्द्रः" ।।५.५

"जिस प्रकार गजराज अपने साथ के और हाथियों को उपयुक्त स्थान पर पहुँचाकर धूप से संतप्त होकर किसी शीतल पर्वत-कन्दरा में जाकर विश्राम करता

है, उसी प्रकार महाराज भी अपनी सन्तान के समान प्रिय प्रजा को ठीक मार्ग पर लगाकर और स्वयं थककर एकान्त सेवन कर रहे हैं।''

राजा की बुद्धि तीव्र है। वे प्रत्येक वस्तु को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं। आश्रम में प्रवेश होने के पहले आश्रम के आभोग का ज्ञान होना, भागते हुए मृग का वर्णन करना, चित्र के सौन्दर्य का वर्णन करना आदि उनकी प्रखर प्रतिभा को व्यक्त करते हैं। उनका शस्त्र दुःखियों का दुःख दूर करने के लिए है। उनके शासनकाल में किसी भी प्रकार के विघ्नों की कल्पना ही नहीं की जा सकती है—

"कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति" ।।५.१५

"आप जैसे रक्षक के रहते हुए साधुओं की तपस्या में विघ्न कैसे उपस्थित हो सकता है ? सूर्य के देदीप्यमान रहते भला अन्धकार किसी प्रकार टिक सकता है ?

शकुन्तला

शकुन्तला इस नाटक की नायिका है। इसके चरित्र-चित्रण में कवि ने अपनी समग्र प्रतिभा का उपयोग किया है। उसका शरीर अतुलनीय सौन्दर्य से सम्पन्न है। (अव्याजमनोहरं वपुः)। वह तपोवन की वनश्री और अमृतमयी पारिजात-लता है। वह वल्कल पहनती है, फिर भी उससे उसकी शोभा में माधुर्य है—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'

'शैवाल से कमल आच्छादित होने पर भी सुन्दर प्रतीत होता है। चन्द्र की मलिन ज्योत्स्ना भी सौन्दर्यमयी होती है। उसी प्रकार यह कृशाङ्गी भी इस वल्कल से और भी सुन्दर लग रही है। स्वभावतः सबको प्रिय लगने वाली आकृतियों के लिए कौन सी वस्तु अलङ्कार नहीं बनती। इसमें शकुन्तला के अनिन्द्य सौन्दर्य का वर्णन है। उसमें नैसर्गिक सुषमा है। शकुन्तला में नारी के सभी गुण हैं। 'यौवनोचित प्रमाद के हाव-भाव, लीला-चञ्चलता, लज्जा के साथ प्रबल आत्म-प्रकाश

का संग्राम—सभी कुछ कवि ने प्रकट कर दिया है। किन्तु यह सब शकुन्तला की सरलता का ही निदर्शन है। अनुकूल अवसर पर इन भावों के आवेश को सहसा प्रकट करने के लिए शकुन्तला पहले से उद्यत न थी। उसने अपने को दमन करने का—अपने को छिपाने का पहले से कोई उपाय नहीं रखा था। जो हरिणी व्याध को नहीं पहचानती, उसके घायल होने में देर ही क्या लगती है? शकुन्तला कामदेव को ठीक पहचानती न थी। इसी से उसका हृदय अरक्षित था। उसने कामदेव या दुष्यन्त किसी पर अविश्वास नहीं किया। जिस वन में सदा मृगया हुआ करती है, उस वन में व्याध को अधिक छिपकर अपना काम करना पड़ता है। वैसे ही जिस समाज में स्त्री-पुरुष का सदा सहज में मिलन हुआ करता है, वहाँ कामदेव को बहुत छिपकर सावधानी से अपना काम करना पड़ता है। तपोवन में रहने वाली हरिणी जैसे निःशङ्क होती है, वैसे ही तपोवन की बालिका भी असावधान थी।'

शकुन्तला का पराभव होने पर भी उसका चरित्र अत्यन्त गम्भीर, पवित्र, स्वाभाविक और अखण्ड सतीत्व से संयुक्त है। वह सीधी-सादी वन की मृगी के समान या झरने की जलधारा के समान मलिनता का संसर्ग होने पर भी निर्मल ही रही। वह नियमचारिणी आदर्श गृहिणी है। उसमें संयम और नियम का अद्भुत एवं अपूर्व समन्वय है। वह घात-प्रतिघात से ऊपर उठी है। उसकी सरलता अत्यन्त गम्भीर है। उसकी पवित्रता नैसर्गिक है।

शकुन्तला का प्रकृति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। उसमें आत्मीयता है। वह लता, वृक्ष, मृग आदि को अपना बन्धु समझती है। सर्वत्र उसका यही भाव देखने को मिलता है। यथा—

'हला अनुसूये ! न केवलं तातस्य नियोगः, ममापि एतेषु सोदरस्नेहः' 'एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिः किमपि व्याहरतीव मां चूतवृक्षः' 'वत्स ! किं मां सहवासपरित्यागिनीमनुबध्नासि''

शकुन्तला के हृदय में चेतन-अचेतन सभी के प्रति अपार स्नेह है। पहले आश्रम के पेड़ों को जल से सींच लेती है, तब स्वयं जल पीती है। वह अलंकार-प्रिय होते हुए भी नव पल्लवों का विघात नहीं करती।

प्रथम अंक में ही हमें उसका सुन्दर स्वरूप दिखाई पड़ता है। वह आश्रम-ललामभूता है। आश्रम में पली है। उस आश्रम में अनुसूया और प्रियंवदा उसकी सखियाँ हैं परन्तु आश्रम के वृक्ष और लतायें उसके सगे भाई-बहन हैं। उसमें मधुर

भाव है। प्रियंवदा जब शकुन्तला के एकटक वनज्योत्स्ना लता देखने पर उपहास करती है 'शकुन्तला इतने स्नेह से इस तरु-लता-संमिलन को जो देख रही है, उसका कारण यही है कि वनज्योत्स्ना-लता जैसे अनुरूप वृक्ष के साथ संमिलित हुई है, वैसे ही अपने अनुरूप वर पाने की अभिलाषा इसके मन में है।' तब शकुन्तला ने कहा 'यह तुम्हारे मन का भाव है। इसके पश्चात् राजा को देखती है और उससे प्रेम करने लगती है।

तीसरे अंक में प्रेम-भाव विशेष विकसित है और शकुन्तला प्रेम-पत्रिका में अपना हृदय ही रख देती है--

'तव न जाने हृदयं मम पुनर्मदनो दिवाऽपि रात्रावपि।
निघृ'ण ! तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथाया अङ्गानि'

राजा चुप-चाप सारी बातें सुनकर प्रकट होता है। सखियाँ चली जाती हैं। एकान्त में राजा अविनय का प्रदर्शन करता है। तब शकुन्तला कहती है 'पौरव ! रक्ष विनयम्, मदनसन्तप्ता'''प्रभवामि'' अर्थात् ! संयम रखें। कामवश होती हुई भी परवश हूँ। यहाँ शकुन्तला सतर्क है। इस अंक में शकुन्तला अपने प्रणय की भिक्षा राजा से माँगती है। शकुन्तला के आरम्भ के तीन अंकों में प्रेम, उमंग और उच्छ्‌वास की अवस्था है।

चतुर्थ अङ्क में तरु-लता आदि के प्रति शकुन्तला का अपार स्नेह अभिव्यक्त हुआ है। वह अपने पति का निरन्तर चिन्तन करती है। चिन्तन में खो जाती है। वह पतिगृह को जाते समय कहती है "सखी प्रियंवदे, यद्यपि मैं आर्यपुत्र राजा दुष्यन्त के दर्शनों के लिए बहुत ही उत्सुक हो रही हूँ, किन्तु इस आश्रम को छोड़ने के घोर दुःख से मेरे चरण आगे की ओर नहीं बढ़ते।" जाते समय तरु-लता, मृग आदि के प्रति सहानुभूति, प्रीति और उसकी आत्मीयता का परिचय मिलता है। शकुन्तला को इस अंक में कवि ने प्रकृति की गोद में पली हुई लता सी चित्रित किया है। शकुन्तला का यह रूप इतना कोमल और करुण है कि पाठक पढ़कर और दर्शक देखकर आँसू बहाने लगते हैं।

पंचम अङ्क में शकुन्तला सशंकित है। जब राजा परिणय में सन्देह व्यक्त करता है तो उसकी आशा-लता टूट जाती है और रोष में आर्यपुत्र को अनार्य आदि कह डालती है। प्रतारित नारी की समस्त लज्जा, रोष और घृणा शकुन्तला के हृदय में प्रज्वलित हो उठी। उसका क्रोध से लाल मुख-मण्डल देखकर दुष्यन्त तक स्तम्भित हो उठे। साध्वी शकुन्तला के ये वाक्य अविस्मरणीय हैं--

'यूयमेव प्रमाणं जानीथ धर्मस्थितिञ्च लोकस्य ।
लज्जाविनिर्जिता जानन्ति न किमपि महिलाः॥

"आप ही लोग शास्त्र, लोक और धर्म की मर्यादा को जानते हैं और लज्जा से पराजित स्त्रियाँ कुछ जानती ही नहीं।"

सप्तम अङ्क में वह विरहिणी इस प्रकार उपस्थित होती है—

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः ।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति ॥

उसका सारा प्रेम अब अपने पुत्र भरत के प्रति राशीकृत है। बालक ने जब अपनी माँ से पूछा 'यह कौन है'? तब शकुन्तला ने उत्तर दिया 'भागधेयानि ते पृच्छ' 'अपने भाग्य से पूछो।' इस उत्तर में पुत्र-स्नेह, पति का अन्याय, दैव का अत्याचार सब कुछ अभिव्यक्त हो रहा है। राजा ग्लानि होने के कारण ही उसके पैरों पर गिर पड़े और क्षमा माँगी। दोनों का अपूर्व मिलन हुआ। शकुन्तला कोमल-प्रकृति, प्रेमपूर्ण हृदय वाली, गर्विणी, और पुत्रवत्सला तापसी है। उसमें स्नेह, सौहार्द, तेज, करुणा, ममता, आदि गुण भरे हैं। 'शकुन्तला तपस्विनी होकर भी गृहस्थ है, ऋषिकन्या होकर भी प्रेमिका है, शान्ति की गोद में लालन-पालन होने पर भी उसकी मति चपल है।'

शकुन्तला पतिपरायणा है। उसमें पूज्य जनों के प्रति आदर है। वह अनुपम सौन्दर्य की तरंगिणी है। उसमें शील है, अनुराग है। वह पुत्र-वत्सला है।

अन्य चरित्रों के निरूपण में कवि वैसे ही सफल हैं, जैसे नायक और नायिका के चरित्र-चित्रण में। कण्व स्नेह-परायण एवं वत्सल पिता हैं। उनमें शकुन्तला के प्रति स्नेह और विश्वास है। वे व्यावहारिक हैं। उनका हृदय सहानुभूतिपूर्ण है और शकुन्तला की विदाई से व्याकुल है। भरत बड़ा निर्भीक है। पराक्रमी है। सखियाँ नितान्त गम्भीर, दूरदर्शी, व्यवहार-कुशल, मधुरभाषिणी और विनोदशील हैं। विदूषक विनोदी किन्तु बुद्धिमान् हास्यकी मूर्ति है। इस प्रकार कालिदास ने सभी पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं का अंकन किया है।

शाकुन्तल की शैली

रस-निष्पत्ति—

अभिज्ञान शाकुन्तल शृंगार-प्रधान नाटक है। इसमें संभोग और विप्रलम्भ दोनों का परिपाक हुआ है और नैसर्गिक सौंदर्य, प्राकृतिक सुषमा, शारीरिक सौंदर्य आदि सभी का वर्णन हुआ है। राजा दुष्यन्त उसके सौंदर्य का वर्णन करते हैं—

दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तः परिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्।
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखम्
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्॥

'नेत्र के दोनों प्रान्त भाग विस्तृत हैं। नेत्र भी विस्तृत हैं। किंचित् विलास से भ्रूलता भी सुशोभित हो रही है। दन्त-समूह के बीच ज्योत्स्ना की भांति निकलते हुए हास्यकिरण से दोनों ओष्ठ रंजित हो रहे हैं। पक्व बदरी-फल के समान रक्त वर्ण वाले दोनों ओष्ठ सुन्दर दीखते हैं।'

करुण रस का परिपाक चतुर्थ अङ्क में है। करुण रस से यह अंक ओत-प्रोत है। शकुन्तला की विदाई का दृश्य अनुपम करुणाप्लावित है। हास्य की अभिव्यंजना विदूषक की चेष्टाओं और उक्तियों से की गई है। भयानक रस का निदर्शन भीत मृग के भागने के वर्णन में हुआ है। वात्सल्य रस का निष्यन्द सप्तम अंक है—

'आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै—
रव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनीभवन्ति॥ ७'१७

प्रकृति-चित्रण—

शाकुन्तल में अन्तः और बाह्य दोनों प्रकृति का पर्याप्त चित्रण किया गया है। नाटक की प्रस्तावना से ही प्रकृति का वर्णन प्रारम्भ होता है—

'ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि।

कवि ने कोरा प्रकृति वर्णन ही नहीं प्रस्तुत किया है, अपितु उसके साथ कथा का प्रवाह और भावी कथानक भी इंगित किया है, यथा—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि। ४.२

'चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर वही कुमुदिनी नेत्रों को आनन्द नहीं प्रदान करती। उसकी शोभा केवल स्मरण की वस्तु है। सच है प्रियतम के प्रवास के कारण अबला की मनोव्यथा अवश्य ही असह्य हो जाती है।' इसमें शकुन्तला की भावी विरह-वेदना की व्यञ्जना है।

शकुन्तला के प्रस्थान के समय प्रकृति की सहानुभूति प्रकट की गई है। इस अवसर पर प्रकृति का मानवीकरण है। अन्तःकरण की करुण दशा प्रकृति के ही माध्यम से अभिव्यक्त की गई है। कण्व तपोवन के तरुओं से शकुन्तला के जाने के लिए अनुमति की प्रार्थना करते हैं (४.६)। अभिज्ञान-शाकुन्तल की प्रकृति सब कुछ कह कर भी कुछ नहीं कहती। अन्य पात्रों के समान प्रकृति भी एक पात्र है। उसके कार्य और स्थान महत्वपूर्ण हैं। अपने रूप में ही प्रकृति सजीवता उपस्थित करती है। बाह्य प्रकृति ने 'कभी तो शकुन्तला की यौवन-लीला को अपना लीला-माधुर्य अर्पण किया है, और कभी अपना कल्याण-मर्मर मङ्गल आशीर्वाद के साथ मिश्रित किया है। प्रकृति ने विच्छेदकालीन व्याकुलता से शकुन्तला के प्रस्थान के समय अपनी मूक भाषा को करुणापूर्ण कर दिया है और कभी अपने अपूर्व मन्त्र-बल से शकुन्तला के चरित्र में एक प्रकार की पवित्र निर्मलता, एक स्निग्ध माधुर्य की किरण बिखेर दी हैं'। कालिदास का विश्वास है कि प्रकृति भावी मंगल और अमंगल की सूचना देती है, जैसे माधवी लता का मुकुलित होना शकुन्तला के पाणिग्रहण को सूचित करता है।

अलंकृत पदावली—

अभिज्ञान-शाकुन्तल में कालिदास की शैली परिष्कृत रूप में मिलती है। पदलालित्य, उनका विन्यास आदि अपूर्व रमणीयता का प्रतिपादक है। सौन्दर्य का वर्णन करते समय कवि कान्त पदावली अपनाता है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

अभिज्ञान-शाकुन्तल में उपमाएँ बहुत ही सुन्दर प्रयुक्त हुई हैं—

केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पांडुपत्राणाम् ॥

'यह कौन स्त्री है, जो घूंघट निकाले हुए है और जिसके शरीर का लावण्य परिस्फुट नहीं है। इन मुनियों के मध्य में वह वैसी ही जान पड़ती है, जैसे पके हुए पीले पुराने पत्तों के बीच नया किसलय हो।" इसमें स्वाभावोक्ति है।

व्यंजना

अभिज्ञान-शाकुन्तल में या अन्य काव्यों में कालिदास की शैली की सबसे बड़ी विशेषता मार्मिक व्यंजन करा देना है। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्दों में अपार भाव और अर्थ भरने में समर्थ हैं। दुष्यन्त का शकुन्तला को देखने के पश्चात् केवल इतना 'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्' कहना सभी कुछ अभिव्यक्त कर देता है।

'दुष्यन्त तपोवन से राजधानी को लौटकर शकुन्तला का नाम-धाम भूल जाते हैं। ऐसे अवसर पर विलाप-कलाप या परिताप-सन्ताप के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता था। परन्तु शकुन्तला के मुख से कवि ने कुछ नहीं कहलवाया। केवल दुर्वासा के आतिथ्य के प्रति उसकी अनवधानता से ही हम उस हतभागिनी की अवस्था की कल्पना कर सकते हैं। जिस समय शकुन्तला पति-गृह जाने लगी, उस समय कण्व का एकान्त स्नेह कैसे कारुणिक, गम्भीर, संयत और परिमित शब्दों में प्रकाशित हुआ है। अनसूया और प्रियंवदा की सखी-विच्छेद-वेदना प्रतिक्षण दो चार शब्दों में ही सीमोलंघन की चेष्टा कर रही है, पर भीतर ही भीतर तुरन्त दब जाती है। प्रत्याख्यान के समय भय, लज्जा, अभिमान, अनुनय, भर्त्सना, विलाप सभी कुछ है, पर कितने परिमित शब्दों में! जिस शकुन्तला ने सुख के समय, सरल भाव से संशय-रहित होकर, अपने को भुला दिया था, दुःख के समय जब दारुण अपमान होने लगा, तब वही अपनी हृदय-वृत्ति की अप्रगल्भ मर्यादा को इस प्रकार आश्चर्यजनक संयम से रक्षित कर सकेगी, यह कौन सोच सकता था? इस प्रत्याख्यान के पश्चात् की नीरवता कैसी व्यापक और गम्भीर है! कण्व नीरव, अनसूया और प्रियंवदा नीरव, मालिनी-तीर-वर्ती तपोवन नीरव और विशेष नीरव रही शकुन्तला! हृदय-

वृत्ति को आलोडित कर प्रकाशित करने का ऐसा सुअवसर और किसी नाटक में इस प्रकार नीरव भाव से उपेक्षित हुआ है ? इस नीरवता में व्यञ्जना भरी है ।

कहीं-कहीं ध्वनि के द्वारा वस्तु की व्यञ्जना की गई है । 'दिवसाः परिणामरमणीयाः' से नाटक के सुखान्त की सूचना है । नटी के गीत (१·४) के द्वारा शिरीषकुसुम का संकेत शकुन्तला की ओर, भ्रमर का दुष्यन्त की ओर तथा 'ईषदीषच्चुम्बितानि' का नाटक के पूर्वार्ध में दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन का संकेत है । इसी प्रकार सर्वत्र ध्वन्यात्मक शैली प्रयुक्त हुई है । वर्णन अत्यन्त मनोरम है । वर्णन में सजीवता है और चित्रात्मकता है ।

कालिदास की वैदर्भी शैली है । सरल-सरल पद विन्यासों से भावों की अभिव्यक्ति पूर्ण मात्रा में हुई है । भाषा प्रांजल और प्रवाह पूर्ण है । उसमें एक सौष्ठव है और अर्थाभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता है । इसीलिए कहा गया है 'कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तलम्'

कालिदास का व्यक्तित्व

महाकवि कालिदास विनय की साकार मूर्ति हैं । यह उनके काव्यों से स्पष्ट है । जिस नम्रता से उन्होंने रघुवंश का आरम्भ किया है, वह उन्हीं के व्यक्तित्व के अनुरूप था—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥
मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

'कहाँ सूर्य से उत्पन्न हुआ वंश (रघुकुल) और कहाँ अल्प विषयों को ग्रहण करने वाली मेरी मन्द मति । अतः उसके वर्णन करने में मैं अज्ञान से डोंगी द्वारा दुस्तर सागर को पार करने की इच्छा करने वाले के समान हूँ ।''

१. प्राचीन साहित्य पृ० ५५-५६,

'कवियों का यश पाने की इच्छा करने वाला, मन्द-मति, मैं उसी प्रकार हास्यास्पद बनूंगा, जैसे लम्बे पुरुष के हाथ लगने योग्य फल के लिए लोभ से ऊपर हाथ किया हुआ बौना पुरुष होता है।'

'अथवा पहले के कवियों के द्वारा वर्णन किए गए रामायण-प्रबन्धात्मक-द्वार वाले सूर्यवंश में, मणि-वेधी सूचीविशेष से बींधे हुए मणि में सूत की भांति मेरी गति है।'

कालिदास प्रकृति के पुजारी हैं और उन्हें सार्वत्रिक पूर्ण ज्ञान है, जैसा उनकी रचनाओं से पदे-पदे प्रकट है।

कालिदास का व्यक्तित्व पूर्ववर्ती महाकवियों से प्रायः भिन्न है। व्यास और वाल्मीकि महाकवि होने के साथ ही साथ महर्षि भी थे। अश्वघोष बौद्ध आचार्य था, पर कालिदास विशुद्ध कवि थे। यद्यपि वे शिव के उपासक थे पर विष्णु की काव्यात्मक प्रतिष्ठा उन्होंने की है।

कालिदास समाज को अपनी प्रखर प्रतिभा से काव्य-दृष्टि देकर उसके द्वारा उसके चारों ओर सौहार्द-पूर्ण वातावरण की सृष्टि करने में सफल हुए। कवि ने संसार के उस स्वरूप का आकलन किया है, जिसमें हिमालय है, महासागर है, महानद हैं और साथ ही साथ प्रकृति की सुषमा, कुसुमित लताओं की रंगस्थली और किसलय-सम्पन्न तरुवर हैं। इनसे मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करा देना कालिदास के जीवन का लक्ष्य है।

कालिदास को व्याकरण, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, ललितकला, दर्शन, विज्ञान आदि का अगाध ज्ञान है। उनके वाङ्मय में सभी प्रकार की गतिविधियों का अंकन और मानवीय भावनाओं का स्पन्दन है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—'हे अमर कवि कालिदास, क्या तुम्हारे सुख-दुःख और आशा-नैराश्य के द्वन्द्व हम लोगों की भांति नहीं थे? क्या तुम्हारे समय में राजनीतिक षड्यन्त्रों और गुप्त आघात-प्रतिघातों का चक्र प्रायशः नहीं चलता रहता था? क्या तुम्हें कभी हम लोगों की भांति अपमान, अनादर, अविश्वास और अन्याय सहन नहीं करना पड़ा? क्या तुम यथार्थ जीवन के क्रूर-कठोर अभावों से पीड़ित नहीं रहे? और क्या तुम्हें उस निर्मम पीड़ा के कारण निद्रा-रहित रातें नहीं बितानी पड़ीं?

ऐसा संभव नहीं। तुम्हें भी जीवन की कठोर यथार्थता के कटु अनुभव अवश्य हुए होंगे, किन्तु यह सब होने पर भी, उन सब के ऊपर तुम्हारा सौंदर्य-कमल आनन्द के सूर्य की ओर उन्मुख होकर निर्लिप्त और निर्मल रूप में खिला। उसमें कहीं दुःख, दैन्य और दुर्दिन के अनुभवों का कोई चिह्न नहीं है। जीवन के मंथन से उत्पन्न विष का तुमने स्वयं पान किया है और उस मंथन के फलस्वरूप जो अमृत निकला, उसे तुम समग्र संसार को दान कर गये हो।"

काव्य-चमत्कार

सर्वंकष-निकष

रस

सोड्ढल ने 'उदयसुन्दरी' नामक ग्रंथ में महाकवि कालिदास को 'रसेश्वर' की पदवी प्रदान की है। कालिदास की यह उपाधि सार्थक है। सम्भोग, विप्रलम्भ, करुण, वीर, शान्त, अद्भुत आदि रसों का पूर्ण परिपाक कालिदास की कृतियों में मिलता है। इनकी रचनाओं में सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों प्रकार के शृंगार रसों का उत्तम रीति से निर्वाह हुआ है। शृंगार रस में कालिदास का नैपुण्य देखकर जयदेव ने उन्हें 'कविताकामिनी का विलास' उपाधि दी है। कालिदास के तीनों नाटक तथा 'कुमार-सम्भव' और 'मेघदूत' काव्य शृंगार-प्रधान हैं। कवि मरण के प्रकरण में भी अपनी शृंगार-प्रियता प्रकट करता है—

रामममन्मथसरेण ताडिता
दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता,
जीवितेशवसतिं जगाम सा॥ रघुवंश ११.२०

यही कारण है कि राजशेखर ने 'शृंगारे ललितोद्गारे' कह कर प्रशंसा की है। सम्भोग की जैसी छटा कुमारसम्भव में दिखाई देती है, वैसी ही विप्रलम्भ की मेघदूत में—

यथा—

नूनं तस्याः प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियायाः,
निश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदुपसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति॥

रात-दिन अश्रु बहाने से सूजी हुई यक्षिणी की आँखें, उष्ण निश्वासों के कारण विवर्ण अधरोष्ठ, हथेली पर रखे हुए और लम्बे बालों से ढक जाने के कारण आधे दिखाई पड़ते हुए उसके मुख के वर्णन से विरह-दुःख और विषाद, चिन्ता आदि अभिव्यक्त हो रहे हैं। इस वर्णन में वह साकार प्रतिमा मानस-पटल में अंकित हो जाती है।

रति-विलाप और अज-विलाप में करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। पत्नी के वियोग में अज की विचित्र दशा हो गई है--

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु॥
रघु० ८.४३

अज अपना सहज धैर्य छोड़कर सिसकियों से अवरुद्ध हुई वाणी से फूट-फूटकर विलाप करने लगे। अधिक ताप से लोहा भी पिघल जाता है। फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या? वेदना और करुणा का साम्राज्य है। उसी प्रकार रति की बिलखती दशा देखकर कौन आँसू नहीं बहाता--

'गत एव ते न निवर्तते सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्॥ ४.३०

शकुन्तला के चतुर्थ अंक में कालिदास ने प्रकृति और मनुष्य को एक प्रेम-बन्धन से बंधा हुआ दिखाया है। जब शकुन्तला तपोवन को सूना बनाकर चल देती है, उस समय समस्त तपोवन रो पड़ता है--

'उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्राः मुञ्चन्त्यश्रूणीव लता॥ शा० ४.११

अवश्यही यह कारुणिक दृश्य प्रत्येक मानव की हृत्तन्त्री को निनादित कर देता है।

अज और राम के युद्ध-प्रसंगों में वीर, विश्वजित् यज्ञ में दानवीर, वसिष्ठ और वाल्मीकि के आश्रम तथा सर्वस्वत्यागी रघु के वर्णन में शान्त रस का प्राधान्य

है। ताड़का-वध में बीभत्स और भागते हुए मृग-वर्णन में अद्भुत रस की निष्पत्ति होती है।

कालिदास की शैली व्यञ्जना-प्रधान है। उनके समस्त काव्य-ग्रन्थों में व्यञ्जना अनुस्यूत है।

अलंकार

अलंकारों के प्रयोग में कालिदास ने अपनी सूक्ष्म मर्मज्ञता का परिचय दिया है। उनकी कविता अनावश्यक अलंकारों के भार से आक्रान्त कामिनी की भाँति मन्द-मन्थर गति से चलने वाली नहीं है, अपितु 'स्फुटचन्द्रतारका विभावरी' की भाँति अपने सहज सौन्दर्य से सहृदयों के चित्त को आकृष्ट करने वाली है। अनुप्रास स्वाभाविक से लगते हैं। जैसे, प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि, 'मायूरी मदयति मार्जना मनांसि' आदि में प तथा म की अनुवृत्ति से मृदङ्ग की तालध्वनि का मनोरम अनुकरण लक्षित होता है। रघुवंश के नवें और अट्ठारहवें सर्ग में यमक का सफल मात्रा में प्रयोग किया गया है, यथा

"यमवतामवतां च धुरि स्थितः"

अथवा

"वितमसा तमसासरयूतटाः"।

श्लेष के प्रयोग से काव्य में क्लिष्टता आ जाती है। अतः उससे रसभंग होता है। यही कारण है कि कालिदास की कृतियों में इसके बहुत कम उदाहरण प्राप्त होते हैं। कालिदास की रचना में शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों का विशेष स्थान है। वे स्वभावोक्ति में सिद्धहस्त हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का समुचित प्रयोग किया गया है।

उपमान

कालिदास की उपमाएं अद्वितीय हैं। उनमें अनुरूपता, सरसता और अपूर्वता है। नन्दिनी गाय राजा दिलीप और सुदक्षिणा के बीच में वैसे ही शोभा पा रही है जैसे दिन और रात के मध्य में होने वाली रक्तवर्णा सन्ध्या—

'दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या'

इस उपमा में वहाँ का दृश्य प्रत्यक्ष सा हो जाता है। स्वयंवर में इन्दुमती निरन्तर आगे बढ़ती जा रही है और पीछे छूटते हुए राजा उदास होते जाते हैं। उपमा का चमत्कार देखिए--

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

निराशा की कालिमा क्या नैश अन्धकार से कम होती होगी ?

शास्त्रीय उपमा देखिए 'नन्दिनी का अनुगमन करने वाले राजा दिलीप की, श्रुति का अनुसरण करने वाली स्मृति से, उपमा आध्यात्मिक है--श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्"। विदूषक चन्द्रमा को आग का गोला समझता है। अन्यत्र

'मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ'॥
'चक्षुः खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्'॥

आदि उपमाएँ अनुपम हैं।

उत्प्रेक्षा के प्रयोग में कवि सिद्धहस्त हैं। यथा—

"राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः"

अथवा

"मध्ये श्यामः स्तनमिव शेषविस्तारपाण्डुः"

कैलास पर्वत के लिए शिव के हास की उत्प्रेक्षा कितनी रमणीय है। दृष्टान्त का भी प्रयोग हुआ है 'सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति' में दृष्टान्त समीचीन है।

अर्थान्तरन्यास कालिदास की अपनी निजी विशेषता है।

"किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्"
"क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते"

"प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता"
"न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्"

आदि श्लोकों में इसकी विशेष छटा पाई जाती है। सर्वत्र अलंकारों की अनुपम विशेषता दर्शनीय है।

कालिदास के द्वारा प्रयुक्त अलंकार प्रासंगिक होने के कारण श्लोकों के भाव और अर्थ को सुबोध बना देते हैं और साथ ही कवि के मन्तव्य में द्विगुणित प्रभाव की वृद्धि करते हैं। ऐसी परिस्थिति में कालिदास के अलंकार केवल अलंकार स्वरूप नहीं हैं। इन्हीं अलंकारों की उपयोगिता को दृष्टि-पथ में रखकर कालिदास के विषय में उक्ति प्रतिष्ठित हुई 'उपमा कालिदासस्य।'

कालिदास की उत्प्रेक्षाएं वातावरण की अनुकूलता और प्रासंगिकता के बल पर वर्ण्य-विषय को प्रतिष्ठा प्रदान करती हैं और साथ ही उसका अमिट चित्र हृदय पर खींच देती हैं। उदाहरण के लिए देखिये कण्व की उक्ति—

'दिष्ट्या धूमोपरुद्ध······आहुतिरापतिता—
सुशिष्यपरिदत्ता विद्येव अशोचनीयासि।'

ऋषियों के आश्रम पर यदि उपमेय कुछ हो सकता है तो वह आहुति ही तो है और कन्या-दान की उपमा जो सुशिष्यपरिदत्ता विद्या से दी गई, इससे पाठक के मानस-पटल पर वह संस्कार खिंच जाता है, जिसमें उपमान की सचित्र और पावन प्रतिष्ठा विराजती है।

छन्द

विषय और वर्णन के अनुकूल कालिदास ने छन्दों का प्रयोग किया है। छन्दों की योजना स्थल, वस्तु, विषय, भावना और विचार पर अवलम्बित है। जिस प्रकार संगीत में समय, भाव और विषय के अनुसार राग-योजना होती है, उसी प्रकार छन्दों का अनुरूप विधान रोचक होता है। अनुकूल छन्दों के सन्निवेश से सौंदर्य, माधुर्य और रस की निष्पत्ति होती है। कालिदास 'मेघदूत' में एकमात्र मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग करते हैं और उस छन्द में उस विषय का माधुर्य ओत-प्रोत है।

रीति

कालिदास की रचना-शैली वैदर्भी रीति के नाम से प्रख्यात है।[1] वैदर्भी रीति की सरलता और तदनुकूल भाषा में स्वाभाविक प्रवाहशीलता विशेष गुण हैं। ललित-पद-विन्यास के माधुर्य से मण्डित दीर्घ समास रहित वैदर्भी रीति होती है।[2] दण्डी ने वैदर्भी रीति की उद्भावना सर्वप्रथम कालिदास द्वारा ही मानी है—

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिरः।
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥

कालिदास की लोकप्रियता का सर्वप्रधान कारण उनकी प्रसादपूर्ण तथा सरस शैली है, जो ललित पद-विन्यास के माधुर्य के कारण स्वभावतः सरल है।

व्यंजना

किसी भाव के चित्रण के लिए कालिदास अभिधा से कहने की अपेक्षा व्यंजना वृत्ति का आश्रय लेने में निष्णात हैं। यथा,

'एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥ कु० ६.८४

अंगिरा ऋषि हिमालय से निवेदन करते हैं कि आप पार्वती का शिव के साथ विवाह करने की अनुमति दें। उस समय पास ही बैठी हुई पार्वती की मानसिक दशा का इसमें कितना सूक्ष्म चित्रण है। अलंकार का अभाव होते हुए भी कवि ने कमल-पत्र की गिनती के वर्णन में पार्वती की सहज लज्जाशीलता, आन्तरिक प्रेम तथा आनन्दातिरेक के गोपन की प्रवृत्ति की व्यंजना बड़ी रुचिरता एवं मार्मिकता पूर्वक की है। कोमल और सुकुमार भावों की व्यंजना में कालिदास अद्वितीय हैं। इसीलिए प्रसन्नराघवकार जयदेव ने उन्हें कविताकामिनी विलास की उपाधि से विभूषित किया है।

---

१. वैदर्भीरीतिसन्दर्भे कालिदासो विशिष्यते।

२. माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥

मानव-हृदय की कोमल और उग्र दोनों भावनाओं का सजीव चित्र कालिदास की कृतियों में अंकित है। कालिदास की शैली की रस-निर्भरता का आकलन करते हुए महाकवि बाणभट्ट ने प्रशस्ति की—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते।

अर्थात् अतिशय मधुर मंजरियों की भांति कालिदास की सूक्तियों में किसे रस नहीं मिलता ?

वर्णनों की रसनिर्भरता के लिए कवि द्वारा वर्ण्य वस्तु के स्वरूप की मधुरतम और सहानुभूतिपूर्ण झांकी प्रस्तुत की गई है और रसों के अनुकूल छन्द और शब्दावली का उपयोग किया गया है। गोवर्धनाचार्य ने कालिदासीय शैली के उपर्युक्त बहुविध गुणों का आकलन करते हुए कहा है—

साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये।
शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्तिः॥

अर्थात् कालिदास की उक्ति प्रेम-निमग्न रमणी की भावभीनी, मधुर, कोमल ध्वनियों से पूर्ण शिक्षा के साथ ही प्रमोदप्रदायिनी है।

कालिदास की वाणी के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण कवि की उक्ति सार्थक है—

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा,
हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या,
न कालिदासादपरस्य वाणी॥ भरतचरित १३

'कमलिनी की भाँति अस्फुट-दोषवाली (रात में विकास न पाने वाली, दूसरे पक्ष में निर्दोष) मुक्ताहार के समान गुण समूह-युक्त (अनेक सूत्रों वाली, दूसरे पक्ष में गुण-समुच्चयों से युक्त) प्रिया की गोद की भाँति विमर्द से (संवाहन से, परीक्षण से) आह्लादकर, वाणी कालिदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि की नहीं है ।

भाषालावण्य

कालिदास की भाषा अत्यन्त सरल, मनोहारिणी, व्यंजनापूर्ण, प्रसाद-गुण गुम्फित और पद-लालित्य-मण्डित है। कालिदास की रचनाएं संस्कृत साहित्य की प्रस्फुटित शैली का चरमतम निदर्शन हैं। उनकी मौलिकता सर्वत्र व्याप्त है। 'कालिदास निःसन्देह भारतीय काव्य'शैली के सर्वोत्तम आचार्य हैं' । व्यंजना का आश्रय लेने के कारण उनके लघु चित्र अपने परिष्कृत सौन्दर्य में परिपूर्ण हैं। भावुक को मुग्ध करना उनका प्रधान आकर्षण है। महर्षि अरविन्द के अनुसार 'कालिदास मूर्धन्य कलाकार हैं, भावना में गम्भीर तथा रचना में मधुर, नाद एवं भाषा के स्वामी, जिसने गीर्वाणगिरा की असीम सम्भावनाओं में से अपने लिए वैसी पद्य-पद्धति तथा पद-योजना का निर्माण कर लिया है, जो निश्चितरूपेण अत्यधिक महान्, अत्यधिक शक्तिशाली एवं अत्यधिक नाद-विकसित हैं। कालिदास ने संस्कृत के श्रेष्ठ नाद के भव्यप्रसाद को निर्मित कर दिया है और उनकी कृतियों से निर्गत होने वाली वही ध्वनि है, जो प्राक्तन साहित्य की सर्वोत्तम रचनाओं में मिलता है। इस साहित्य की शैलीगत विशेषताएं हैं—एक सुगठित किन्तु स्वाभाविक संक्षेप, एक मसृण गाम्भीर्य एवं सुस्निग्ध औदार्य, पद्यगत श्रेष्ठ स्वर-सामंजस्य, परिष्कृत गद्य का सशक्त एवं प्रांजल सौन्दर्य और सबसे बढ़कर, संक्षिप्त तथा प्रभविष्णु पदावली की निश्चित अर्थपरता, जिसमे रंग और माधुरी लबालब छलकते हैं। पुनः यह भाषा इतनी लचीली है कि महाकाव्य से लेकर गीति तक के सम्पूर्ण काव्यरूपों में इसकी सुन्दर नियोजना हो सकती है, विशेषतया महाकाव्य और नाटक मे। कालिदास ने अपनी महाकाव्यगत शैली से देववाणी की इन स्थायी विशेषताओं म नाद तथा अभिव्यक्ति की वह पूर्णता एवं भव्यता जोड़ दी है, जो आंग्ल कवि मिल्टन की एतद् विषयिणी विशेषताओं से बढ़ जाता है, और अपनी नाट्यगत शैली म एक अनन्य-साधारण सौन्दर्य एवं माधुर्य जोड़ दिया है, जिससे यह संलाप नाटकीय वृत्ति एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावानुभूति का अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त बन गई है।'[1]

1. Kalidasa (second series) पृष्ठ १६—१७

नारी-चित्रण

कालिदास ने नारी को केवल उपभोग की वस्तु नहीं समझा है, अपितु वह गृहिणी है, सचिव है, सखी और समस्त ललित कलाओं में निष्णात गृहस्वामिनी है।

"गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" । रघु० ८.६७

इसी प्रकार कालिदास ने कण्व के मुख से परिवार का भूषण और दूषण-दोनों प्रकार की स्त्रियों का उल्लेख किया है।[1]

कालिदास ने एकमात्र नारी-सौन्दर्य का केवल स्निग्ध एवं शृंगारिक रूप ही नहीं अंकित किया है, अपितु उसके सगर्व स्वाभिमान का भी अनुपम वर्णन प्रस्तुत किया है

"वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा
वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः
श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य" ॥रघु० १४.६१

परित्यक्ता सीता लक्ष्मण से कहती हैं कि तुम मेरी ओर से उन राजा (राम) से यह सन्देश कहना—लंका-विजय के पश्चात् देवताओं, वानरों, राक्षसों तथा स्वयं आपके सामने अग्निदेव ने मेरी पवित्रता का प्रमाण दिया था। लोगों के निराधार प्रवाद को सुनकर ही आपने अपनी वाग्दत्ता पत्नी का परित्याग कर दिया है। क्या यह आचरण-आपकी विद्वत्ता अथवा कुल के अनुरूप है? 'स राजा' क्या ही चुभता हुआ व्यंग्य है! यहाँ राम पहले राजा हैं, फिर पति।

अभिज्ञानशाकुन्तल की शकुन्तला में नारी का स्वाभिमान विशेष उदात्त रूप में वर्तमान है—

'यूयमेव प्रमाणं जानीथ धर्मस्थितिञ्च लोकस्य।
लज्जाविनिर्जिता जानन्ति न किमपि महिलाः॥

विरहिणी यक्षपत्नी का वर्णन करते समय कालिदास ने एक आदर्श गृहिणी का उत्तम चित्र अंकित किया है। वह अन्य नायिकाओं की भाँति एक मात्र सुन्दरी ही

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम् ४.१८

नहीं है, अपितु विविधकला-प्रवीणा, सहृदया, सच्ची प्रेमिका और आदर्श पतिव्रता है। कवि ने भारतीय आदर्श की स्थापना की है। वह अपने पति में कोई दोष न देखकर अपना भाग्य मानती है।[१] सीता के इस सन्देश में कालिदास ने उसके कोमल स्वभाव, करुणावस्था तथा पातिव्रत्य का वर्णन मार्मिक शैली में किया है। यही भारतीय आदर्श है—

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टि—
ऊर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि
त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥ रघु० १४.६६

'मैं प्रसव के पश्चात् सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर तप करने की चेष्टा करूंगी, जिससे दूसरे जन्म में आप ही मेरे पति हों और वियोग न हो।'

'कुमार-संभव' में पार्वती, 'मेघदूत' में यक्षपत्नी, 'विक्रमोर्वशीय' में उर्वशी, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में शकुन्तला, 'रघुवंश' में सीता ऐसी दिव्य मूर्तियाँ हैं, जो निरन्तर प्रभावित करती हैं और आदर्श प्रस्तुत करती हैं।

रवीन्द्रनाथ के शब्दों में 'कवि ने भारतीय नारी के आदर्शों की सजीव व्याख्या की है। जब तक पार्वती अपने पार्थिव रूप से शिव को जीतना चाहती थीं, तब तक वह असफल रहीं। परन्तु जब उन्होंने आध्यात्मिक रूप से शिव की आराधना की तो वे सफल हो गईं। धर्म में जो सौन्दर्य है, वही ध्रुव है। प्रेम का जो संयत रूप है, वही श्रेष्ठ है। बन्धन में ही यथार्थ शोभा है और उच्छृंखलता में सौन्दर्य की विकृति। नर-नारी का प्रेम तब तक स्थायी नहीं रहता, जब तक वह संकीर्ण होता है। कल्याण की ओर चलते हुए जब वह पुत्र-पुत्रियों के रूप में परिणत होता है, तभी वह अपनी मादकता रखता है।[२]

'भारतीय शास्त्रों में नर-नारियों का संयत-संबन्ध कठिन अनुशासन के रूप में आदिष्ट है और वही कालिदास के काव्यों में सौन्दर्य के सामानों से सुसंगठित हुआ है। यह सौन्दर्य श्री, ह्री और कल्याण से उद्भासित है, गंभीरता की ओर से नितान्त एकाकी और व्याप्ति की ओर से विश्व का आश्रय स्थल है। वह त्याग से परिपूर्ण, दुःख से चरितार्थ और धर्म से ध्रुव निश्चित है।[३]

---

१. कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शंकनीयः।
   ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥

२. प्राचीन साहित्य पृ० २७.

३. प्राचीन साहित्य पृ० २९.

काव्यकला

विचित्र-सामञ्जस्य

अपने पात्रों को निरन्तर कर्मण्य बनाकर और उन्हें जीवन की विषम परि-स्थितियों में डालकर उनसे ऐसे व्यापार कराना, जो मानवता के लिए आदर्श हैं—कालिदास का अपना निजी कौशल है। कालिदास को राजा का वैभव नहीं चमत्कृत करता, अपितु राजा को चरवाहा बना कर उसकी प्रभा से संसार को चकित कर देने का प्रसंग कवि का प्रिय विषय है। कवि को तपस्विनी पार्वती की उच्चता प्रभावित करती है और उससे भी अधिक प्रभावित करता है दिग्विजयी रघु का मृण्मय पात्र में अर्घ्य लेकर कौत्स का स्वागत-दृश्य। अपने नायक को राजकीय अथवा कृत्रिम वैभव से विहीन करके सात्विक मानवता की पृष्ठभूमि पर लाकर उसकी सर्वोच्चता का प्रदर्शन कराने की कला कालिदास में सर्वोपरि है। कौत्स और रघु को कालिदास के अतिरिक्त कौन दूसरा कवि समान स्तर पर इस प्रकार ला सकता है—

'जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च' ॥

(साकेत की जनता के लिए उन दोनों का आचरण स्तुत्य प्रतीत हुआ। राजा प्रार्थी को आवश्यक धन से अधिक देने पर तुला हुआ था और प्रार्थी गुरु-दक्षिणा से अधिक लेने के लिए उद्यत नहीं था।)

कालिदास ने दोनों महाकाव्यों में मानव-जीवन के उस उदार पक्ष को उपस्थित किया है, जो उसको एकान्तता की संकीर्ण सीमा से उठाकर अनन्त की ओर अग्रसर कर देता है। जिस किसी वस्तु को कवि ने अपनी आँखों से देखा, वह उसे उदार प्रतीत हुई और सर्वस्व त्याग करती हुई प्रतीत हुई—केवल अपने अस्तित्व की सफलता के लिए, जो लोक कल्याण के निमित्त अपरिग्रह में है, सृष्टि की स्वाभाविक निर्बाध गति के मौलिक साधन-तत्व को कवि ने पहचाना था और अपने दर्शन को काव्य-रूप में अमर प्रतिष्ठा देने में सफल हुआ।

कालिदास की रचनाएँ संस्कृत-सम्पन्न रसिकों के माध्यम से समग्र मानवता उपयोग के लिए थीं। महाकाव्य, नाटक, गीतिकाव्य—इन सभी कोटियों की

रचनाओं की भाषा, शैली और विचार-धारा को समझने के लिए एक विशिष्ट वर्ग के नागरिक ही अपेक्षित थे और उन्हीं को दृष्टिपथ में रखकर कालिदास ने अपनी कृतियों का वर्णन-स्तर नियमित किया था।

भावसामंजस्य

महाकवि कालिदास की काव्यकला के सम्बन्ध में मैकडानल का कथन है--'कालिदास के भाव-सामंजस्य में कहीं भी विरोधी भावनाएं न आ पाईं। उनके प्रत्येक आवेग में कोमलता है। उनके प्रेम का आवेश कभी भी सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता। वे प्रेम को सदा ही संयत, ईर्ष्यारहित एवं घृणाविमुक्त रूप में चित्रित करते हैं। कालिदास की कविता में भारतीय प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप समाविष्ट है। उनके काव्य में ऐसा सामंजस्य है, जो अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।[1]

प्रकृति-वर्णन

कालिदास का प्रकृति-वर्णन अनुपम है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्मतम प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने में सफलता मिली है। उनके प्राकृतिक चित्रण अत्यन्त सजीव और मनोहर हैं। सूक्ष्म, सुन्दर और संश्लिष्ट वर्णनों में मनुष्य तथा प्रकृति-दोनों का मंजुल मिलन है। प्रकृति-वर्णन में उनका प्रकृष्ट प्रकृतिप्रेम, सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति तथा सरलता और कल्पना की कमनीयता पाई जाती है। कालिदास प्रकृति के भव्य और मनोरम पक्ष का ही वर्णन करते हैं। उन्होंने भयंकर की ओर अपनी दृष्टि नहीं डाली। उदाहरण के लिए गंगा और यमुना के संगम का वर्णन लीजिये। इसमें मधुर और कोमल का मंजुल सामरस्य है।

'क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपंकजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः॥
अन्यत्रकालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित्प्रभाचान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीना शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशाः॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्यांगि विभाति गंगा भिन्नप्रवाहा यमुनातरंगैः॥'

रघुवंश १३.५४-५७

1. A History of Sanskrit Literature p. 353

("हे निर्दोष अंगों वाली सीते ! गंगा और यमुना के संगम को देखो ! यमुना की तरङ्गों से मिलता हुआ गंगा का प्रवाह कितना सुन्दर प्रतीत होता है ! कहीं तो ऐसा ज्ञात होता है कि मोतियों की लड़ी में चमकीले नीलम पिरो दिये गये हों, तो कहीं श्वेत कमलों की माला में नील कमल बीच-बीच में गुथें हों। कहीं नील हंसों की श्रेणी में आ मिलने वाली मानस-प्रेमी उज्ज्वल हंसों की पंक्ति के समान, कहीं कालागुरु की चित्र-रेखाओं से सुशोभित भूतल की चन्दन-चर्चित चित्रकारी के समान, कहीं वृक्षों की छाया में अन्धकार से मिलने वाली धवल चन्द्रिका के समान, कहीं शरत्कालीन शुभ्र मेघ-खण्डों के अन्तराल से देख पड़ने वाले नील नभःप्रदेश के समान और कहीं काले सर्पों से अलंकृत तथा भस्मांगराग से मंडित शंकर के शरीर के समान गङ्गा-यमुना के संगम का यह मनोरम दृश्य शोभित हो रहा है।")

प्रकृति की प्रेममयी लीलाओं का निदर्शन करते हुए कालिदास ने उसे प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है। मेघदूत का यक्ष अपनी प्रियतमा के अंगों की समता प्रकृति में पाता है। नदी की लोल लहरियों में भौंहों की छवि और प्रियंगु-लता में अंगों का विन्यास है। प्रकृति का प्रेम-व्यवहार देखें--

अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥
कुमार ८.६३

('चन्द्रमा अपनी किरण-रूपी सुकुमार अंगुलियों से रजनी के अन्धकार रूपी बिखरे केशपाश को धीरे से समेटकर उसके अर्ध-मुद्रित कमल-रूपी नेत्रों वाले मुख-मण्डल का चुम्बन कर रहा है।')

कालिदास ने प्राकृतिक सौन्दर्य को मानवीय सौन्दर्य का मापदण्ड मान कर उसे अनतिशायी चित्रित किया है :—

'आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासोवसाना तरुणार्करागम्।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव। कु० ३.५४

(अरुणोदय के समय बालसूर्य के समान रक्त वर्ण के वस्त्रों को धारण की हुई तथा स्तनों के भार से झुकी हुई पार्वती पूजा करने के लिए जाते समय ऐसी प्रतीत होती हैं मानो फूलों के गुच्छों से झुकी हुई लाल लाल नये पल्लवों को धारण करने वाली कोई लता चली आ रही हो।)

कालिदास ने प्रकृति को मूक, चेतनाहीन अथवा निष्प्राण नहीं माना है। मानव-प्राणियों की भाँति उसमें भी सुख-दुःख, मिलन-विरह आदि संवेदनाओं के भाव हैं। यक्ष के विरह में वन-देवता आँसू बहाती हैं। राम को पल्लवों ने सूचित किया कि सीता किधर गईं। तपोवन के वृक्ष कोकिल के शब्द द्वारा शकुन्तला के प्रस्थान में अपनी अनुमति प्रदान करते हैं। कालिदास का विश्वास है कि प्रकृति भावी मंगल और अमंगल की सूचना देती है—

'मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां।
वामश्चायं नदति मधुरश्चातकस्ते सगन्धः॥'

कालिदास के प्रकृति-चित्रण में वैज्ञानिक तथ्यों की अधिकता है। पर्वत के झरनों पर जब दिन के समय सूर्य की किरणें पड़ती हैं, तब उनमें इन्द्रधनुष दिखाई देने लगता है, परन्तु सन्ध्या के समय नहीं, क्योंकि सूर्य पश्चिम में रहता है। यदि सूर्य पश्चिम में है तो इन्द्र धनुष पूर्व में और यदि सूर्य पूर्व में तो इन्द्र-धनुष पश्चिम में बनेगा—यही वैज्ञानिक तथ्य है। इस वैज्ञानिक तथ्य का वर्णन देखिए—

'सीकर-व्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्र-चाप-परिवेष-शून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी।' कु० ८.३१

सूर्य की किरणें पड़ने के कारण जलाशय स्वर्ण-सेतु से बद्ध दिखाई देता है—

'पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
दीर्घया प्रतिमया सरोऽम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम्
कुमार ८.३४

कवि ने अभिज्ञानशाकुन्तल में सर्वत्र मनुष्य का प्रकृति के साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है। अन्तः और बाह्य प्रकृति के चिरन्तन सूक्ष्म तत्त्वों का उद्घाटन कवि की तूलिका से हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य में शेक्सपियर की आश्चर्योत्पादक सूझ स्वीकार की गई है, पर वह भी मुख्यतः मानव-हृदय का कवि है। कालिदास के सम्बन्ध में न यही कहा जा सकता है कि वे मुख्यतः मानव हृदय के कवि हैं और न यही कहा जा सकता है कि वे मुख्यतः प्राकृतिक सौन्दर्य के कवि हैं। ये दोनों गुण

उनमें रासायनिक ढङ्ग से मिले हुए हैं। यह कला 'मेघदूत' में सुन्दरता-पूर्वक प्रतिफलित है। 'पूर्वमेघ' में बाह्य प्रकृति का वर्णन है, फिर भी उसमें मानवीय भावनाएँ ओत-प्रोत हैं। 'उत्तरमेघ' मानव हृदय का चित्र है, फिर भी उस चित्र में प्राकृतिक सौन्दर्य का आवरण है। यह इतनी सफलतापूर्वक किया गया है कि यह कहना कठिन है कि इन दोनों में कौन भाग श्रेष्ठतर है। कालिदास की तूलिका से निःसृत चित्र ऊपर हैं। उन्होंने प्राकृतिक उपादानों का इतना सरस और सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है कि वे सामने नाचने लगते हैं।

प्रकृति के अन्तराल में प्रवेश कर कवि अपनी सूक्ष्मदर्शन-शक्ति से नये-नये चित्र लाकर सजाता है। उनमें माधुर्य और रमणीयता है। जीवित प्रकृति के रूपों का कवि ने सूक्ष्म निरीक्षण किया है, यद्यपि उनका निरीक्षण कवि का था, वैज्ञानिक का नहीं। वन से परिचित हृदय को ही यह प्रतीति होती है कि वृक्षों और पशुओं का भी सजीव और चेतन व्यक्तित्व है। नागरिक परिवेशों में लौटने पर वह अनुभूति खंडित हो जाती है, तथापि एक रहस्यानुभव की झाँकी के रूप में, या एक श्रेष्ठतर सत्य की सहजानुभूति के रूप में उसकी स्मृति बनी रहती है। कालिदास का प्रकृति-ज्ञान केवल सहानुभूति मूलक ही नहीं है, अपितु वह सूक्ष्मतया सटीक है। हिमालय की हिमराशि तथा पवन-संगीत और पवित्र गंगा की शक्तिशालिनी धारा ही केवल उनके अधिकार की वस्तुएँ नहीं हैं, छोटी-छोटी सरितायें, विटप तथा छोटे-से-छोटा कुञ्ज भी उनकी सृष्टिव्यापिनी दृष्टि से बाहर नहीं जा सकते हैं।[1]

सौन्दर्य-प्रेम

कालिदास सौन्दर्योपासक कवि थे। वे सौन्दर्य की कोमल भावनाओं के सच्चे पारखी थे। कालिदास की दृष्टि में सौन्दर्य को बाह्य-साधनों की अपेक्षा नहीं है। वास्तविक सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में मनोरम और रमणीय होता है। उन्होंने कहा है—

"अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्।"

मानवीय लावण्य प्रकृति के सौन्दर्य का अंग है। शकुन्तला कोमल लता के समान लावण्यमयी है—

---

1. Kalidasa. Vol. II पृ० १५८

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥

शकुन्तला का अधर कोमल किसलय के समान रक्तवर्ण है । उसकी सुकुमार भुजाएं कोमललता की शाखाओं के समान हैं । उसके अंगों में यौवन खिले हुए पुष्प के समान आकर्षक है ।

पार्वती के अधर की मधुर मुसकान एक मात्र प्राकृतिक जगत् में ही मिलती है—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्
मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्याः
ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥ कु० १·४४

कालिदास के अनुसार आकृति की सुन्दरता और हृदय की वक्रता दोनों साथ-साथ नहीं रह सकती है—

" न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति "

तथा असाधारण सौन्दर्य की उत्पत्ति साधारण नहीं होती ।

'मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ शा०१.२४

कालिदास ने एकमात्र मानव-सौन्दर्य का ही वर्णन नहीं प्रस्तुत किया है अपितु, पशु-पक्षियों का सौन्दर्य भी चित्रित किया है। उनके अनुसार शरीर का सौन्दर्य स्त्रियों के लिए सफलता का सर्वोच्च सोपान नहीं है । पार्वती ने मन ही मन अपने रूप की निन्दा की और अपने रूप को सफल बनाने की इच्छा से तप का सहारा लिया । कालिदास ने सौन्दर्य की परिणति प्रिय के प्रेम में मानी है । "प्रियेषु सौभाग्य-फला हि चारुता ।" कालिदास के काव्य केवल बाह्य सौन्दर्य—दर्शन, में समाप्त नहीं हुए आभ्यन्तर सौन्दर्य में उनकी इतिश्री हुई । बाह्य सौन्दर्य से पार्वती शिव को प्राप्त करने में असफल रहीं । जब तप ने बाह्य सौन्दर्य के सारे आवरण को हटा दिया, तब मिलन हुआ और वह कल्याणकारी हुआ ।

कालिदास प्रेम का मूलभूत कारण पूर्वजन्म के संस्कार को मानते हैं —

'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।। शा० ५.२

रघुवंश के 'मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्' वाक्य में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। प्रेम की इतिश्री इसी जन्म में नहीं हो जाती, अपितु अगले जन्मों में भी उसकी छाया प्रतिबिम्बित होती है। सीता कहती हैं—

"भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः"।

सौंदर्य पर आधारित क्षणिक प्रेम कष्टदायक होता है। प्रेम सोच-विचार कर करना चाहिए—

"अन्तत: परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्।।" शा० ५.२४

प्रेम जब आध्यात्मिक रूप में परिनिष्ठित हो जाता है, तब वह दिव्य और अमर बन जाता है—यही भारतीय संस्कृति का आदर्श प्रेम है। इसी आदर्श की स्थापना कालिदास ने की है। सच्चा प्रेम धर्म पर आधारित है और वही श्रेष्ठतम आनन्द के उपभोग में पर्यवसित होता है। कालिदास ने अमर्यादित प्रेम का कहीं भी समर्थन नहीं किया है। कालिदास की प्रेमादर्श-भक्त नारियाँ-पार्वती, रुक्मिणी, सीता आदि हैं। रवीन्द्र के अनुसार 'पार्वती की दृष्टि में कोई अभाव या कोई दैन्यभाव शंकर में नहीं है। उन्होंने उन्हें भाव की दृष्टि से देखा था। उस दृष्टि में धन, रत्न, रूप और यौवन की कोई खोज नहीं थी। कठोर अपमान के अनन्तर भी शकुन्तला का प्रेम, मिलन-काल में दुष्यन्त के किसी अपराध के कारण मलिन न हुआ। उस समय दुखिनी के दोनों नेत्रों से आँसुओं की झड़ी बँध गई। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ पद-पद पर अपराध की गणना होती है। पार्वती के प्रेम ने जैसे अपनी ही सौंदर्य-सम्पत्ति से संन्यासी को सुंदर और ईश्वर की दृष्टि से देखा था, वैसे ही शकुन्तला के प्रेम ने भी अपनी मंगलमयी दृष्टि से दुष्यन्त के सारे अपराधों को भुलाकर देखा था। युवक-युवती के मोह-मुग्ध प्रेम में ऐसी क्षमा कहाँ है ?[१] अतः महाकवि कालिदास के अनुसार सौंदर्य यदि धर्मानुप्राणित है और प्रेम संयत तथा शान्त है तो श्रेष्ठ है, दिव्य है, अमर है। बन्धन में ही यथार्थ शोभा है और उच्छृंखलता में सौंदर्य की विकृति।

१. प्राचीन साहित्य, २६.

साम्प्रदायिक आलोचना

कालिदास के विषय में किसी समीक्षक की यह उक्ति सार्थक है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे
कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद्
अनामिका सार्थवती बभूव ॥

अर्थात् प्राचीन काल के कवियों की गणना करने का प्रसंग आने पर कालिदास का नाम सर्वप्रथम कनिष्ठिका-अंगुली पर रखा गया। किन्तु कालिदास की बराबरी करने वाले अन्य किसी कवि के न होने के कारण दूसरी अंगुली पर किसी का नाम पड़ा ही नहीं। इसी कारण उस अंगुली का नाम अनामिका पड़ा। आज भी कालिदास के समकक्ष कोई और कवि न होने के कारण उस अंगुली का 'अनामिका' नाम सर्वथा सार्थक हो गया। इसमें आलोचक महाकवि कालिदास को सर्वथा श्रेष्ठ स्थान प्रदान करता है। उसके समान दूसरा कोई कवि नहीं है।

बाणभट्ट कालिदास के काव्य-पाठकों से प्रदन करते हुए प्रतीत होते हैं। बाणभट्ट ने कालिदास के सरस-मधुर सूक्तियों को आम्रमञ्जरी के समान बताया है। ऐसा कौन है जो उनकी सरस सूक्तियों को सुनकर आनन्द विभोर नहीं होता!

'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु ।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते' ॥

आलङ्कारिक आनन्दवर्धनाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' के प्रथम उद्योत में कालिदास के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

"अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते"।

अर्थात् 'इस संसार में अनेक कवि हुए, फिर भी उनमें से कालिदास के समान दो, तीन या अधिक-से-अधिक पाँच, छः कवियों को ही 'महाकवि' की उपाधि दी जा सकती है। आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार कालिदास महाकवि हैं।

'भरतचरित' नामक काव्य के रचयिता श्रीकृष्ण कवि ने उसके आरम्भ में कालिदास के भाषा सौष्ठव, और प्राञ्जलता की इस प्रकार स्तुति की है—

> अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा
> हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
> प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या
> न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

'कमलिनी की भाँति अस्पष्ट दोष वाली (रात में विकास न पाने वाली, दूसरे पक्ष में दोषों से रहित), मुक्ताहार की भाँति गुण-समूहों से गूँथी हुई (अनेक सूत्रों वाली, गुण-समुदाय से परिपूर्ण), प्रिया की गोद की तरह विमर्द से (संवाहन से, परीक्षण से) आह्लादकारक भाषा कालिदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि की नहीं है।' इसमें कालिदास की वाणी की प्रशंसा की गई है, जो सर्वथा दोषों से रहित, गुण-सहित, आह्लादकारक और सरस है। इसी प्रकार प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने तो कालिदास के सम्बन्ध में यहाँ तक कह डाला कि कालिदास की वाणी को केवल तीन ही जान सकते हैं। प्रथम सरस्वती, द्वितीय ब्रह्मा और तृतीय स्वयमेव कालिदास।

> कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती।
> चतुर्मुखोऽथवा ब्रह्मा विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥

पीयूषवर्ष की उपाधि से विभूषित जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' नामक नाटक में कालिदास को 'कविकुल-गुरु' की उपाधि से विभूषित किया है—

> 'भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः'

गोवर्धनाचार्य कालिदास की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

> 'साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये ।
> शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीला कालिदासोक्तिः ॥'

'कालिदास की सूक्तियाँ साभिप्राय, मधुर तथा कोमल प्रेमनिमग्ना विलासिनी के कण्ठ स्वर की भाँति हैं, जो शिक्षा प्रदान करते समय भी आनन्द विभोर कर देती हैं।'

सोड्ढल ने कवि की कीर्ति को समुद्र के उस पार पहुँची हुई बताया है—

'ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः
शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्र-
सिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः ॥

'धन्य हैं वे महाकवि कालिदास, जिनकी कीर्ति उनकी कविता के समान ही निर्दोष, पीयूष तुल्य, एवं नितान्त स्वादुसंयुक्त है। जिस प्रकार उनकी वाणी सूर्यवंश (रघुवंश) का पूरा वर्णन कर सकी, वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र को पार कर गई है।' इसमें कालिदास के महाकाव्य 'रघुवंश' और उनकी कीर्ति की प्रशंसा की गई है।

राजशेखर ने उनके सरस-संयत शृंगार का निरूपण किया है—

'एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ॥

'सदुक्तिकर्णामृत' में कहा गया है कि ऐसा कौन है, जो कालिदास के काव्यों में आनन्द नहीं प्राप्त करता!

"क इह रघुकारे न रमते"

'मेघदूत' की प्रशंसा करते हुए एक आलोचक कहता है कि 'माघे मेघे गतं वयः'। अभिज्ञानशाकुन्तल के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्को यत्र याति शकुन्तला"

अभिज्ञानशाकुन्तल कालिदास का सब कुछ है—

"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तला"

जर्मन महाकवि गेटे ने अभिज्ञान-शाकुन्तल का अनुवाद पढ़कर आनन्द विभोर होकर इस प्रकार कहा है—

Wouldst thou the young year's blossoms
and the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
enraptured, feasted, fed ?

Wouldst thou the earth and heaven itself
in one sole name combine?
I name thee, O Shakuntala
and all at once is said.

इसका संस्कृत रूपान्तर म० म० वासुदेव मिराशी द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है--

"वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम्॥"

'यदि यौवन-वसन्त का पुष्प-सौरभ और प्रौढ़त्व, ग्रीष्म का मधुर फल-परिपाक एकत्र देखना चाहते हो, अथवा अन्तःकरण को अमृत के समान संतृप्त एवं मुग्ध करने वाली वस्तु का अवलोकन करना चाहते हो, अथवा स्वर्गीय सुषमा एवं पार्थिव ऐश्वर्य इन दोनों के अभूतपूर्व सम्मिलन की अपूर्व झाँकी प्राप्त करना चाहते हो, तो अभिज्ञान शाकुन्तल का अनुशीलन करो।'

'अमोघराघव' के रचयिता दिवाकर का यह कथन अक्षरशः सत्य है—

"रम्या श्लेषवती प्रसादमधुरा शृङ्गारसंगोज्ज्वलं
चाटूक्तैरखिलप्रियैरहरहस्सम्मोहयन्ती मनः।
लीलान्यस्तपदप्रचाररचना सद्वर्णसंशोभिता
भाति श्रीमति कालिदासकविता कान्तेव कान्ते रता"

मैकडानल ने शकुन्तला के चतुर्थ अंक की प्रशंसा की है--

'This is the act which contains the most obvious beauties, for here the poet displays to the full the richness of his fancy, his abundant sympathy with Nature, and a profound knowledge of the human heart'[1]

मानियर विलियम ने शकुन्तला की प्रशस्ति की है—

"No Composition of Kalidasa displays more

1. History of Skt. literature, page 356.

richness of his poetical genius, the exuberance of his imagination, the warmth and the play of his fancy; his profound knowledge of the human heart, his delicate appreciation of its most refined and tender emotions, his familiarity with the workings and counter-workings of its conflicting feelings—in short, more entitles him to rank as the Shakespeare of India."

अरविन्द ने कालिदास के काव्य की आन्तरिक चारुता का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है—

"His writings show indeed a keen appreciation of high ideal and lofty thought but the appreciation is aesthetic in its nature. He elaborates and seeks to bring out the effectiveness of these on the imaginative sense of the noble and grandios applying to the things of the mind and soul the same sensuous standard as to the things of sense themselves. Kalidasa is the great poet of the sense, of aesthetic beauty, of sensuous emotion. He is, besides, a consummate artist, profound in conception, suave in execution, a master of sound and language who has moulded for himself out of the infinite possibilities of the Sanskrit tongue, a verse and diction which are absolutely the grandest, most puissant and most full-voiced of any human speech, a language of gods".

उपर्युक्त आलोचनाओं से प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदास के काव्य चमत्कार से जीवन के विविध क्षेत्रों के मनस्वी प्राचीन काल से लेकर आज तक प्रेरणा प्राप्त करते आये हैं।

अष्टम अध्याय

भारवि

कवि-परिचय

भारवि के काल का निश्चय हर्षवर्धन के समकालीन दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय के एहोले के एक शिलालेख से होता है। इस शिलालेख का समय ६३४ ई० है। इसमें भारवि के नाम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

'येनायोजि नवेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥

यह शिलालेख एक जैनमन्दिर के निर्माण का तथा पुलकेशी द्वितीय के गौरव-गाथा का वर्णन करता है। इसके लेखक रविकीर्ति ने इस प्रशस्ति के अन्त में अपने को कालिदास और भारवि के मार्ग पर चलने वाला कवि कहा है। इस शिलालेख के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि भारवि ६३४ ई० तक पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके थे। इसके पश्चात् पाणिनीय व्याकरण की काशिका वृत्ति में, जिसका काल लगभग ६५० ई० है, भारवि के वचन उद्धृत हैं। साथ ही भारवि कालिदास के द्वारा प्रभावित हैं और उनका स्पष्ट प्रभाव माघ कवि पर पड़ा। अतः भारवि का काल कालिदास और माघ के मध्यवर्ती है।

बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में पूर्ववर्ती सभी प्रमुख महाकवियों का उल्लेख किया है, पर उसने भारवि का नाम नहीं लिया। सम्भव है कि बाणभट्ट के कानों तक भारवि की विशेष ख्याति नहीं पहुंची थी। ६३४ ई० के शिला लेख से भारवि अवश्य ही बाण के पूर्ववर्ती प्रमाणित होते हैं। बाण के द्वारा उनका उल्लेख न किया जाना प्रमाणित करता है कि ६०० ई० तक भारवि उतने प्रसिद्ध नहीं हुए कि बाण के लिए इनका उल्लेख आवश्यक हो।

अतः बाणभट्ट के काल से ५० वर्ष पहले लगभग ५५० ई० में भारवि का काल प्रतीत होता है।

एक परम्परा के अनुसार भारवि को पुलकेशी द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन का सभापण्डित माना गया है। ऐसा मानने पर ६३४ ई० में उनके सादर उल्लेख

की संगति नहीं बैठती। अतः इस परम्परा का आधार युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। कीथ ने भारवि का समय ५५० ई० के लगभग ही माना है।

भारवि संभवतः दक्षिण भारत के निवासी थे। राजशेखर के अनुसार कालिदासादि की भाँति उज्जयिनी में भारवि की भी परीक्षा हुई थी।

श्रूयते चोज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—

इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥

भारवि एक दूसरी उपाधि से भी विभूषित हैं। वह उपाधि 'आतपत्रभारवि' है। इस उपाधि से विभूषित होने का प्रमुख कारण कवि का निम्नांकित श्लोक है, जिसे आलोचकों ने अनोखा मान कर 'आतपत्रभारवि' की संज्ञा दी।

'उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मा—
दुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्ता—
दाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम्॥ किरात. ५.३९

'स्थल-कमलों से वनप्रदेश भरा हुआ है, उनसे भी पराग झर रहे हैं। वायु झोंके से बह रही है। वह पराग को उड़ाकर आकाश में फैला रही है। इस पर कमल का पराग स्वर्णमय छत्र की शोभा धारण कर रहा है।

पराग की स्वर्णमय छत्र से उपमिति विशेष रमणीय है।

किरातार्जुनीय

भारवि की एक मात्र रचना किरातार्जुनीय मिलती है, जो संस्कृत के महाकाव्यों में अद्वितीय है। यह तत्कालीन महाकाव्य की शास्त्रीय परिभाषा की कसौटी पर अधिक-से अधिक खरी उतरती है।

कथा-वस्तु

युधिष्ठिर ने एक दूत दुर्योधन की राजनीति का परिचय प्राप्त करने के लिए नियुक्त किया था। उसने दुर्योधन की राजनीति की सफलता का वर्णन युधिष्ठिर के सामने किया। युधिष्ठिर ने उस वृत्त को द्रौपदी सहित अपने भाइयों को सुनाया।

तो शत्रु के उत्कर्ष से सबसे पहले द्रौपदी का रोष जाग उठा। उसने युधिष्ठिर की दुर्बल और समय गँवाने वाली नीति की कटु भर्त्सना की। द्रौपदी की बातें भीम को स्वभावत: अच्छी लगीं। उन्होंने द्रौपदी का समर्थन करते हुए अपनी वीरता का परिचय दिया और क्षात्र-धर्म की युद्धपरता का स्मरण कराया। युधिष्ठिर ने उन दोनों को शान्त करते हुए कहा--सहसा विदधीत न क्रियाम्। उसी समय व्यास ने आकर अर्जुन को तपस्या करने का आदेश दिया। अर्जुन हिमालय पर इन्द्रकील नामक तपोभूमि पर पहुँच कर तप करने लगा।

इन्द्रकील वन के रक्षकों ने इन्द्र से अर्जुन की तपस्या का वर्णन किया। इन्द्र तो तपस्या में विघ्न डालने में निपुण थे ही। उन्होंने अप्सराओं को नियुक्त कर दिया। अप्सराओं के लाख चेष्टा करने पर भी अर्जुन तपस्या के पथ से च्युत नहीं हुआ। फिर तो स्वयं इन्द्र आये और अर्जुन को शिव की आराधना करने का आदेश दिया।

अर्जुन शिवाराधन के लिए तप करने लगा। अर्जुन की तपस्या से सन्तप्त होकर सिद्ध तापस शिव के पास पहुँचे। शिव को स्वयं ही अर्जुन की परीक्षा करने का बहाना मिला। उन्होंने देखा कि मूक नामक दानव वराह का रूप धारण करके अर्जुन को परास्त करने जा रहा है। बस, अर्जुन की सहायता करने के लिए वे स्वयं किरात-वेश धारण करके मृगया के बहाने अपनी गणसेना के साथ अर्जुन के आश्रम के निकट आ पहुँचे।

उस वराह को अर्जुन और किरात दोनों के बाण साथ ही लगे। वराह तो मर ही गया, पर झगड़े की जड़ बन कर रहा। जब अर्जुन उसके शरीर से अपना बाण निकाल रहा था तो किरात का एक दूत अर्जुन से उद्धत बातें करने लगा। अर्जुन का उत्तर सुन कर तो किरात लड़ने ही के लिए उद्यत हो गया। अर्जुन ने किरात की सेना को युद्ध में परास्त किया। फिर किरात से लड़ते समय अर्जुन ने प्रतीत किया कि यह किरात तो नहीं ही है। अर्जुन से किरात का बाहुयुद्ध होने लगा। अर्जुन की वीरता से किरात ने प्रसन्न होकर अपना शिवरूप प्रकट किया। भगवान् शिव ने उसे वरदान दिये। उपर्युक्त कथा महाभारत के वन-पर्व से ली गई है।

इस कथानुबन्ध में वर्णनों का संग्रन्थन अतीव कौशल से किया गया है। प्रमुख वर्णन के विषय हैं--

राजनीतिनैपुण्य, मुनि-सत्कार, व्यास-मुनि, शरद्, हिमालय, पर्वतारोहण, तपस्या, अप्सरा, शिविर-सन्निवेश, गन्धर्व और अप्सराओं का पुष्पावचय, जलक्रीडा,

सायंकाल, चन्द्रोदय, वाराङ्गना-विलास, पानगोष्ठी, प्रभात, अप्सराओं का अर्जुन के पास जाना, अर्जुन, वर्षादि ऋतु-वर्णन, अप्सराओं की चेष्टायें, अर्जुन की तपस्या, शर-सन्धान, युद्ध आदि।

भारवि का व्यक्तित्व

भारवि ने अपने एकमात्र काव्य में अपने विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। फिर भी उनकी कृति में उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप मिलती है। यह तो निर्विवाद है कि भारवि उन अनेक विषयों के महान् पण्डित थे, जिनका ज्ञान किरातार्जुनीय जैसा महाकाव्य लिखने के लिए अपेक्षित है। भारवि की दूरदर्शिता विशेष उल्लेखनीय है। उनकी सूक्तियाँ प्रायः अतिशय प्रयास करके भी सुपरिणाम प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती हैं। उनकी दृष्टि में अविनयी लोगों की सम्पत्ति का अन्त विपत्ति में होता है। कवि का विश्वास है कि बुरे लोगों की संगति पराजय का कारण होती है और उससे विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। वे मानवता को रम्य गुणों की ओर प्रवृत्त करना चाहते थे।

भारवि स्वभावतः लोकव्यवहार के महान् उपदेशक थे। उनके लिए सभी बाह्याडम्बर उपेक्षणीय थे। भारवि ने स्पष्ट कहा—

सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम्।११.११

कवि वास्तव में चारित्रिक सम्पत्ति को सबसे बड़ी विभूति समझता था। वह कह सकता था—

शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः।
विप्रलम्भोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमैः ॥११.२७

(अभीष्ट पुरुष के मिलने पर शून्य स्थान भरा-भरा सा बन जाता है, विपत्ति भी उत्सव के तुल्य हो जाती है। उनसे विवाद भी लाभ के लिए होता है।)

भारवि की काव्य-कला

कालिदास के पश्चात् संस्कृत महाकाव्य के रचयिताओं में प्रथम नाम किरातार्जुनीय के लेखक महाकवि भारवि का है। जहाँ तक काव्य-कला का सम्बन्ध है, भारवि का स्थान अत्यन्त उच्च है। किन्तु काव्य के माध्यम से समाज को सुसंस्कृत बनाने का काम वाल्मीकि और कालिदास के समान अन्य कोई कवि न कर सका। कालिदास के

पश्चात् जो महाकवि संस्कृत साहित्य में हुए, उनकी रचनाओं में सांस्कृतिक सौरभ की प्रचुरता प्रायः नहीं दृष्टिगोचर होती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कालिदास के पश्चात् काव्य-शैली में कृत्रिमता और वैचित्र्य पूर्ण बन्धों का युग आरम्भ हुआ और इस युग में काव्यात्मक कल्पना की अतिव्याप्ति का प्रदर्शन करने के लिए प्रायः प्रकृति की उच्चतम विभूतियों के स्थूल पक्ष का आकलन किया गया।

भारवि की काव्य-कला का स्पष्ट प्रमाण उनके उन नये प्रकरणों से मिलता है, जिनका संयोजन उन्होंने महाभारत की मूल कथा में किया है। महाभारत में व्यास को महत्त्व देकर उनके माध्यम से अर्जुन को विद्यायें प्रदान की गई हैं, पर किरातार्जुनीय में अर्जुन को स्वयं व्यास आदेश देते हैं। नायक की प्रतिष्ठा को द्विगुणित करते हुए किरातार्जुनीय में अपने पराक्रमों से अर्जुन के द्वारा शिव को चमत्कृत कर देने का उल्लेख है। शिव जब अपने को बचाने के लिए उछलते हैं तो अर्जुन उनकी टाँग पकड़ कर भूतल पर ला देता है। महाभारत के अनुसार शिव अर्जुन को इतना श्रान्त कर देते हैं कि वह मूर्छित होने लगता है, तभी शिव प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार अर्जुन के चरित को उदार बनाकर उसके नायकत्व को प्रतिष्ठित करना कवि की कला के द्वारा ही हो सकता है।

भारवि की शैली

भारवि की शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं प्रभावशीलता और प्राञ्जलता।[1] पाठक के मानस-पटल पर अपने वक्तव्य की गहरी और स्पष्ट छाप छोड़ने में भारवि के श्लोक अनुपम हैं। दुर्योधन की सुनीति के कारण-कार्य-सम्बन्ध का विवेचन करते हुए भारवि ने कहा है—

> तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।
> समुन्नयन्भूतिमनार्यसंगमाद्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः। १.८

(तब भी वह कुटिल दुर्योधन आपको जीतने की इच्छा से अपने गुणों की सम्पत्तियों के द्वारा यश का विस्तार कर रहा है। दुर्जनों की मैत्री से अच्छा है महात्माओं के साथ वैर, क्योंकि वह वैर वैभव का कारण होता है।)

युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए द्रौपदी से भारवि ने कहलाया है—

---

१. व्याख्यान-शैली के इन्हीं गुणों का उल्लेख भारवि ने किरातार्जुनीय में इन शब्दों में किया है—उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः॥

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥ १.४२

(हे नृप, शान्ति को छोड़कर शत्रुओं का वध करने के लिए उच्चकोटि की तेजस्विता को अपनायें, प्रसन्न हों। शान्ति-पथ से तो निःस्पृह मुनि सिद्धि प्राप्त करते हैं। राजा शत्रुओं को जीतकर सफल होते हैं।)

भारवि की उच्चकोटि की कल्पनाओं का अनुमान नीचे लिखे श्लोक से किया जा सकता है—

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः ।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा ॥

(हिमालय पर्वत एक ओर सूर्य-मंडल से प्रकाशित है। दूसरी ओर रात्रि का घोर अन्धकार छाया हुआ है। इस प्रकार हिमालय उस परिस्थिति में शिव का अनुकरण करता है, जब उनके पीछे गज-चर्म की कालिमा हो और सामने उनके हास्य से अन्धकार दूर हो गया हो।)

उपर्युक्त कल्पना किसी कवि और रसिक के लिए भले ही स्वाभाविक हो किन्तु है बड़ी ऊंची। इस प्रकार की कल्पनाओं से कवि का काव्य-जगत् भूतल से बहुत ऊंचा है।

किरातार्जुनीय की लोकोक्तियाँ भी विशेष चमत्कारमयी हैं। इन लोकोक्तियों में प्रायः व्यवहार-कुशलता और दूरदर्शिता का पुट है। उदाहरण के लिए देखिये—

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'। १.४

(लाभप्रद और साथ ही मनोरम वाणी दुर्लभ है।)

'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ॥१.३०

(वे मूढ़ लोग पराजित होते हैं, जो मायावी लोगों के साथ मायात्मक व्यवहार नहीं करते।)

'निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः' ॥ २.१५

(समृद्धिशालिता पराक्रम का आश्रय लेकर रहती है, विषाद के साथ नहीं।)

'न महानिच्छति भूतिमन्यतः' । २.१८

(महापुरुष दूसरों की सहायता से वैभव नहीं पाना चाहते।)

'प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया' । २.२१

(महापुरुषों का यह स्वभाव ही है कि वे दूसरों की उन्नति नहीं सह सकते)

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ २.३०

(सहसा काम न करे। अविवेक बड़ी विपत्तियों का कारण है। गुण की स्पृहा करने वाली सम्पत्तियाँ स्वयं ही विचारशील व्यक्ति का वरण कर लेती हैं।)

उपर्युक्त लोकोक्तियाँ किरातार्जुनीय रूपी महासागर में रत्न की भाँति बिखरी पड़ी हैं। महाकवि ने यदि इस प्रकार के समुन्नत विचारों की प्रतिष्ठा किसी एक नायक के सम्बन्ध में उसके कथानक के माध्यम से की होती तो इन रत्नों की वह माला बन जाती, जिसका एकायन-चमत्कार विशेष आकर्षण उत्पन्न करता।

भारवि की शैली अर्थान्तरन्यास के द्वारा समलंकृत है। अर्थान्तरन्यास के लिए (१) विशेष से सामान्य, (२) सामान्य से विशेष, (३) कारण से कार्य अथवा (४) कार्य से कारण का समर्थन साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा होना चाहिए। इन सभी प्रकारों के अर्थान्तरन्यास अलंकारों की विशेषताएं इस महाकाव्य में हैं। उदाहरण के लिए—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः ।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥ १.५

इस श्लोक में कार्य के द्वारा कारण का समर्थन किया गया है। इस प्रकार के अर्थान्तरन्यास की उक्तियों के समावेश से अभिनव अर्थों का आकस्मिक बोध अतिशय वांछनीय रहता है।

अपने वक्तव्यों की परिपुष्टि के लिए कवि ने प्रायः काव्यलिंग अलंकार का समावेश किया है। काव्यलिंग में वाक्यार्थ हेतु-रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। उदाहरण के लिए—

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ॥

इस श्लोक में 'जुए के द्वारा जीती हुई' इस विशेषण के द्वारा 'नीति से जीतना चाहता है' इस वाक्य का हेतु प्रस्तुत किया गया है।

अनुप्रासात्मक ध्वनियों के द्वारा शब्द-संगीत की सृष्टि करने के साथ ही अर्थ की स्वाभाविकता का निदर्शन कराने में कवि को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरण के लिए—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥ १९.१

इसमें म, न, ध की अनुप्रास-ध्वनि के द्वारा श्लोक के अर्थ की स्वाभाविकता स्पष्ट है।

भारवि ने उत्तम शैली का शास्त्रीय विवेचन किरातार्जुनीय में स्थान-स्थान पर किया है—

स्फुटता न पदैरपाकृता, न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥ २.२७

इसके अनुसार पदों के द्वारा अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति होनी चाहिए, अर्थ-गौरव होना चाहिए, नये-नये अर्थ की अभिव्यक्ति होनी चाहिए और वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध होना चाहिए।

अच्छी शैली का विश्लेषण भारवि ने अन्यत्र इस प्रकार किया है—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः
प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां
प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥ १४.३

इसके अनुसार अच्छी वाणी प्रसाद गुणसम्पन्न और गम्भीर पदों से युक्त होती है। इसमें वर्ण-विन्यास संयुक्ताक्षर की क्लिष्टता से रहित होता है, ऐसी वाणी सुनने में मधुर होती है और शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्न कर देती है।

प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने भारवि की शैली का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

अर्थात् भारवि की वाणी नारियल के फल के समान है। उसे फोड़ने के लिए मल्लिनाथ की टीका की आवश्यकता है। मल्लिनाथ की इस आलोचना से स्पष्ट है कि भारवि की सरस वाक्यावली का आनन्द प्राप्त करने के लिए असाधारण बोध-शक्ति की अपेक्षा है।

कृष्ण कवि ने भारवि की शैली की प्रशस्ति में लिखा है—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या ॥

उपर्युक्त उक्ति से प्रमाणित होता है कि परवर्ति-युगीन कवियों के लिए भारवि की शैली आदर्श-रूप में प्रतिष्ठित हुई।

भारवि का पाण्डित्य-प्रदर्शन

युग की प्रवृत्तियों के अनुरूप भारवि ने किरातार्जुनीय में स्थान-स्थान पर अपने अनुपम पाण्डित्य का जो प्रदर्शन किया है, उसका उस युग में बहुमान था, यद्यपि आधुनिक युग में आलोचक उन प्रवृत्तियों को भारवि का दोष मानते हैं। वास्तव में कवि की शैली में समकालीन समाज की रुचि का विशेष ध्यान रहता है और यही कारण है कि उसकी शैली की कुछ विशेषताएं परवर्ती युग में परिवर्तित रुचि के लोगों को खटकती हैं। भारवि का चरम पाण्डित्य उनके व्याकरण-प्रमाणित किन्तु कठिन और अल्पप्रयुक्त क्रिया-रूपों और शब्दों का प्रयोग करने में दिखलाई पड़ता है। कर्मवाच्य और लिट् लकार के क्रियापद भारवि की रचना में प्रायः मिलते हैं, जो अन्यत्र कहीं-कहीं ही मिलेंगे। किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग में अनेक बन्धों के चित्र-विचित्र श्लोक हैं, जिनमें से कुछ के पहले, तीसरे तथा दूसरे, चौथे पाद समान हैं तो कुछ के सभी पाद समान हैं। इसी प्रकार कुछ श्लोक दाहिने और बायें से समान रूप से पढ़े जा सकते हैं। अर्थ वैचित्र्य के कारण भी भारवि के कुछ श्लोक विशेष उल्लेखनीय हैं। एक श्लोक के दो-तीन अर्थ निकलते हैं। इस प्रदर्शन का चरमान्त उस श्लोक में है, जिनमें केवल एक ही व्यंजन 'न' का प्रयोग हुआ है।

यथा—

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ किरात १५.१४.

(नीच मनुष्य द्वारा घायल किया जानेवाला पुरुष, पुरुष नहीं है और न वह पुरुष कहलाने योग्य है, जो नीच मनुष्य को घायल करता है। यदि स्वामी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँची तो घायल पुरुष भी वास्तव में अक्षत है। बुरी तरह से घायल मनुष्य को मार डालनेवाला भी अपराधी नहीं है।)

उपर्युक्त श्लोक में पर्याप्त पाण्डित्य-प्रदर्शन है। इस प्रकार के चित्रात्मक और एक-व्यञ्जनवर्णनात्मक श्लोकों से काव्य में क्वचित् कठिनता आ गई है। अर्थ-गाम्भीर्य अवश्य है, परन्तु उसका ज्ञान सरलता से न होकर कठिनता से होता है। इस प्रकार के काव्य प्रयत्न-साध्य कोटि के हैं। यद्यपि भारवि की वाणी प्रकृति-मधुरा है किन्तु कहीं-कहीं अति क्लिष्ट भी है। आरम्भ के तीन सर्गों को 'पाषाणत्रय' के नाम से पुकारा जाता है। समग्र पन्द्रहवें सर्ग में पाण्डित्य का प्रदर्शन किया गया है, यथा—

स सासिः सासुसूः सासो
येयायेयाययाययः ।
ललौ लीलां ललोऽलोलः
शशीशशिशुशीः शशन् ॥ किरात १५.५.

छन्दोयोजना

भारवि ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है। प्रायः सभी छन्द मनोरम और रसानुकूल हैं। किरातार्जुनीय के पांचवें और अठारहवें सर्ग में १६ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हैं। इन्द्रवज्रा की उपजाति, वंशस्थ, वैतालीय, द्रुतविलम्बित, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, स्वागता, पुष्पिताग्रा आदि भारवि के प्रिय छन्द हैं। भारवि की श्लोक-छन्द की योजना भी रुचिकर रही है।

भारवि के सर्वोच्च प्रशंसक मल्लिनाथ ने प्राचीन आलोचना की सूक्ति-परम्परा के माध्यम से किरातार्जुनीय का सर्वाङ्गीण विश्लेषण एक ही श्लोक में इस प्रकार किया है—

नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजः,
तस्योत्कर्षकृते तु वर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः ।

शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः,
शैलाद्यापि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ॥

भारवि का अर्थ-गौरव

सनातन उक्ति है कि भारवि की रचनाओं में अर्थ-गौरव की विशेषता है—भारवेरर्थगौरवम् । इस प्रकरण में अर्थ-गौरव प्रस्तुत करने का अभिप्राय है पाठकों के मानस-पटल पर उन विचारों को अंकित कर देना, जिनसे वह साधारण मानव की तुच्छ प्रवृत्तियों से परे हो जाय और उसे स्वयं अपने व्यक्तित्व को उदात्त बनाने की प्रेरणा प्राप्त हो । कवि के इस अर्थ-गौरव की स्पष्ट प्रतीति उसके आदर्श पात्रों से सम्बद्ध उक्तियों में होती है । कवि के आदर्श पात्र हैं—युधिष्ठिर, व्यास, शिव और अर्जुन । इनसे सम्बद्ध उक्तियाँ प्रायः उदात्त हैं । युधिष्ठिर कहते हैं—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥२.३२

(शरीर का अलंकार शास्त्रों का ज्ञान है। शास्त्र-ज्ञान का अलंकार प्रशम (प्रशान्ति) है । प्रशम भी पराक्रम से अलंकृत होता है । पराक्रम को सुनीति के द्वारा प्राप्त हुई सफलता विभूषित करती है ।)

व्यास कहते हैं—

तथापि निघ्नं नृप तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः ।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ॥

(हे युधिष्ठिर, तुम्हारे गुणों की राशि से आवर्जित मेरा हृदय तुम्हारे अधीन है। निस्पृह होने पर भी मुमुक्षु लोगों का साधु-वृत्ति के पुरुषों के प्रति विशेष स्नेह हुआ करता है ।)

शिव की वृत्ति के विषय में कहा गया है—

तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्त्वतया ।
गुणसंहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारिकृतम् ॥१८.१४

(अर्जुन की तपस्या से शिव उतने प्रसन्न नहीं हुए, जितने उसकी विपुल सात्त्विकता से । गुण की राशि से भी बढ़कर उपकार करने वाला मनुष्य का सत्त्व ही है ।)

अर्जुन की धीरता का निदर्शन करते हुए भारवि ने कहा—

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहतः शैल इवार्णवाम्बुभिः।
जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः॥

(किरात की उद्धत बातों से अर्जुन पर वैसे ही प्रहार किया गया, जैसे सागर की लहरें पर्वत पर आघात करती हैं। फिर भी कुपित होने पर अर्जुन के चित्त में कोई विकार नहीं आया। महापुरुष का अन्तःकरण अनायास विकृत नहीं होता।)

भारवि ने अर्थ-गौरव की उत्कृष्टता के लिए उन शाश्वत सत्यों को अपनी सूक्तियों के माध्यम से संग्रथित किया है, जो मानव को जीवन-संग्राम में सदैव प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिए हैं।

अर्थ-गौरव की सिद्धि कवि ने छोटे-छोटे वाक्यों में भाव-गाम्भीर्य भर कर सफलतापूर्वक की है। कवि की सूक्तियों का इस दिशा में विशेष महत्त्व है।

सूक्तियाँ

भारवि को सूक्तियों से विशेष प्रेम था। उनके पूरे काव्य में सूक्तियाँ सागर में रत्नों की भाँति पड़ी हैं। नीतिविषयक सूक्तियों का बाहुल्य है।
यथा—

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'

(हितकर और मनोरम बात दुर्लभ होती है।)

'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः'

(महात्माओं से विरोध भी हो तो अच्छा ही है।)

'अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता'

(अहो ! बलवानों से विरोध करने का परिणाम अच्छा नहीं होता)

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा—
नसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥

(विचार-हीन बुद्धि वाले लोग विपत्ति में पड़ते हैं, जो मायावी लोगों के साथ मायावी नहीं बन जाते। शठ लोग ऐसे लोगों को आत्मीय बनाकर वैसे ही मार डालते हैं, जैसे कवच-रहित शरीर वाले को प्रखर बाण)

'ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः'

(गुण से भरी हुई बातें अपना लेनी चाहिए, उनका कहने वाला कोई भी क्यों नहो)

लंघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः'

(सारे संसार को तेज से तुच्छ बनाते हुए महापुरुष दूसरे से वृद्धि की कामना नहीं करते)

'प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया'

(यह महापुरुषों का स्वभाव ही है कि दूसरों की उन्नति नहीं सह पाते)

'विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः'

(अविनयी लोगों की सम्पत्तियों का अन्त विपत्ति में होता है)

'मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः'

(विषयों के प्रति आसक्ति मोह उत्पन्न करती है)

'प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः'

(युद्ध में विजयश्री उच्चतर शक्ति वालों की ही होती है)

'कमिवेशाते रमयितुं न गुणाः'

(गुण किसे प्रसन्न करने में समर्थ नहीं होते)

'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि'

(गुण प्रेम में रहते हैं, वस्तु में नहीं)

समीक्षा

किरातार्जुनीय अठारह सर्गों का लक्ष्मीपदाङ्क महाकाव्य है। इसके आरम्भ में 'श्री' है और प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग है। भारवि काव्य के भावात्मक पक्ष की ओर उतना आकर्षित नहीं हुए, जितना कलात्मक पक्ष की ओर। भारवि कलावादी कवि थे। यही कारण है कि उनके काव्य में कला की प्रधानता है। चित्रात्मक और एकाक्षरात्मक श्लोक हैं। उनमें बाह्य सौन्दर्य की कमी है परन्तु आभ्यन्तर में अर्थ-गौरव है। अर्थ-गौरव में भारवि को विशेष ख्याति मिली। कम शब्दों में विपुलतम अर्थ का सन्निवेश करना भारवि की तूलिका की सबसे बड़ी विशेषता है।

कलापक्ष की सारी विशेषताएँ भारवि के काव्य में पाई जाती हैं। इस दृष्टि से भारवि प्रथम कवि हैं। भारवि एक नई शैली के जन्मदाता हैं। भारवि के पूर्व काव्य में प्रायः विषय विशाल और जीवन की समग्र उत्थान-पतनात्मक दशाओं का वर्णन होता था। काव्य के प्रवाह में अनावश्यक वाग्विस्तार नहीं किया जाता था। प्राकृतिक वर्णन कथा के प्रवाह में साधक थे। विषय विस्तृत और भाषा नितान्त सरल रहती थी। इस शैली को आचार्य कुन्तक ने 'सुकुमारमार्ग' की शैली कहा है।[1] 'सुकुमारमार्ग' में सहज प्रतिभा का प्रस्फुरण, स्वाभाविक सौन्दर्य, आहार्य कौशल का अभाव, रसज्ञों के मन के अनुरूप सरलता, अलौकिक तथा अविचारित वैदग्ध्य, शब्द और अर्थ का सहज चमत्कार, अप्रयासागत अलंकार आदि का वैशिष्ट्य प्रधान गुण हैं। इस शैली में निष्णात कवि कालिदास हैं। भारवि ने एक ऐसी शैली अपनाई, जिसमें भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की प्रधानता है। भाषा और विषय दोनों में पर्याप्त अन्तर हो गया। 'सुकुमार मार्ग' की अपेक्षा इस 'विचित्रमार्ग' में विषय वस्तु कम होने लगी। एक ओर कालिदासादि की भाषा प्रवाहपूर्ण और सरल है तो दूसरी ओर भारवि आदि की भाषा क्लिष्ट कल्पनाओं से युक्त, अनावश्यक प्रयोग और वाग्विस्तार-प्रधान है। इसे अलंकृत शैली कहना पर्याप्त सार्थक है। चित्रकाव्यों का प्रचलन भारवि से ही प्रारम्भ होता है। भारवि ने जिस शैली को जन्म दिया, उसकी प्रधानतम विशेषताएँ शब्द और अर्थ का प्रतिभाजात चमत्कार, अलंकारों की जगमगाहट, उक्तिवैचित्र्य, प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार, अनेकार्थ और वक्रोक्ति की अतिरंजना हैं। एक रसमयी शैली है तो दूसरी अलंकृत शैली। परवर्ती कवियों ने भारवि का अनुकरण किया है।

अलंकृत शैली होने पर भी भारवि की काव्यशैली उतनी कठिन नहीं

---

१. वक्रोक्तिजीवित १, २५-२६

है, जितनी आगे चलकर अन्य कवियों की। भारवि रूपयोजनात्मक चित्र प्रस्तुत करने में नितान्त दक्ष हैं यथा—

'मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः
शिखाः पिशंगीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला
धनुः श्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥ किरात. ४.३६.

(शरद् का सुहावना समय है, शिरीष-पुष्प की भाँति कोमल हरे शुकों की पंक्ति मूंगे के टुकड़ों के समान लाल-लाल चोंचों में धान की पीली बालियों को लेकर आकाश में उड़ रही हैं। शुकों का हरा शरीर, उनकी अरुण वर्ण की चोंचें, उन चोंचों में पीली-पीली धान की बालियाँ—इन रंगों की मिलावट से प्रतीत होता है कि आकाश में इन्द्रधनुष उग गया है।)

आँखों के सामने एक सुन्दर चित्र उपस्थित हो जाता है। वर्णन अत्यन्त ही स्वाभाविक और कल्पना-प्रधान है। इसी प्रकार के वर्णन अन्यत्र भी मिलते हैं। नायक-नायिकाओं के वर्णन में भी भारवि कुशल हैं। मानव्यञ्जना का उदाहरण देखिए—

'प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी,
विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं,
लिलेख बाष्पाकुललोचना भुवम् ॥ किरात ८.१४

नायक नायिका को पुष्प दे रहा है, परन्तु फूल देते समय उसके मुख से दूसरी नायिका का नाम निकल जाता है और वह उसे दूसरे नाम से सम्बोधित कर पुकारता है। नायिका समझ जाती है, पर नायक से कुछ नहीं कहती, केवल आँखों में आँसू भरकर पैर से भूमि खुरचने लग जाती है। कितनी सुन्दर अभिव्यञ्जना प्रस्तुत की गई है।

साम्प्रदायिक आलोचना

भारवि अपने अल्प शब्दों में विपुल अर्थ सन्निवेश के लिए नितान्त प्रसिद्ध हैं। भारवि का काव्य अर्थगौरव से अत्यधिक मण्डित है—

"भारवेरर्थ-गौरवम्"

भारवि की वाणी के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित उक्ति प्रसिद्ध है:—

"प्रकृतिमधुरा भारविगिरः"

'भरतचरित' में कृष्णकवि ने भारवि की शैली को 'सत्पथ-दीपिका' के समान कहा है—

'प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं
प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव,
रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या॥'

मल्लिनाथ ने भारवि के काव्य को नारिकेल के फल के समान बतलाया है, जिसका बाह्य-रूप देखने में रूक्ष और कठोर प्रतीत होता है पर उसके आभ्यन्तर प्रदेश में मधुर, सुस्वादु रस सन्निहित रहता है। भारवि का काव्य भी बाहर से जटिल है परन्तु उसके आभ्यन्तर प्रदेश में रस की सान्द्र धारा प्रवाहित है—

'नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥'

क्षेमेन्द्र के अनुसार राजनीति विषय के लिए सबसे सुन्दर छन्द वंशस्थ होता है। किरातार्जुनीय राजनीति का काव्य है। अतः उसमें वंशस्थ छन्द अत्यधिक सुन्दर बन पड़ा है। यही कारण है कि क्षेमेन्द्र अपने सुवृत्त-तिलक में भारवि के वंशस्थ छन्द की प्रशंसा करते हुए कहता है—

'वृत्तच्छत्रस्य सा काऽपि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥'

भारवि की उपमा सूर्य से दी गई है। जिस प्रकार रवि अपने किरण-जाल से अन्धकार को दूर कर प्रकाश करता हुआ सबको प्रबोधित करता है, उसी प्रकार भारवि की वाणी अज्ञान का नाश करती हुई ज्ञान का संचार करती है—

'प्रकाशं सर्वतो दिव्यं विदधाना सतां मुदे।
प्रबोधनपरा हृद्या भा रवेरिव भारवेः॥

शारदातनय के अनुसार भाव और रस का सन्तुलन भारवि के काव्य में प्राप्त होता है।

आर० सी० दत्त के अनुसार—

"In the richness of a creative fancy, in true tenderness and pathos and even in the sweetness and melody of verse, Kalidas is incomparably the greatest poet. But nevertheless Bharavi boasts of a vigour of thought, and of language, and lofty eloquence in expression, which Kalidas seldom equals.

डा० डे ने भारवि के दुर्बल पक्ष का निदर्शन किया है—भारवि की कला प्रायः अत्यधिक अलंकृत नहीं है, किन्तु आकृति-सौष्ठव की नियमितता व्यक्त करती है। शैली की दुष्प्राप्य कान्ति भारवि में सर्वथा नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं होगा किन्तु भारवि उसकी व्यञ्जना अधिक नहीं कराते। भारवि का अर्थ-गौरव, जिसके लिए विद्वानों ने उनकी अत्यधिक प्रशंसा की है, उनकी गम्भीर अभिव्यञ्जनात्मक शैली का फल है किन्तु यह अर्थ-गौरव एक साथ भारवि की शक्ति और दुर्बलता (भावपक्ष की दुर्बलता) दोनों को व्यक्त करता है। भारवि की अभिव्यञ्जना-शैली का परिपाक अपनी उदात्त स्निग्धता के कारण सुन्दर लगता है। उसमें शब्द तथा अर्थ के सुडौलपन की स्वस्थता है किन्तु महान् कविता की उस शक्ति की कमी है, जो भावों की स्फूर्ति तथा हृदय के उदात्तीकरण के लिए आवश्यक है।

नवम अध्याय

बाण

संस्कृत के कवियों में बाण का नाम लेते ही एक अभिनव कोटि के स्रष्टा और कृतित्व का स्मरण होता है। हर्षचरित और कादम्बरी के रचयिता महाकवि का जन्म विश्रुत वात्स्यायन-गोत्रीय ब्राह्मण-वंश में हुआ था, जिसका उद्भव बाण की आत्मकथा के अनुसार सरस्वती देवी से सम्बद्ध है। इनके प्रपितामह पाशुपत के पुत्र अर्थपति थे।[1] अर्थपति के ११ पुत्रों में से चित्रभानु बाण के पिता थे। इस वंश में कुबेर नामक महापण्डित हो चुके थे, जिनको अनेक गुप्तवंशीय राजाओं से सम्मान मिल चुका था। यही कुबेर पाशुपत के पिता थे। इनके वर्णन से प्रतीत होता है कि इस कुल को वाग्विलास के बल पर राजाश्रय प्राप्त था और इसके फलस्वरूप कुल समृद्ध था।[2] बाण सम्राट् हर्ष के समकालीन थे। उनकी प्रतिभा का युग छठीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर सातवीं शती के मध्य भाग तक माना जा सकता है।

बाण हिरण्यबाहु या सोन नदी के तटवर्ती प्रीतिकूट नामक नगर के निवासी थे। इनके कुल में गार्हस्थ्य धर्म की आर्य परम्परा अक्षुण्ण बनी थी। नित्य सोम-यज्ञ होता था और वातावरण ऐसा था कि सभी लोग स्वभावतः ज्ञान-विज्ञान में निष्णात होते थे। साथ ही उनका चरित्र उदात्त और सात्विक था। बाण ने अपने पिता चित्रभानु के विषय में कहा है—

चकार यस्याध्वरधूमसंचयो मलीमसः शुक्लतरं निजं यशः ॥

अर्थात् जिसके यज्ञ के धुयें से आकाश में बादल छा गये, पर परिणामतः उनसे उनका यश शुक्लतर हो गया।

---

१. अनेकगुप्तार्चितपादपङ्कजः कुबेरनामांश इव स्वयंभुवः ॥ काद ५.१० कुबेर का प्रादुर्भाव ५ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ होगा।

२. बाण ने स्वयं लिखा है—परमेश्वरशिरोधृतः क्षितितललब्धायतिः आदि।

बाण की माता राजदेवी बाण को शिशु छोड़ कर ही मर गईं। बाण का लालन-पालन उनके पिता ने किशोरावस्था तक किया, उनका उपनयन किया और पढ़ा-लिखा कर समावर्तन संस्कार कर दिया पर वे भी बाण के १४ वर्ष के होते ही दिवंगत हुए। अब बाण पूर्ण स्वतन्त्र थे। इस स्वतन्त्रता का उपयोग या दुरुपयोग, जो कहिए, बाण ने अपच्छित वृत्ति से किया।[१] उस वृत्ति में कौलीन गरिमा नहीं थी, पैतृक महिमा नहीं थी, पर थी बालोचित जिज्ञासा। बाण अकेले नहीं गये।[२] उनके साथ थे विविध शिल्पविद्—सब मिलाकर ४४ जन, जिनमें प्रमुख थे उनके पारशव भाई चन्द्रसेन और मातृसेन, कवि ईशान, सँपेरा मयूरक, पुस्तक-वाचक सुदृष्टि, लेखक गोविन्द, एक चित्रकार वीरवर्मा, बन्दी, एक नर्तक, एक जुआरी आदि। एक भिक्षुणी और तीन युवती नर्तकियाँ जो संवाहन आदि सेवायें करती थीं, इस मण्डली में सम्मिलित थीं। याज्ञिक कुल में उत्पन्न बाण अपनी पैतृक संस्कृति से विमुख होकर इस मण्डली के साथ क्या करता होगा—यह कल्पना कर लेना सरल ही है।[३] पर बाण ही के शब्दों में सुनिये—वह अनेक गुरुकुलों में जाकर वहाँ की विद्याओं का परिचय प्राप्त करता था, महापण्डितों से साक्षात्कार करके उनकी पाण्डित्य-सरिता में अवगाहन करता था और साथ ही सर्वोच्च नागरकों और राजाओं से भी मिलता था। यह है बाण के व्यक्तित्व की सामञ्जस्यपूर्णता, जिसमें पाण्डित्य का यदि गहरा पैतृक संस्कार प्रस्फुटित हो रहा था तो साथ ही अपनी निजी अर्जित विलास-प्रवृत्तियों का स्फुरण भी निर्बाध हो रहा था। यही सामञ्जस्यपूर्णता महर्षि जाबालि की तपोमयी वृत्तियों और कादम्बरी की प्रणय वृत्तियों का युगपद् निदर्शन कराने में समर्थ थी। बाण को ऐसा व्यक्तित्व कुल-परम्परा से ही प्राप्त था, जिसके विषय में उन्होंने बताया है कि वे गृहमुनि अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहने वाले मुनि थे—कवि, वाग्मी, सभी ग्रन्थों के मर्मज्ञ और साथ ही कलावन्त और नृत्य-गीत-वादित्र में सर्वोपरि थे।

---

१. देशान्तरालोकनकौतुकाक्षिप्तहृदयः सत्स्वपि पितृपितामहोपात्तेषु ब्राह्मणजनोचितेषु विभवेषु सति चाविच्छिन्ने विद्याप्रसंगे गृहान्निरगात्। वस्तुओं को देखने की इतनी रुचि थी कि महाप्रतिहार के साथ हर्ष का दर्शन करने के लिए जाते समय बीच में राजा के दर्पशात नामक महान् गज को देखने लगे।

२. इस प्रसंग में कहावत चरितार्थ होती है—बाप बाण गये नौ हाथ का पगहा ले गये।

३. बाण की युवावस्था की गड़बड़ियाँ सर्वविदित हो चुकी थीं। कानों-कान ये समाचार हर्ष तक भी पहुँची। हर्ष ने पहली बार इनको देखते ही कहा-

बाण जब घर लौटे तो उनका स्वागत हुआ। वे कुछ समय तक अपने घर रहे पर शीघ्र ही इनकी प्रतिभा ने इन्हें हर्ष का प्रियपात्र बना दिया।

बाण को हर्ष से प्रथम बार मिलने जाना है। प्रातः उठते ही उन्होंने विश्वनाथ शिव की स्तुति की, होम किया, ब्राह्मणों को दान दिया, श्वेत वस्त्र धारण किया, श्वेत माला पहनी और वयोवृद्ध लोगों का आशीर्वाद प्राप्त किया। यह थी बाण की वेषभूषा और पूजा-भावना।

हर्ष ने बाण के अब्रह्मण्य की चर्चा की तो उनका नैसर्गिक ब्राह्मणत्व जाग उठा। उन्होंने उत्तर दिया—

देव, अविज्ञाततत्त्व इव, अश्रद्दधान इव, नेय इव, अविदित-लोक वृत्तान्त इव च कस्मादेवमाज्ञापयसि। महद्भिस्तु यथार्थदर्शिभिर्भवितव्यम्। नार्हसि मामन्यथा सम्भावयितुमविशिष्टमिव ब्राह्मणोऽस्मि जातः सोमपायिनां वंशे वात्स्यायनानाम्। यथाकालमुपनयनादयः कृताः संस्काराः। सम्यक् पठितः साङ्गो वेदः। श्रुतानि यथाशक्ति शास्त्राणि। दारपरिग्रहादभ्यागारिकोऽस्मि। का मे भुजङ्गता। लोकद्वयाविरोधिभिस्तु चापलैः शैशवमशून्यमासीत्। अत्रानपलापोऽस्मि। अनेनैव च गृहीतविप्रतिसारमिव मे हृदयम्।

इन पंक्तियों में बाण का पूरा चरित्र-चित्रण है। वे परम शिक्षक थे। उन्होंने सम्राट् हर्ष को प्रथम साक्षात्कार में ही बता दिया कि मैं तुम्हारा गुरु हूं। वे निर्भीक थे। उन्हें अपनी अभिजाति का अभिमान था। चौदह वर्ष की अवस्था तक उन्होंने अपने पितृ-चरणों में बैठकर वेदादि का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया था और फिर मानव-धर्म का अनुसरण करते हुए विवाह किया था। बाण स्पष्टवादी थे और उन्हें अपने विषय में कहते हिचक नहीं थी—

चापलैः शैशवमशून्यमासीत्।

विश्वसनीयता थी उनके व्यक्तित्व में। तभी तो शैशवावस्था में भी एक चित्र-विचित्र मण्डली का नेतृत्व कर सके थे। सम्राट् हर्ष का अभिन्न सहचर बनते देर न लगी। बाण ने स्वयं कहा है—

स्वल्पैरेवाहोभिः परमप्रीतेन प्रसादजन्मनो मानस्य प्रेम्णो विस्रम्भस्य द्रविणस्य नर्मणः प्रभावस्य च परां कोटिमानीयत नरेन्द्रेणेति ।

बाण के शब्दों में हर्ष साक्षात् देवता था अमृतमय ।

बाण की जन्मभूमि कलाविदों का शरण्य थी । वहाँ ब्राह्मणों के घर से सतत वेद-ध्वनि गूँजती रहती थी । घरों के पास सोमलता की क्यारियाँ हरी-भरी थीं । सैकड़ों ब्रह्मचारी समिदाधान-कर्म में संलग्न रहते थे । बड़ी गायें सुशोभित हो रही थीं । संन्यासी भी थे । बलिवैश्वदेव विधान प्रचलित था । वहाँ के घर क्या थे—साक्षात्त्रयी-तपोवनानीव । इस प्रकार बाण की आवास-भूमि वेद की मानों राजधानी थी । वहाँ बन्दी थे, पुराण-पाठक थे, उच्च-शिक्षण संस्थायें थीं । वहीं हर्षचरित का प्रथम पारायण हुआ ।

आश्रयदाता

बाण के आश्रयदाता तत्कालीन भारतसम्राट् हर्ष थे । उनमें मानवोचित आत्मगुणों का सर्वोच्च विकास था । वे सज्जनों को ही रत्न मानते थे । उज्ज्वल गुणों को ही प्रसाधन मानते थे । उनमें यश की उत्कण्ठा थी, प्राणों की नहीं । मित्रों के उपकारक थे । अपने सर्वस्व को ब्राह्मणों का उपकारक मानते थे । वे अत्यन्त पराक्रमी और साहसी थे । पुण्यशाली ही ऐसे राजा का आश्रय भाग्य से पाते हैं । बाण की दृष्टि में हर्ष 'चतुरुदधिकेदारकुटुम्बी' हैं ।

समाज-सुधारक

समाज की दुष्प्रवृत्तियों पर बाण की दृष्टि थी । वे बहुपत्नीत्व के विरोधी थे । कादम्बरी में इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने बताया है—

'एतत्सापत्न्यकरणं नारीणां प्रधानं कोपकारणम्'

अर्थात् सपत्नी का होना स्त्रियों के कोप का प्रधान कारण होता है । आगे चलकर उन्होंने बताया है कि इसके कारण बहुत सी स्त्रियाँ संन्यासिनी बन जाती हैं, विष खा लेती हैं, जल मरती हैं और अनशन करती हैं । स्त्री को तुच्छ बनाने के लिए इससे बढ़कर अन्य कोई कारण नहीं है ।' यह नारी जाति के लिए चेतावनी थी कि वह ऐसे पुरुष के चक्कर में न पड़े जिसकी अभिरुचि बहुपत्नीत्व की ओर हो ।

बाण स्त्रियों को पुरुषों के द्वारा सम्मानित किये जाने के पक्ष में थे। चन्द्रापीड राजकुमार कादम्बरी से कहता है कि मैं तो आपका दास हूँ, सेवक हूँ—

धन्यः खलु परिजनः ते यस्योपरिनियन्त्रणा स्यात्। आज्ञा संविभागाकरणोचिते भृत्यजने क इवादरः।

समाज सुधारक के रूप में महाकवि बाण ने वैशम्पायन का चरित-चित्रण अपनाया है। वैशम्पायन पूर्वजन्म का पुण्डरीक देवर्षि था, किन्तु मातृकुलोचित शृंगार-चापल्य और चंचलता के कारण वह अनेकानेक कष्टों में पड़ा। उत्तर भाग में पुलिन भट्ट ने उसके चरित्र के इस पक्ष का प्रायशः विवेचन किया है। अविनय से असंख्य विपत्तियाँ आती हैं।

क्या बाण स्वच्छन्द प्रेम का समर्थन करते हैं? ऐसा प्रतीत होता है किन्तु इस स्वच्छन्द प्रेम की विडम्बनाओं का वर्णन करके सम्भवतः बाण ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह मार्ग साधारण मानवों के अपनाने योग्य नहीं है। इसमें तो केवल शापभ्रमित लोग ही फँसें तो उन्हें चलते-फिरते कहीं कुछ हाथ लग जाय। फिर भी सात्विक वृत्ति के नायकों को ही अपनाकर बाण ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कादम्बरी की कथा संदिग्ध चरित्र के लोगों को प्रोत्साहना देने के लिए नहीं है।

साम्प्रदायिक प्रशस्ति

परवर्तीयुगीन भारतीय मानदण्ड को लेकर चलने वाले आलोचकों ने बाण का स्थान बहुत ऊँचा माना है। रस और अलङ्कार की अनुपम निर्भरता का उस युग में विशेष समादर था। साधारणतः गद्यलेखकों ने अपनी रचना की भूमिका प्रस्तुत करते हुए बाण का स्मरण और अभिनन्दन अनेकशः किया है। गोवर्धनाचार्य का कहना है—

जाता शिखण्डिनी प्राग्यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति॥

अर्थात् अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए सरस्वती ने बाण रूप में जन्म लिया जैसे शिखण्डिनी कुमारी शिखण्डी बनी।[1] यदि कोई कवि बिना सोचे-समझे पदों का दुरुपयोग करता है तो उसे कविवर त्रिलोचन की अनुभूति का स्मरण होना चाहिए—

---

१. प्रकरण महाभारत में देखें—शिखण्डी की पूर्वजन्म की कथा।

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः ।
भवेत्कविकुरंगाणां चापलं तत्र कारणम् ॥

बाण की गद्य-शैली की सङ्गीतनिर्भरता का निदर्शन करती हुई गंगादेवी ने कहा है—

वाणीपाणिपरामृष्टवीणानिक्वाणहारिणीम् ।
भावयन्ति कथं वान्ये भट्टबाणस्य भारतीम् ॥

बाण की रचनाओं की लोकप्रियता और अनुरंजनता का उल्लेख त्रिविक्रम ने नलचम्पू में किया है—

शश्वद्बाणद्वितीयेन नर्मदाकारधारिणा ।
धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जनः ॥

लोकरस की ओर प्रवृत्त लोगों को अलौकिक काव्य-रस के अनुत्तम आस्वाद की ओर प्रवृत्त कराने के उद्देश्य से धर्मदास ने लिखा है—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
तत् किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

चन्द्रकवि ने बाण को सिंह और अन्य कवियों को हाथी बताते हुए कविवर की सर्वोत्कृष्टता को प्रमाणित करने के उद्देश्य से रूपक बांधा है—

श्लेषे केचन शब्दगुम्फविषये केचिद्रसे चापरे-
ऽलङ्कारे कतिचित्सदर्थविषये चान्ये कथावर्णने
आसर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-
संचारो कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पंचाननः ॥

सोड्ढल ने बाण की सर्वविध उत्कृष्टता आँकते हुए कह डाला—

वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनन्द-
मर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे ।
रसेश्वरं स्तौमि च कालिदासं
बाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि ॥

जयदेव ने कविताकामिनी के अंगों के रूप में कवियों को प्रतिष्ठित करते हुए बाण को पंचबाण (मदन) निरूपित किया है, जब कालिदास केवल विलास है—

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पंचबाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय॥

नारायणचरित में बाण को प्रतिकवि-भेदन-बाण की उपाधि देते हुए कहा गया है—

प्रतिकविभेदनबाणः कवितातरुगहनविहरणमयूरः।
सहृदयलोकसुबन्धुर्जयति श्रीभट्टबाणकविराजः॥

नवसाहसाङ्कचरित में बाण और मयूर कवि की प्रशस्ति करते हुए कहा गया है—

सचित्रवर्ण - विच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः।
श्रीहर्ष इव संघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः।

रघुनाथचरित में बाण की अनुत्तमता को इन शब्दों में प्रमाणित किया गया है—

बाणं सत्कविगीर्वाणमनुबध्नाति कः कविः।
सिन्धुमन्धुः किमन्वेति द्युमणिं कतमो मणिः॥

किसी कवि ने तो यहाँ तक कह डाला कि बाण के सामने कवियों की बोलती बन्द हो जाती है—

दण्डीत्युपस्थिते सद्यः कवीनां कम्पितं मनः।
प्रविष्टे त्वन्तरं बाणे कण्ठे वागेव रुध्यते॥

किसी कवि ने तो बाण की उपमा महासागर से दे डाली है। उसका कहना है—

कादम्बरीसहोदर्या सुधया वै बुधे हृदि।
हर्षाख्यायिकया ख्यातिं बाणोऽब्धिरिव लब्धवान्॥

इन उक्तियों से यह प्रमाणित होता है कि बाण ने अपने जीवन-काल से लेकर प्रायः सदैव ही कवियों और काव्यशास्त्र-मर्मज्ञों की दृष्टि में विशेष प्रतिष्ठा पाई है और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने में वे कभी हिचके नहीं। ऐसे महाकवि की रचना परवर्ती युग की रचनाओं के लिए आदर्श होती है। वास्तव में महाकवि बाण की छाया युग-युगान्तर तक लम्बायमान होती जायेगी।

कथा और आख्यायिका

बाण की रचनाओं में से हर्षचरित आख्यायिका है और कादम्बरी कथा है। इन दोनों कोटियों का अन्तर भामह और दण्डी ने विशेष रूप से किया है। भामह के अनुसार--

प्रकृतानुकूलश्रव्य - शब्दार्थ - पदवृत्तिना।
गद्येनयुक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाख्यायिका मता॥
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च॥
कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता।
कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता॥

अर्थात् आख्यायिका गद्य में होती है। यह श्रव्य कोटि की रचना है, और प्रकरण (आख्यान-विषय) के अनुकूल होती है। इसमें अर्थ उदात्त होता है और तुच्छ स्तर पर बातें नहीं कही जातीं। इसमें नायक स्वयं वृत्त का आख्यान करता है, जो उसके पराक्रम होते हैं। कहीं-कहीं वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों में कुछ पद्य होते हैं, जिनसे भावी घटनाओं की सूचना दी जाती है। इसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ तथा नायक का अभ्युदय आदि का कथानक होता है। इसमें घटनाओं के प्रति कवि के अभिप्राय अर्थात् दृष्टिकोण का महत्त्व होता है। इसका विभाजन उच्छ्वासों में होता है। उपर्युक्त लक्षण प्रायशः हर्षचरित के सम्बन्ध में घटते हैं।

बाण की दूसरी रचना कादम्बरी कथा है। भामह ने इसकी विशिष्टता बताते हुए कहा है--

नवक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि।
संस्कृतं संस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक् तथा॥

अर्थात् इसमें वक्त्र और अपरवक्त्र छन्द नहीं होते। उच्छ्वासों में विभाजन नहीं होता।

दण्डी ने कथा और आख्यायिका के उपर्युक्त भेदों का विवेचन करते हुए कहा है कि इन दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

अपादः पदसन्तानो गद्यमाख्यायिका कथा ।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ॥
अपित्वनियमो दृष्टस्तथाप्यन्यैरुदीरणात् ।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वाभेदकारणम् ॥
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं च भेदकम् ।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसङ्गेन कथास्वपि ॥
आर्यादिवत्प्रवेशः किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः ।
भेदश्च दृष्टो लम्भादिरुच्छ्वासो वास्तु किं ततः ॥
तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिस्संज्ञा द्वयाङ्किता ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ॥

अर्थात् गद्य में छन्दोविशिष्ट पाद नहीं होते। वह आख्यायिका और कथा दो प्रकार की होती है। आख्यायिका नायक के द्वारा और कथा किसी नायकेतर के द्वारा भी कही जाती है। वास्तविकता का आख्यान होने के कारण अपने गुणों की चर्चा करना इसमें दोषावह नहीं माना जाता। जब कोई दूसरा आख्याता बन जाता है तब तो आख्यायिका में नायक के गुणों का वर्णन भरपूर हो सकता है। इसमें कथा और आख्यायिका का भेद कुछ जमता नहीं, क्योंकि पहले तो वक्ता कौन होता है--इस दृष्टि से काव्य की दो पृथक् कोटियाँ बनाना ठीक नहीं है। वक्त्र तथा अपरवक्त्र आदि का भी भेदक रूप में महत्व नहीं है। उच्छ्वास में आख्यायिका बने यह भी कोई प्रमाण नहीं। कथा यदि लम्भ में विभाजित होती है तो उसे उच्छ्वास में विभाजन करने में क्या कठिनाई है। ऐसी दशा में कथा और आख्यायिका एक ही कोटि के दो नाम प्रतीत होते हैं।

कथा और आख्यायिका का भेद रुद्रट ने इस प्रकार समझाया है कि जो कुछ कादम्बरी के समान है वह कथा और जो कुछ हर्षचरित के समान है वह आख्यायिका है। इस विषय में कीथ का कहना सार्थक है--A katha might be deemed a complex Akhyayika, one in which a main narrative was the mode in which sub-narratives came to setforth in due place.

हर्षचरित्र

हर्षचरित आख्यायिका कोटि की रचना है। इसका आरम्भ लेखक की आत्मकथा से होता है, जो पूरी पुस्तक का तृतीयांश है। बाण ने अपने वात्स्यायन वंश की विद्वत्ता के आदि पुरुष सारस्वत के आविर्भाव के वृत्तान्त से इस ग्रन्थ का समारम्भ किया है।

कथानक

प्रथम उच्छ्‌वास

ब्रह्मा की कन्या सरस्वती ब्रह्मोद्य में दुर्वासा के सामगायन में अशुद्धि सुन-कर हंस पड़ी तो दुर्वासा ने शाप दिया—दुर्विनीते, विद्याजनित तुम्हारे अहंकार को मैं दूर करता हूं। मर्त्यलोक में जाओ। ब्रह्मा ने इसका प्रतिकार करते हुए कहा—सरस्वति, विषाद मत करो। तुम्हारे साथ सावित्री जायेगी। पुत्रोत्पत्ति के समय तक ही मर्त्यलोक में रहना पड़ेगा। तब सरस्वती ने वहाँ से उतर कर शोण (सोन) नदी के तट पर वास किया। वहाँ च्यवन ऋषि के पुत्र दधीच से सरस्वती का पाणिग्रहण हुआ और उसे सारस्वत नामक पुत्र हुआ। इसके पश्चात् सरस्वती ब्रह्मलोक पहुँच गई और दधीच उसके वियोग में तपस्या करने चले गये। पिता ने सारस्वत का पालन-पोषण करने के लिए उसे मुनि कन्या अक्षमाला को सौंप दिया। अक्षमाला का भी एक पुत्र वत्स था, जो सारस्वत का समवयस्क था। माता के वरदान से सारस्वत को सभी वेद, सभी शास्त्र और सभी कलायें स्वयं आविर्भूत हुई थीं। सारस्वत ने इन सबका ज्ञान अनायास ही अपने प्रिय भाई वत्स को करा कर उसका विवाह आदि कराकर प्रीतिकूट नामक स्थान में प्रतिष्ठित करा दिया और स्वयं तपस्या करने चले गये। इसी वत्स से वात्स्यायन वंश में बाण का प्रादुर्भाव हुआ।

बाण ने हर्षचरित में अपने विमल वंश का विशद वर्णन करते हुए बताया है कि पढ़ लिख कर कैसे वे पिता की मृत्यु के पश्चात् ४४ कलाविदों की मण्डली बना कर देश देखने के लिए पर्यटन करने लगे। फिर अपने गाँव में लौट आये और आनन्दपूर्वक रहने लगे।

द्वितीय उच्छ्‌वास

बाण के एक अकारण मित्र थे हर्ष के भाई कृष्ण। उन्होंने बाण की गुणवत्ता की प्रशंसा सुन रखी थी और उन्हें बाण के पर्यटन का पूरा विवरण ज्ञात

हो चुका था। उन्होंने समझ लिया था कि यह पण्डित हर्ष की राजसभा का अलंकार बन सकेगा। कृष्ण के निमन्त्रण पर बाण हर्ष के पास पहुँचे। आरम्भ में तो सम्राट् ने इनकी उपेक्षा ही की पर बाण के गुणों का शीघ्र ही प्रत्यक्ष परिचय पाकर उन्हें जीवन भर अत्यन्त विश्वासपात्र बनाकर अपने पास रखा। बाण ने भी हर्ष के सान्निध्य में विनय की शिक्षा ग्रहण की। उन्हें राजभवन में स्थान मिला।

तृतीय उच्छ्वास

एक बार शरद् ऋतु में बाण अपने बन्धुओं का दर्शन करने के लिए प्रीतिकूट आये। वहाँ उनके चचेरे भाइयों में से श्यामल ने निवेदन किया कि यह भार्गव वंश पुण्यराजर्षिवंशचरित के श्रवण से शुचितर होना चाहिए। बाण को हर्षचरित की कथा सुनाने के लिए उद्यत होना पड़ा।

श्रीकण्ठ जनपद है। उसकी राजधानी स्थाण्वीश्वर है। वहाँ पुष्पभूति नामक राजा हुआ। राजा का भैरवाचार्य से समागम हुआ। आचार्य ने उन्हें अट्टहास नामक कृपाण दिया। आचार्य की मान्त्रिक साधना के बीच पुष्पभूतिका लक्ष्मी से साक्षात्कार हुआ। उसने इस राजवंश में चक्रवर्ती हर्ष के आविर्भाव का वरदान दिया।

चतुर्थ उच्छ्वास

पुष्पभूति के वंश में प्रभाकरवर्धन का जन्म हुआ। उसकी रानी यशोवती से दो पुत्र राज्यवर्धन और हर्षवर्धन तथा कन्या राज्यश्री हुई। राज्यश्री का विवाह ग्रहवर्मा से हुआ।

पंचम उच्छ्वास

हूणों के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए प्रभाकरवर्धन ने अपने बड़े पुत्र राज्यवर्धन को सेना सहित उत्तरापथ की ओर भेज दिया। कुछ दिनों तक हर्ष भी उनके साथ गये पर मार्ग में वह मृगया करने में लगे। इसी बीच कुरङ्गक नामक दूत ने आकर उन्हें राजा के अस्वास्थ्य का समाचार दिया। राजा से मिलने के लिए हर्ष लौट आये। उनके असाध्य रोग को देखकर और मृत्यु की छाया का प्रतिभास पाकर राजमहिषी यशोवती सती हो गईं। राजा की मृत्यु हो गई।

षष्ठ उच्छ्वास

राज्यवर्धन हूणों को परास्त करने के पश्चात् लौटे। पितृ-शोक के वातावरण में दोनों भाइयों का मिलन हुआ। राज्यवर्धन ने हर्ष से कहा—मैं

संन्यास ले लूंगा। तुम्हीं राज्य करो। राज्यवर्धन के लिए वल्कल प्रस्तुत किया गया किन्तु होना कुछ और था—राज्यश्री के पति ग्रहवर्मा को मालवराज ने उसी दिन मार डाला, जिस दिन प्रभाकरवर्धन मरे थे। राज्यश्री कारागार में डाल दी गई थी। राज्यवर्धन ने मालवराज से युद्ध करने के लिए प्रयाण कर दिया। वहाँ वह मालवराज को परास्त कर लेने के पश्चात् विश्वासघात द्वारा गौडाधिपति से मार डाला गया।

सप्तम उच्छ्वास—

हर्ष ने महती सेना के साथ इस भ्रातृ-वधिक के ऊपर आक्रमण करने के लिए प्रयाण किया। मार्ग में प्राग्ज्योतिष के राजकुमार का भेजा हुआ उपहार—छत्र भेंट किया गया। इसी समय सेनापति भण्डि मालवराज की विजय करके लौटकर हर्ष से मिला और उसने बताया कि राज्यश्री कारागार से निकल कर विन्ध्याटवी मे प्रवेश कर गई। वहाँ से हर्ष राज्यश्री की खोज में चल पड़े।

हर्ष किसी वनग्राम में एक रात रहकर विन्ध्याटवी में प्रविष्ट हुए।

अष्टम उच्छ्वास

विन्ध्याटवी में आटविक सामन्त शरभकेतु का पुत्र व्याघ्रकेतु शबर युवक निर्घात के साथ हर्ष से मिला। निर्घात ने हर्ष को दिवाकरमित्र नामक परिव्राजक का स्थान बताया, जो राज्यश्री को ढूंढने में हर्ष की सहायता कर सकता था। यह दिवाकरमित्र ग्रहवर्मा का बालमित्र था। हर्ष उनसे मिला। उनसे बातचीत करते समय ही एक भिक्षु ने राज्यश्री के चिता में जलने के लिए उद्यत होने का समाचार दिया।

दिवाकरमित्र के साथ हर्ष राज्यश्री के पास पहुँचे। अर्धमूर्च्छित राज्यश्री हर्ष के स्पर्श से पुनर्जीवित सी हो गई। फिर वे सभी आश्रम में लौट आये। वहाँ एक रात रहकर दूसरे दिन गंगा तट पर अवस्थित अपने पड़ाव में आ गये। यहीं हर्ष-चरित की कथा समाप्त होती है।

वास्तव में हर्षचरित का यहाँ अन्त नहीं होना चाहिए। इस भाग तक तो हर्ष के पूरे चरित का तृतीयांश भी नहीं समन्वित है। स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ अधूरा मिलता है। बाण ने इसे सम्भवतः पूरा ही नहीं किया।

आख्यान

आख्यान के विवरण द्वारा घटनाओं को वास्तविकता का रूप देना बाण का अनुपम कौशल है। उनके आख्यानों से ऐसा लगता है कि जैसे चित्रपट पर सारी घटना एक-एक करके प्रस्तुत की जा रही है। उदाहरण के लिए देखिये बाण का प्रीतिकूट में हर्ष के यहाँ से लौट कर आने का आख्यान—

समुपलब्धभूपालसंमानातिशयपरितुष्टास्स्वस्यज्ञातयः श्लाघमाना निर्ययुः। क्रमेण च कांश्चिदभिवादयमानः कैश्चिदभिवाद्यमानः, कैश्चिच्छिरसि चुम्ब्यमानः कांश्चिन्मूर्ध्नि समाजिघ्रन्, कैश्चिदालिंग्यमानः, कांश्चिदालिंगन्, अन्यैराशिषानुगृह्यमाणः, परानुगृह्णन्, बहुबन्धुमध्यवर्ती परं मुमुदे। सम्भ्रान्तपरिजनोपनीतं चासनमासीनेषु गुरुषु भेजे। भजमानश्चार्घादिसत्कारं नितरां ननन्द। प्रीयमाणेन च मनसा सर्वांस्तान्पर्यपृच्छत्—कच्चिदेतावतो दिवसान् सुखिनो यूयम्। अप्रत्यूहा वा सम्यक्करणपरितोषितद्विजचक्रा क्रातवी क्रिया क्रियते—यथाकालमधीयते वा बटवः? प्रतिदिनमविच्छिन्नो वा वेदाभ्यासः।

इन आख्यान-वाक्यों से ऐसा लग रहा है मानो सारी घटनावली आँखों के सामने ही घट रही है।

हर्षचरित के आख्यान में कहीं-कहीं वास्तविकता का अभाव खटकता है। सारस्वत के जन्म की पूरी कथा तथा भैरवाचार्य और श्रीकण्ठ नाग के अलौकिक प्रकरण विश्वास-परिधि से परे हैं।

आख्यानों में कहीं-कहीं नाटकीयता है। उदाहरण के लिए पिता के मरने के पश्चात् हर्षवर्धन और राज्यवर्धन का मिलन-प्रसङ्ग है। राज्यवर्धन कहते हैं—

सोऽहमिच्छामि मनसि वाससीव सुलग्नं स्नेहमलमिदममलैः शिखरिशिखरप्रस्रवणैः स्वच्छस्रोतोम्बुभिः प्रक्षालयितुमाश्रमपदे। परित्यक्तं मया शस्त्रम्। इत्यभिधाय च खड्गग्राहिणो हस्तादादाय निजं निस्त्रिंशमुत्ससर्ज धरण्याम्।

फिर हर्ष उनसे ऐसा न करने के लिए अनुरोध कर ही रहा है कि वस्त्रकर्मान्तिक उनके लिए वल्कल लाकर प्रस्तुत कर देता है। पर नहीं, उसे तो युद्ध पर जाना है। उसी क्षण राज्यश्री का दूत संवादक रोते हुए आकर कहता है

कि मालवराज ने ग्रहवर्मा को उसी दिन मार डाला जिस दिन महाराज मरे। राज्यश्री कारागार में है। बस राज्यवर्धन ने—अनन्तरमेव प्रयाणपटहमादिदेश।

भावी घटनाओं की सूचना देने के लिए बाण प्रायशः स्वप्न, शकुनापशकुन की अथवा धार्मिक आदि की उक्तियों का सहारा लेते हैं। पाठकों को भावी घटनाओं के विषय में पहले से ही चेतावनी देकर उनको उद्यत कर देने की रीति कला की दृष्टि से उपादेय ही है, यद्यपि इस विधान में कहीं-कहीं कृत्रिमता का आभास होता है।

कहीं-कहीं अप्रासंगिक लम्बे व्याख्यान भी बाण के आख्यान की अस्वाभाविकता की प्रतीति कराते हैं। यथा—राज्यवर्धन को गौड़ाधिप ने मार डाला है। इस अवसर पर हर्ष और सेनापति सिंहनाद ने गौड़ाधिप के विरोध में जो व्याख्यान दिया, वह किसके लिए था ? क्या सेना के प्रोत्साहन के लिये ? नहीं। आवश्यकता नहीं थी। शोकाविष्ट-हृदय मौनावलम्बन से ही गौड़ाधिप के विनाश की योजना कार्यान्वित करने चल देता है। ऐसा ही लम्बा आख्यान भिक्षु ने राज्यश्री के विषय में यह कह कर दिया कि वह जल मरने को उद्यत होकर चिता बना चुकी है। भला हर्ष को कहाँ अवसर था उसके लम्बे व्याख्यान को सुनने के लिए ? पर बाण रुकने के नहीं।

आख्यान के प्रकरण में बाण ने विश्वव्यापिनी इतिहासज्ञता का परिचय दिया है। कौन-कौन राजा धोखा-धड़ी से मारे गये—इसका आख्यान छोटे-छोटे वाक्यों से बाण ने दिया है। इस सम्बन्ध में लगभग ३० राजाओं के सम्बन्ध में विश्वासघात की चर्चा की गई है।[1] ऐसे प्रकरण काव्य के रसोद्बोध के साथ ही इतिहास का ज्ञान कराते हैं और नीति-पथ का विवरण देते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाण के अनेक आख्यान संस्कृत वाङ्मय में अनूठे हैं और उनके द्वारा प्रस्तुत वस्तु अन्यत्र अनुपलभ्य है। इन आख्यानों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बाण की परिचय-परिधि से बाहर कोई वस्तु कदाचित् ही हो।

---

१. एक प्रकरण है काकवर्ण का—आश्चर्यकुतूहली च दण्डोपनतयवननिर्मितेन नभस्तलयायिना यन्त्रयानेनानीयत क्वापि काकवर्णः शैशुनागिश्च नगरोपकण्ठे कण्ठे निचकृते निस्त्रिंशेन। षष्ठ उच्छ्वास।

पात्रोन्मीलन

हर्षचरित में आरम्भ में कवि बाण ने अपना ही परिचय दिया है। वास्तव में बाण का हर्षचरित से कोई अभिन्न सम्बन्ध नहीं है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि हर्ष के व्यक्तित्व के निर्माण में महाकवि बाण का साधक हाथ रहा है। बाण ने स्वयं अपने विषय में कहा है---

स्वल्पैरेव चाहोभिः परमप्रीतेन प्रसादजन्मनो मानस्य प्रेम्णो विस्रम्भस्य द्रविणस्य नर्मणः प्रभावस्य च परां कोटिमानीयत नरेन्द्रेणेति।

अर्थात् थोड़े ही दिनों में हर्ष के द्वारा बाण सम्मान, प्रेम, विश्वास, वैभव, परिहास और प्रभाव के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया गया। ऐसे सान्निध्य का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ना आवश्यक है। बाण मानो इस हर्ष के व्यक्तित्व का एक अभिन्न अंग ही हो गया। बाण जैसे उदात्त कवि के द्वारा लिखा हुआ हर्षचरित प्रामाणिकता के साथ ही उसे विमलता प्रदान करता है। बाण के विषय में कवि-परिचय के प्रकरण में लिखा जा चुका है, फिर भी अपने ही चरित्र का उन्मीलन कवि ने अपनी रचना में किस प्रकार किया है---इस प्रकरण में कुछ विशेष वक्तव्य रह जाता है।

बाण

बाण की नैसर्गिक प्रतिभा थी दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करने की और अपने-आप आकृष्ट हो जाने की। महाकवि सहानुभूति का महासागर प्रतीत होता है। उसके विशाल हृदय में घास के एक तिनके से लेकर हिमालय तक के लिए प्रेमपूर्ण स्थान था। यही सहानुभूति की दृष्टि उसे वह सरस दर्शन-शक्ति प्रदान करती है, जिससे वर्णनों के द्वारा अपनी दार्शनिकता को निस्सीम बनाने के लिए पाठक का हृदय आदि से अन्त तक लालायित रहता है।

बाण के चरित्र को समझना है तो वह प्रकरण अवश्य देखना चाहिए, जब वह हर्ष के यहाँ से लौट कर आता है। प्रीतिकूट उस दिन वास्तव में प्रीति के शिखर पर था। छोटे-बड़े सब ने बाण को अपने नेत्र-द्वार से हृदय में रख लिया। उसके प्रश्न थे उन विद्यार्थियों के विषय में भी, जो वहाँ पढ़ते थे। अपने लड़कपन के खेलों की भी चर्चा बाण ने की। मरे-जिये लोगों का समाचार सुना। यह थी बाण की स्वाभाविक रीति। बाण के कुछ वाक्यों से उसके चरित्र का परिचय मिलता है। यथा–

'अभिगमनीयाश्च गुणाः सर्वस्य'। 'कस्य न प्रतीक्ष्यो मुनिभावः'। 'भव्या न द्विरुच्चारयन्ति वाचम्'। 'यं च किल शोकः समभिभवति तं कापुरुषमाचक्षते शास्त्रविदः'। 'लोके लोहेभ्यः कठिनतराः खलु स्नेहमया बन्धनपाशाः'। 'स्त्रियो हि विषयः शुचाम्'। 'स्थायिनि यशसि शरीर-धीर्वीराणाम्'। इन वाक्यों से बाण का व्यक्तित्व स्पष्ट है।

हर्ष

सम्राट् हर्ष इस आख्यायिका का चरितनायक और बाण का आश्रयदाता है। आश्रयदाता का परिचय देते समय हर्ष के विषय में पहले ही कुछ कहा जा चुका है।

हर्ष का कुटुम्ब अतिशय स्नेहाभिषिक्त वातावरण में आरम्भ में संवर्धित हुआ। उनके पिता प्रभाकरवर्धन, माता यशोवती, बड़े भाई राज्यवर्धन और बहन राज्यश्री—सभी का व्यक्तित्व उदात्त और आत्मगुणों से सम्पन्न था, पर कालचक्र ने राजकीय वैभव के साथ इस स्नेहमय वातावरण का सामञ्जस्य नहीं रहने दिया था। प्रभाकरवर्धन ज्वराक्रान्त होकर मर गये। उनके सामने ही यशोवती सती हो गई। यहीं दुःख का अन्त नहीं हुआ। शीघ्र ही राज्यवर्धन का विश्वासघातपूर्वक वध हुआ और राज्यश्री कारागार में बन्दी बना दी गई। यह था राजचक्र। अब कोई नहीं था हर्ष को अपना कहने वाला। इसी स्थिति में हर्ष का महान् व्यक्तित्व चमकता है। उसके प्रकृति-प्रदत्त गुणों ने सारी प्रजा को उसका बन्धु बना लिया। तभी तो बाण ने लिखा है—

प्रजाभिस्तु बन्धुमन्तो राजानो न ज्ञातिभिः।

आरम्भ में उसका अपने माता-पिता और भाई-बहन के सम्बन्ध में नि:सीम समादर और स्नेह दिखाई देता है और पश्चाद्वर्ती जीवन में वही स्नेह प्रजा की ओर प्रवर्तित हो जाता है। वह प्रकृति की विषमताओं की दृष्टि से ही सहिष्णु नहीं था, अपितु धार्मिक, विर्बन्धों की दृष्टि से भी सुप्रथित सहिष्णु था। बाण और उसके आश्रयदाता दोनों शिवभक्त होते हुए अन्य धर्मों की मान्यताओं का समादर करते थे।

हर्ष अपने मित्रों का अभिन्न मित्र था। उसे प्राग्ज्योतिषेश्वर का सुन्दर उपहार मिला तो उसने मन में सोचा—

'अजर्यं संगतमपहाय काऽस्त्यन्या प्रतिकौशलिका'।
यह है हर्ष में मानव।

शैली

बाण की शैली में अलङ्कारात्मक विशेषणों की लड़ी शोभाधायक है। संस्कृत काव्य में अलङ्कारों का जो अतिशय माहात्म्य पूर्ववर्ती कवियों के माध्यम से चला आ रहा था, उसे बाण ने अक्षुण्ण रखा। बाण के प्रिय अलंकार थे उपमा, रूपक, विरोध, सहोक्ति और निदर्शना। कहीं-कहीं बाण की उपमायें सुपरिचित सी प्रतीत होती हैं। यथा—

(१) अस्मिन्नस्मद्वंशे करिण इव करीरं कोमलमपि कवलयतः कृतान्तस्य कः परिपन्थी। अर्थात जैसे हाथी के लिए बांस का कोमल कोपल होता है, वैसे ही इस वंश में यमराज का कौन शत्रु रह गया है?

(२) काकोदराभिधानाः क्रूराः कृमयोऽपि न मृष्यन्ति निकारं किमुत भवादृशास्तेजसां राशयः। अर्थात् सांप जैसे कीड़े भी अपमान नहीं सहते तो आप जैसे तेजस्वी का क्या कहना?

बाण ने उत्तर-भारतीय शैली में श्लेषालंकार की विशेषता बताई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक स्थानों पर इन श्लेषों में काव्यात्मक चारुता नहीं है, पर उनके प्रयोग से काव्य में एक निरालापन आ गया है, जिससे रचना का स्तर उदात्त हो जाता है।

बाण की शैली का नाम पाञ्चाली है, जिसकी परिभाषा है 'शब्दार्थयोः समो गुम्फः' अर्थात् जिसमें शब्द और अर्थ का संयोजन संतुलित है। बाण की शब्दावली के विषय में कहा जा सकता है कि वह निर्मर्याद है। जितने अधिक शब्द बाण ने प्रयुक्त किये हैं, कदाचित् उतने अधिक किसी अन्य कवि ने नहीं किया हो। साथ ही उन शब्दों का यथोचित, यथास्थान और सन्निवेशानुकूल संचयन करने में बाण अतिशय निष्णात हैं। युद्ध, वियोग, शोक, उपदेश, आदेश आदि विभिन्न अवसरों के लिए उनकी वाक्य-रचना भिन्न-भिन्न प्रकार की है और स्पष्ट ही भावानुवर्तन करती है।

भावों को व्यक्त करने के लिए बाण सदैव उत्सुक रहते थे। मनोविचार-परम्परा को क्रमशः और प्रत्येकशः लेखनीबद्ध करने का अनुपम कौशल इस महाकवि को प्राप्त था। हर्ष के भाई को गौडाधिप ने मार डाला है। हर्ष के तत्कालीन आवेशात्मक विचारों का निदर्शन देखिये—

उपरिगच्छतीच्छति निग्रहाय ग्रहगणेऽपि भ्रूलता चलितुम्। अनमत्सु शैलेष्वपि कचग्रहमभिलषति दातुं करः। तेजो विदग्धानर्ककरानपि चामराणि ग्राहयितुमीहते हृदयम्। राजशब्दरुषा मृगराजानामपि शिरांसि वांछति पादः पादपीठीकर्तुम्।

आदि में व्यंजना की निर्झरिणी सूक्ष्मता से किन्तु सातत्यपूर्वक प्रवाहित की गई है।

शैली का चरम उत्कर्ष वर्णनों में है। जहाँ तक आख्यानों का सम्बन्ध है, बाण की भाषा सरल और अलंकार-रहित सी है। उदाहरण के लिए सप्तम उच्छ्वास का आरम्भ देखिये। हर्ष के प्रयाण का आख्यान है। यह ऐतिहासिक शैली में लिखा गया है। इसमें नाम-मात्र के ही अलंकार मिलते हैं। इस शैली में स्वभावोक्ति अलंकार की छटा कहीं-कहीं अनुत्तम ही है। चित्र सा खींच दिया है बाण के इस प्रयाण-संलाप के आख्यान में—

प्रसर तात। भाव, किं विलम्बसे। लंघति तुरंगमः। भद्र भग्नचरण इव संचरसि यावदमी पुरःसराः सरभपतन्ति पतन्ति। वाहयसि किमुष्ट्रम्? न पश्यसि निर्दय, निःशूकशिशुकं शयानम्? वत्स रामिल, रजसि यथा न नश्यसि तथा समीपे भव। किं न पश्यसि गलति सक्तु-प्रसेवकः। किमेवमित्वर, त्वरसेसौरभेयसरणिमपहाय इयमध्यं धावसि। धीवरि विशसि। गन्तुकामा मातङ्गि मातङ्गमार्गम् आदि।

ऐसे व्याख्यानों में क्रमबद्ध रूप से सैकड़ों वाक्य गुंथे हैं।

बाण की रचना में लम्बे समस्त पदों की छटा स्वभावतः उस युग की देन है। इसे हम भले आज न चाहते हों पर इसके कारण बाण की रचना में हीनता नहीं आती, भले सार्वकालिकता न आती हो। आज बाण की रचना को अधिक समस्त होने के कारण कठिन और अरुचिकर मानने वालों की संख्या अधिक इसलिए है कि ठोस संस्कृत का ज्ञान रखने वालों का अभाव सा होता जा रहा है। प्रत्येक युग की भावात्मक रीति वेषात्मक रीति की भाँति कुछ विशेषतायें ली

होती है, जो उस युग के पश्चात् कुछ अपरिचित सी और विचित्र सी भले ही लगती हो, पर अपने युग के लिए वह सम्भवतः सर्वोत्तम रही हो। सुबन्धु, बाण और दण्डी—इन सभी गद्य-लेखकों की रचनाओं में गद्यशैली प्रायः एक समान लम्बे समासों का जाल प्रस्तुत करती है, पर अपने युग में तीनों महाकवियों को अनुपम प्रतिष्ठा मिली, जिससे यही परिणाम निकाला जा सकता है कि जिस शैली में उन्होंने लिखा, उसी शैली में उस युग में लिखने पर प्रतिष्ठा पाई जा सकती थी, अन्यथा नहीं। काव्यादर्श में इसी की पुष्टि करते हुए कहा गया है—

ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।

अर्थात् समासहीन गद्य निष्प्राण है।

इसी महाप्राण-शैली की उपर्युक्त विशेषता का भयंकर रूप में निदर्शन करते हुए श्री वेबर ने कहा है—

'an Indian wood where all progress is rendered impossible by the undergrowth until a traveller cuts out a path for himself and when even then he has to reckon with malicious wild beasts in the shape of unknown words that affright him,'[1]

कुछ भारतवासी भी अपनी आलोचना-दृष्टि को काम में न लाते हुए उपर्युक्त मत को अपनाते हैं। उन्हें यह सोचना चाहिए कि वेबर महोदय की मातृभाषा में अथवा योरपीय अन्य भाषाओं में समास का प्रचलन बहुत कम है और जो समास हैं, वे भी नितान्त लघु। कुछ स्थलों पर समासों को भी अनादर की दृष्टि से देखा जाता है। भला ऐसी भाषा का पुजारी इस लम्बे समास वाली बाण की वाक्यावली के प्रति असन्तोष क्यों न प्रकट करता। इस आलोचक ने साथ ही लिख मारा है कि बाण ने अपरिचित शब्दों का प्रयोग किया है। यह कवि का गुण है न कि दोष कि वह वेबर जैसे पाठकों की शब्द-राशि को बढ़ाने का अवसर प्रदान करता है।

---

1. Weber, Indische Studien 1,308-86

बाण की शैली में कहीं-कहीं लिट् लकार के कर्मवाच्यात्मक प्रयोग दिखाई पड़ते हैं, जो आज की दृष्टि से कुछ दुरूह पड़ते हैं। बाण के प्रयुक्त कुछ पद पाणिनि के सूत्रों के अनुसार चिन्त्य माने गये हैं, पर इनकी संख्या इनी-गिनी है।

बाण का शैली-सम्बन्धी अपना निजी दृष्टिकोण था, जिसे उन्होंने हर्षचरित के प्रारम्भ में स्पष्टतया व्यक्त किया है। बाण का कहना है कि कवि की दृष्टि रागरहित होनी चाहिये।[१] सुकविता क्या है—अभिनव अर्थ, अग्राम्योक्ति (जिसमें कोरी विज्ञानोपयोगी वाग्गुम्फ न हो), सरल श्लेष, स्पष्ट रस और चमकते हुए अक्षरबन्ध का सुप्रयोग।[२]

बाण ने अपनी आख्यायिका की शैली का सुन्दर विश्लेषण नीचे लिखे श्लोक में किया है—

सुखप्रबोधललिता सुवर्णघटनोज्ज्वलैः।
शब्दैराख्यायिका भाति शय्येव प्रतिपादकैः॥

(अनायास समझ में आने के कारण ललित, अच्छे वर्णों के प्रयोग से चमत्कार पूर्ण, शब्दों के द्वारा आख्यायिका उस शय्या के समान सुशोभित होती है जिस पर शयन के पश्चात् आनन्दप्रद जागरण होता है और जिसके पाद स्वर्ण-जटित हों।)

साम्प्रदायिक आलोचना

परवर्ती कवियों और काव्यशास्त्रज्ञों ने कहीं-कहीं अपनी अनूठी सूक्तियों के द्वारा सूत्र-रूप में बाण की शैली की विशेषताओं का वर्णन किया है।

हर्षचरित की विशेषताओं का आकलन सोड्ढल ने महाकवि बाण को राजा हर्ष से भी बढ़कर हर्षप्रद बतलाते हुए किया है। उनका कहना है—

---

१. प्रायः कुकवयो लोके रागाधिष्ठितदृष्टयः।
कोकिला इव जायन्ते वाचालाः कामकारिणः॥४

२. नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्॥८

श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु ।
श्रीहर्ष एव निजसंसदि येन राज्ञा
सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः ॥

इसी सोड्ढल ने हर्षचरित में कविवर की अतिशायिनी शक्ति की उद्भावना की है—

बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य
शक्तिं न केऽत्र कवितासु मदं त्यजन्ति ।
मान्द्यं न ऽस्य च कवेरिह कालिदास—
वाच । रसेन रसितस्य भवत्यधृष्यम् ॥

रुय्यक ने बाण की कृति हर्षचरित का अभिनन्दन करते हुए कहा है—

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण समर्पितानि कवये बाणाय कुत्राद्य तत् ।
या बाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टंकिताः कीर्तय—
स्ता कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम् ॥

अतिशयता

बाण की शैली में काव्योचित अतिशयता है। उनकी दृष्टि में हर्ष का राजद्वार क्या है—

महाभारतशतैरप्यकथनीयसमृद्धिसम्भारम् ।

अर्थात् सैकड़ों महाभारत लिखे जाँय तब भी पूरा वर्णन नहीं हो सकता। बाण इसके सम्बन्ध में और कहते हैं—

कृतयुगसहस्रैरिव कल्पितसन्निवेशम्, स्वर्गार्बुदैरिव विहित-रामणीयकम्, राजलक्ष्मीकोटिभिरिव कृतपरिग्रहम्

वर्णना

बाण वर्णन करने में अपनी विश्वात्मक विज्ञप्ति का परिचय देते हैं।[१] राजकीय अश्वशाला का वर्णन है। उत्पन्न हुए देश की दृष्टि से वनायुज, आरट्टज, काम्बोज, भारद्वाज, सिन्धु-देशज, पारसीक आदि गिनाकर रंगों की दृष्टि से शोण, श्याम, पिञ्जर, हरित, तित्तिर, कल्माष आदि कोटियाँ बताईं। फिर लक्षण की दृष्टि से पञ्चभद्र, मल्लिकाक्ष, कृत्तिका पिंजर आदि, आकार की दृष्टि से आयत-निर्मांस-मुख, अनुत्कटकर्ण कोश आदि, गिनाया है। ऐसे ही जिस किसी वस्तु का वर्णन करना है, उसका सूक्ष्मतम दृष्टि से निदर्शन करा देना बाण की वर्णना का चमत्कार है। ग्रीष्म का वर्णन लीजिये। बाण ने इसका नाम महाकाल दिया है। वे कहते हैं-- वह महाकाल चमेली के फूलों के माध्यम से अट्टहास करता हुआ आ पहुँचा। उसके वर्णन की अक्षर-ध्वनि से ही ग्रीष्म का परिचय मिलता है,--

क्रमेण च खरखरामयूखे, खर्पिहतशैशवे, शुष्यत्सरसि, सीदत्स्रोतसि, मन्दनिर्झरे, झिल्लिकाझांकारिणि, कातरकपोत-कूजितानुबन्धबधिरितविश्वे, श्वसत्पतत्रिणि, करीषंकषमरुति, विरलवीरुधि, रुधिरकुतूहलिकेसरिकिशोरक लिह्यमानकठोरधातकी स्तम्बके आदि।

उपर्युक्त उद्धरण में वही निःस्निग्धता है, जो ग्रीष्म में होती है। वर्णन का प्रत्येक वर्ण सूखता हुआ सा है।

वर्णनायें बाण को अतिशय प्रिय थीं, घटनायें उतनी प्रिय नहीं थीं। हर्ष से मिलने जा रहे हैं पर मार्ग में अश्वों का वर्णन, दर्पशात हाथी का वर्णन और उनके दर्शन में इतने तल्लीन हैं कि दौवारिक को कहना पड़ा--

तदेहि, पुनरप्येनं द्रक्ष्यसि। पश्य तावद्देवम्।

---

१. बाण के शब्दों में ही--

किं कवेस्तस्य काव्येन सर्ववृत्तान्तगामिनी।
कथेव भारती यस्य न व्याप्नोति जगत्त्रयम्॥ हर्ष, ६

हर्षचरित अनोखे वर्णनों का एक संसार ही है, जिसमें ब्रह्मा से लेकर कथा कहने वाली जरती, स्वर्ग लोक से लेकर किसानों के गाँव, सम्राट् के वैभव से लेकर अकिंचन की दीनता और सत्ययुग से लेकर कलियुग तक के सब कुछ नैसर्गिक और कृत्रिम विभूतियों का संकलन है। सर्वोत्तम वर्णन के विषय हैं—प्रह्लोध, सूर्यास्त, रात्रि, मन्दाकिनी, वात्स्यायन वंश, ग्रीष्म, पारियात्र प्रतिहार, अश्वशाला, दर्पशात हस्ती, सम्राट् हर्ष, शरत्काल, श्रीकण्ठ जनपद, स्थाण्वीश्वर, भैरवाचार्य, पुत्र-जन्म, राज्यश्री-विवाह, मृगया, दिग्विजय, अपशकुन, प्रयाण, छत्र, वर्षा, विन्ध्याटवी ग्राम-जीवन, शबर-युवक, आश्रम, वृक्ष, चन्द्रोदय आदि। प्रायशः प्रकृति की गति बाण की दृष्टि में उनकी आख्यानगत संघटनाओं के अनुरूप ही रहती है। वर्णनों की रूप-रेखा ऐसी स्थिति में आख्यानों की भूमिका-रूप में शोभनीय होती है।

बाण के कुछ वर्णन अनावश्यक रूप से व्यर्थ से प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए देखिये षष्ठ उच्छ्वास का अन्तिम भाग, जहाँ हर्ष के प्रयाण करते ही शत्रुओं के यहाँ क्या अपशकुन हुए। फिर भी ऐसे अनावश्यक विवरणों में भी एक विचित्रता और काव्यात्मकता अवश्य ही है। इन वर्णनों में बाण ने सातवीं शताब्दी के भारत की आँखो देखी स्थिति का अत्यन्त सूक्ष्मता से और सर्वतोग्राही दृष्टि से वर्णन किया है। कोई भी पाठक यह सोच नहीं सकता है कि उन वर्णनों के बाहर भी कोई वस्तु है, जो अलिखित रह गई है।

काव्य-गौरव

हर्षचरित का काव्य-गौरव अतिशय उदात्त है। इतिहास की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का थोड़ा-बहुत महत्त्व है ही, यद्यपि इसमें इतिहास के लिए अपेक्षित तथ्यों के विवरणों का प्रायशः अभाव है। फिर भी सांस्कृतिक दृष्टि से इस काव्य का गौरव बहुत ही ऊँचा है। इसमें तत्कालीन भारत के सामाजिक और राजनीतिक जीवन का जीता-जागता चित्र खींचा गया है। राजा और प्रजा के सम्बन्ध का जैसा विश्लेषण इस ग्रन्थ में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है।

सूक्ति-सौरभ

बाण की अनूठी सूक्तियाँ उनके गम्भीर अनुभव, सदाचार और चरित्र-निर्माण की प्रवृत्तियों पर प्रकाम प्रकाश डालती हैं। इस प्रकार की सूक्तियाँ अर्थ-सहित नीचे दी जाती हैं—

(१) विशुद्धया हि धिया पश्यन्ति कृतबुद्धयः सर्वानर्थानसतः सतो वा।

विद्वान् अपनी शुद्ध बुद्धि से अच्छे या बुरे सभी विषयों को समझ लेते हैं।

(२) निसर्गविरोधिनी चेयं पयःपावकयोरिव धर्मक्रोधयोरेकत्र वृत्तिः।

जैसे आग और पानी एकत्र नहीं रहते, वैसे ही धर्म और क्रोध दोनों एकत्र नहीं रहते।

(३) क्षमा मूलं हि सर्वतपसाम्।

सभी तपस्याओं की जड़ क्षमा है।

(४) अक्षीणः खलु दाक्षिण्यकोशो महताम्।

महापुरुषों की उदारता का कोश कभी क्षीण नहीं होता।

(५) न सन्त्येव ते येषां सतामपि न विद्यन्ते मित्रोदासीनशत्रवः।

अच्छे लोगों के भी मित्र, उदासीन और शत्रु होते ही हैं।

(६) वीराणां स्वपुनरुक्ताः परोपकाराः।

वीरों का उपकार करना कभी रुकता नहीं।

(७) सम्पत्कणिकामपि प्राप्य तुलेव लघुप्रकृतिरुन्नतिमायाति।

छोटे लोग थोड़ी सम्पत्ति पा लेने पर भी ऊपर चढ़ जाते हैं।

(८) अनपेक्षितगुणदोषः परोपकारः सतां व्यसनम्।

बिना गुण-दोष का विचार किये ही सज्जन परोपकार करते रहते हैं।

(९) अलौहः खलु संयमनपाशः सौजन्यमभिजातानाम्।

उच्च कुलोत्पन्न लोगों का सौजन्य बाँध लेने के लिए लोहे की साँकल से भी अधिक दृढ़ होता है।

(१०) अंगनवेधी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥

प्रतिज्ञा किये हुये वीर के लिए पृथ्वी आँगन की वेदी की भांति, समुद्र पोखरी की भांति, पाताल स्थली की भांति और सुमेरु वल्मीक की भांति होता है।

(११) भव्या न द्विरुच्चारयन्ति वाचम् ।

सज्जन अपनी बात को पलटते नहीं।

कादम्बरी

कादम्बरी की रचना बाण ने सम्भवतः हर्षचरित के पश्चात् की। इसे महाकवि ने कथा-कोटि में रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना करते हुए बाण दिवंगत हो गये और बाण के योग्य पुत्र पुलिन भट्ट ने अत्यन्त योग्यतापूर्वक इस कथा के उत्तर भाग का प्रणयन किया, जो पूरी पुस्तक का लगभग तृतीयांश है। कादम्बरी का रोचक कथानक प्रायः एक प्रणय गाथा है, जिसकी नायिका कादम्बरी है।

कथानक

पूर्वभाग

शूद्रक नामक राजा विदिशा राजधानी से समस्त भूमण्डल को जीत कर शासन करता था। एक दिन उसकी राजसभा में एक चाण्डाल कन्या पिंजरे में एक तोता लेकर उसे राजा को उपहार देने के लिये आई। वह तोता सभी शास्त्रों का पण्डित था, स्वयं सुभाषित बनाता था। चित्र बनाता था। द्यूत-क्रीड़ा में निपुण था। वह वैशम्पायन नामक तोता सभी भूतल का रत्न था। वह राजा के लिए जय श्लोक पढ़ने लगा। तोते की योग्यता से सभी विस्मित थे। उत्सुकतावश राजा ने उससे अपनी कथा कहने का आदेश दिया। तोते ने कहना आरम्भ किया।

विन्ध्याचल की वन्यभूमि के दण्डकारण्य भाग में पम्पा-सरोवर के तट पर महान् जीर्ण शाल्मलि-वृक्ष था। उस वृक्ष के सहस्रों घोसलों में नाना देशों से आये हुए शुकों के कुटुम्ब रहते थे, जो दिन में आहार करके लौटते हुए अपने शावकों के लिए विविध फलों के रस और धान की मंजरी लाकर उन्हें खिलाते थे और उन्हें गोद में लेकर सो जाते थे। एक जीर्णकोटर में अपने माँ-बाप का अकेला पुत्र मैं उत्पन्न

हुआ। जन्मकालीन पीड़ा से माँ मर गई। विधुर वृद्ध पिता मुझे पालने लगे। वे उड़ने में असमर्थ थे और शिलोञ्छवृत्ति से मेरा पेट भर कर स्वयं खाते थे।

अभी मुझमें उड़ने की शक्ति स्वल्प ही थी कि एक दिन शबरों की सेना वहाँ से गई और उनमें से एक बूढ़े शबर ने हमारे शरण्य वृक्ष को देखा और उस पर चढ़कर तोतों के बच्चों को मार-मार कर नीचे गिराने लगा। मेरे पिता ने मुझे अपने डैनों में छिपा लिया। शबर ने मेरे पिता को मारकर पृथ्वी पर गिरा दिया। उनके डैनों में छिपा मैं भी साथ आ गिरा और प्राण-रक्षा के लिए तमाल वृक्ष की जड़ में छिपा और फिर सरोवर के समीप आने का प्रयास करने लगा। प्यास लगी थी। कष्ट और पितृशोक से मर जाना चाहता था।

इसी समय याज्ञवल्क्य के पुत्र हारीत स्नान करने के लिए उधर से निकले। उन्होंने मेरी मरणासन्न अवस्था देखी तो जीवन-दान दिया। अपने हाथों पानी पिलाया, नहलाया और कमल-पत्रों की शीतल छाया में सुला दिया। स्वयं स्नान करके मुझे लेकर आश्रम में आये। आश्रम में अशोक वृक्ष के नीचे वृद्ध महर्षि जाबालि बैठे दिखाई पड़े। उसी अशोक वृक्ष की छाया में हारीत ने मुझे एक ओर बिठा दिया। वहाँ लोग मेरे विषय में पूछ-ताछ करने लगे। जाबालि को मेरे विषय में कुतूहल हुआ तो योगदृष्टि से मेरे पूर्व जन्म का वृत्तान्त जानकर बोले—स्वस्यैवाविनयस्य फलमनेनानुभूयते अर्थात् अपने अविनय का ही फल यह भोग रहा है। लोगों ने यह सुनते ही महर्षि से कहा—इसका पूर्ववृत्त सुनाकर हमारी जिज्ञासा शान्त करें। जाबालि ने सुनाना आरम्भ किया—

अवन्ति प्रदेश में उज्जयिनी नगरी है। वहाँ राजा तारापीड था। उसका मन्त्री शुकनास था। राजा ने शासन-भार मन्त्री पर डाल रखा था। राजा की महारानी विलासवती थी। सौभाग्य से उन्हें मनचाहा पुत्र हुआ, जिसका नाम चन्द्रापीड रखा गया। इधर शुकनास का भी पुत्र हुआ, जिसका नाम वैशम्पायन रखा गया।

चन्द्रापीड और वैशम्पायन की साथ ही राजोचित शिक्षा—दीक्षा हुई। इसके पश्चात् चन्द्रापीड राजा के द्वारा भेजे हुये उच्च कोटि के अश्व इन्द्रायुध पर बैठकर राजधानी में लौट आया। वैशम्पायन भी साथ आया। माता-पिता से मिलने के पश्चात् वह शुकनास के घर पहुँचा। इस प्रकार साधारण शिष्टाचार पूर्ण करके वह सुखपूर्वक रहने लगा। इसी समय पत्रलेखा नामक कुलूतेश्वर की कन्या उसके लिये माता की आज्ञानुसार ताम्बूलकरंकवाहिनी नियुक्त हुई।

कुछ समय पश्चात् चन्द्रापीड का अभिषेक हुआ और वह दिग्विजय के लिए चल पड़ा। वह पत्रलेखा के साथ एक हथिनी पर बैठ गया। उसने प्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रयाण किया। तीन वर्ष तक सारे द्वीपों को जीतते हुए वह भ्रमण करता रहा। अन्त में वह हेमकूट पर्वत पर विश्राम करने लगा।

एक दिन चन्द्रापीड वैशम्पायन के साथ मृगया के लिए निकल पड़ा। उसे किन्नरों का मिथुन दिखाई पड़ा। वह उन्हें पकड़ने के लिए घोड़े पर दौड़ते हुए १५ योजन चला गया। किन्नर-युग्म हाथ नहीं लगा। एक सरोवर के निकट विश्राम करने के लिए चन्द्रापीड रुक गया। कुछ देर तक विश्राम कर लेने पर उसे इस मनोरम सरोवर के उत्तर तट की ओर से आती हुई रमणीय स्वर-लहरी सुनाई पड़ी। उसी की खोज में जाते हुए उसे चन्द्रप्रभा नामक कैलास पर्वत के पादप्रदेश में शिव का पुण्य मन्दिर मिला। वहाँ मन्दिर में शिव की उपासना करती हुई एक कन्या दिखाई पड़ी। वही तपस्विनी बाला गा रही थी।

वह कन्या चन्द्रापीड को अतिथि मानकर सत्कार करने के लिए उन्हें अपनी आवास-गुहा तक ले गई। तत्पश्चात् चद्रापीड के पूछने पर उसने अपनी कथा सुनाई——

हंस और गौरी के प्रसिद्ध गन्धर्व कुल में मेरा जन्म हुआ। मेरा नाम महाश्वेता रखा गया। युवावस्था में बसन्त ऋतु में एक बार इसी प्रदेश में पूजा के पश्चात् जब मैं प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण कर रही थी तो मुझे किसी अनुपम कुसुम-परिमल की गन्ध मिली। उस सुगन्धि का उद्भव जानने के लिए जब मैं आगे बढ़ी तो एक सुन्दर मुनिकुमार पुष्प-चयन करते हुए दिखाई पड़े। उनके साथ एक दूसरा मुनिकुमार भी था। उन श्रेष्ठ मुनिकुमार को देखते ही मैं उनके प्रति आसक्त हो गई। मैंने उन्हें प्रणाम किया। वे भी मेरे प्रति अतिशय आसक्त हो गये। मैंने दूसरे मुनिकुमार से उनका परिचय पूछा तो उन्होंने बताया——

दिव्य लोक में श्वेतकेतु नामक महामुनि रहते हैं। उनके सौन्दर्य पर मुग्ध मात्र होने से लक्ष्मी को एक पुत्र हुआ, जिसे उन्होंने श्वेतकेतु को दे दिया। उसका नाम पुण्डरीक रखा गया। यह वही कुमार हैं।

पुण्डरीक ने अपने कान में खोंसी हुई पारिजात-मंजरी को निकाल कर मेरे कान में खोंस दिया क्योंकि मैंने उसके विषय में पहले जिज्ञासा प्रकट की थी। प्रेमासक्ति के इस चरमोत्कर्ष के समय ही मेरी छत्रग्राहिणी ने मुझे स्नानादि करने के लिए आमन्त्रित किया। मैं जब जाने लगी तो पुण्डरीक अधीर हो उठा। मैं स्नान

करके अन्तःपुर में आ गई। मुनिकुमार के ध्यान में लीन होकर मैं उनके पथ को अवकाश पाकर निरन्तर देखा करती थी। इसी बीच मेरी ताम्बूलवाहिनी ने मुझे पुण्डरीक का एक पत्र दिया।

इसी बीच उस कुमार का साथी (कपिंजल) मुझसे घर पर मिला और उसने अपने मित्र की वियोग-जनित अवस्था का वर्णन किया और उससे मिलन की प्रणय याचा की।

अन्त में उसी रात को तरलिका नामक सहेली को साथ लेकर मैंने पुण्डरीक से मिलने के लिए अभिसार किया। मार्ग में ही दूर से कपिंजल के रोने और विलाप करने की ध्वनि सुनाई पड़ी। मैं दौड़ गई तो महात्मा पुण्डरीक को मरा पाया। मैंने विलाप तो किया ही, सती होने के लिए चिता बनवाने के लिए तरलिका को आदेश दिया। उसी समय चन्द्रमंडल से एक पुरुष उतर कर आया। उसने मुझसे कहा— 'वत्से महाश्वेते, प्राण मत छोड़ो। इसके साथ तुम्हारा पुनः समागम होगा।' वह पुण्डरीक के शरीर को लेकर आकाश में उड़ कर चला गया। कपिंजल भी अपने मित्र को ले जाने वाले के पीछे उड़ कर चला गया।

इतनी कथा सुनाकर महाश्वेता पुनः रोने लगी। जब किसी प्रकार कुछ चुप हुई तो चन्द्रापीड ने उससे पूछा कि वह तरलिका कहां गई ? महाश्वेता ने बताया—

चित्ररथ गन्धर्व की मदिरा नामक अप्सरा से कादम्बरी नामक कन्या उत्पन्न हुई। वह जन्म के समय से मेरी संगिनी है। उसने व्रत लिया है कि जब तक महाश्वेता शोक में है, मैं विवाह नहीं करूंगी। उसके पिता ने उसकी युवावस्था देख कर मेरे पास सन्देश भेजा है कि मैं उससे यथाशीघ्र विवाह कर लेने के लिए स्वीकृति ले लूं। मैंने तरलिका को कादम्बरी के पास भेजा है कि उससे कहे— यदि तू मुझे जीवित रखना चाहती है तो गुरुओं की बात पूरी कर।

तरलिका कादम्बरी के वीणा-वादक बालक केयूरक के साथ जब लौटी तो उसने कहा कि केयूरक ही कादम्बरी के सन्देश को बतायेगा। केयूरक ने बताया कि कादम्बरी अपने व्रत में दृढ़ है।

महाश्वेता की इच्छानुसार चन्द्रापीड भी उसके साथ कादम्बरी के निवास स्थान हेमकूट पर गया। वहां कादम्बरी ने चन्द्रापीड को देखा और केयूरक से पूछा कि यह कौन है ? महाश्वेता से इसका परिचय कैसे हुआ ? क्योंकर यह यहां आया ?

कादम्बरी और चन्द्रापीड एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए । इधर महाश्वेता जब कादम्बरी से मिला तो उसने सर्वप्रथम चन्द्रापीड का परिचय कराया और कहा कि यह तुम्हारे मित्र, बन्धु और परिजन हैं । फिर चन्द्रापीड ने कादम्बरी को प्रणाम किया । कादम्बरी ने महाश्वेता के कहने से चन्द्रापीड को प्रेमोन्मादित रीति से ताम्बूल प्रदान किया ।

जब महाश्वेता को कादम्बरी के माता-पिता से मिलने के लिए जाना पड़ा तब कादम्बरी की इच्छानुसार चन्द्रापीड उसी की आवास-भूमि के पास क्रीडा-पर्वत के मणि वेश्म में ठहर गये । सन्ध्या के समय जब महाश्वेता लौट कर आई तो कादम्बरी ने अपने प्रणय के सूत्रधार रूप में एकशेष नामक रत्न का हार चन्द्रापीड के पास भेजा । महाश्वेता का सन्देश था कि चन्द्रापीड उसे अवश्य स्वीकार करें । चन्द्रापीड ने उसे स्वीकार किया ।

रात्रि के समय मुक्ता-शिला-पट्ट पर सोये हुए चन्द्रापीड से मिलने के लिए कादम्बरी आई । उसने चन्द्रापीड से उसके देश और कुटुम्ब आदि के विषय में पूछ-ताछ की और बहुत देर तक ठहरने के पश्चात् अपने घर चली गई । दूसरे दिन चन्द्रापीड ने वहाँ से लौट कर अपने देश जाने की आज्ञा मांगी । वहाँ से चन्द्रापीड महाश्वेता के आश्रम पर आया । वहाँ उसकी सेना भी आ चुकी थी । दूसरे दिन वहाँ केयूरक फिर आया । वह कादम्बरी के उपहार लाया था । उसने महाश्वेता का सन्देश चन्द्रापीड को सुनाया कि आप एक बार और आयें । केयूरक ने एकान्त में कादम्बरी की वियोगजन्य दशा सुनाई तो तुरन्त घोड़े पर चढ़ कर चन्द्रापीड उससे मिलने चल पड़े । पत्रलेखा उनके साथ गई । पत्रलेखा का कादम्बरी से विशेष प्रेम बढ़ा । कादम्बरी से मिल कर जब चन्द्रापीड लौटकर जाने लगे तो उसकी इच्छानुसार पत्रलेखा वहीं कादम्बरी के साथ रह गई ।

चन्द्रापीड को अपने स्कन्धावार में आने पर अपने पिता तथा मंत्री के दो पत्र मिले, जिनमें लिखा था कि शीघ्र लौट आओ, तुम्हें देखे बहुत दिन हो गये । चन्द्रापीड वहाँ से चल पड़ा । उसने मेघनाद नामक सेनाधिकारी से कहा कि तुम पत्र-लेखा को लेकर आना । उसने सेना के साथ आने के लिए वैशम्पायन को आदेश दिया ।

थोड़े दिनों में चन्द्रापीड उज्जयिनी लौट आया । कुछ ही दिनों के पश्चात् पत्रलेखा को कादम्बरी ने चन्द्रापीड के लिए अपना संदेश दिया, जिसे लेकर वह उज्जयिनी आई और राजकुमार को सुनाया ।

उत्तरभाग

कादम्बरी से पत्रलेखा ने कहा था कि आप ऐसा समझें कि मैं चन्द्रापीड को लेकर आ ही गई। तब कादम्बरी ने उसे उपहार देकर जाने की अनुमति दी थी।

कादम्बरी की स्थिति सुनकर चन्द्रापीड व्याकुल हो उठा। उसने पत्रलेखा से कहा कि मैं ऐसा काम करूंगा, जिससे कादम्बरी मुझे निष्ठुर हृदय का व्यक्ति न समझे। फिर पत्रलेखा को चन्द्रापीड की माता के पास जाना पड़ा।

चन्द्रापीड कादम्बरी की चिन्ता में ग्रस्त रहने लगा। इसी बीच एक दिन वह सिप्रा के तट पर घूम रहा था। उस समय केयूरक घोड़े पर आता हुआ दिखाई पड़ा। उसने बल्लभोद्यान में पत्रलेखा की उपस्थिति में उसके साथ हेमकूट के सभी नव परिचित जनों का समाचार जाना। केयूरक ने कहा कि आप के चले आने से मानों सब पर वज्रपात हो गया है। कादम्बरी के विषय में कहा—त्वद्दिदृक्षया विघटमानं हृदयमभिवाञ्छति। अर्थात् आप उसके हृदय में हैं तो हृदय के फटने पर उसके नेत्रों के सामने प्रकट हो जायेंगे। आपकी चिन्ता करते-करते मूर्च्छित हो जाती है।

कादम्बरी की स्थिति सुनते-सुनते चन्द्रापीड भी मूर्च्छित हो गये। उन्होंने कहा कि यदि मैं ऐसा जानता तो वहीं ऐसा उपाय करता कि ऐसी स्थिति नहीं आती। अब यहाँ आया हुआ भी देवी कादम्बरी कोआश्वस्त करने का उपाय करूंगा। तो क्या हम लोग जब तक यहाँ से वहाँ पहुँचेंगे कादम्बरी वहाँ जीवित रहेंगी। केयूरक के कथनानुसार फिर हेमकूट-यात्रा का निश्चय चन्द्रापीड ने किया। पर माता-पिता से कैसे छुट्टी ली जाय ? इन सब विचारों में निमग्न चन्द्रापीड को देखकर केयूरक ने कहा कि मैं तो जाता हूँ कादम्बरी से आपके आने का समाचार कहने और आप यथासमय शीघ्र आयें। फिर पत्रलेखा और केयूरक,सेनाधिपति मेघनाद के साथ हेमकूट की ओर चल पड़े। चन्द्रलेखा का भावुकतापूर्ण सन्देश कादम्बरी के लिए चन्द्रापीड ने दिया।

चन्द्रापीड उनका प्रस्थान करा कर राजा तारापीड के पास आया। वहाँ राजा ने उसके विवाह की चर्चा की। राजा भोजन के लिए चले गये। इधर रात्रि के समय चन्द्रापीड ने प्रस्थान-सूचक शंखनाद कराया कि सेना-सहित आते हुए वैशम्पायन से मिलने जाना है, जो दशपुर तक लौट आया है। वह शीघ्र ही दशपुर पहुँच कर अपनी सेना में घुस कर वैशम्पायन का आवास पूछने लगा।

बहुत पूछने पर उन्हें राजन्यों से ज्ञात हुआ कि वैशम्पायन सेना के साथ न आ सके। वे अच्छोद-सरोवर-तटवर्ती लतामण्डप की ओर गये और वहीं विवश की भाँति पड़े रहे। उन्होंने कहा कि मैं यहाँ से नहीं जा सकता। मेरा शरीर यहीं कीलित सा हो गया है। आप लोग यहाँ न रहिए। यदि मुझे बलात् ले जाइयेगा तो मैं जीवित न रह सकूँगा। मैं यहाँ से जाने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। हम लोग तीन दिन वहाँ पड़े रहे पर जब वे टस से मस न हुए तो उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करके हम लोग लौट आये। दशपुर से सारी सेना के साथ चन्द्रापीड उज्जयिनी लौट आया। वहाँ से बाहर ही बाहर वह वैशम्पायन के पिता मन्त्री शुकनास के यहाँ पहुँचा, जहाँ राजा पहले से ही गये थे। वहाँ शुकनास पुत्र के वियोग में विलाप कर रहा था। वह वैशम्पायन को दोष दे रहा था। राजा ने उसे समझाया कि दोष देने के पहले कारण जान लेना चाहिए कि वैशम्पायन क्यों रुक गया ?

चन्द्रापीड ने शुकनास से कहा कि वैशम्पायन को लौटा लाने के लिए मेरे पिता की अनुमति दिला दीजिये। फिर मैं तत्काल उसे करता हूँ। पिता की तदनुसार आज्ञा पाकर चन्द्रापीड वैशम्पायन को खोजने उड़ पड़ा। मार्ग में वह सोचता था कि वैशम्पायन से ऐसे मिलूँगा, यह कहूँगा आदि। वहीं कादम्बरी से पाणिग्रहण करूँगा। इस प्रकार मिलन-प्रसंगों की बात सोचता हुआ दिन-रात चलता ही रहा। वर्षा आई और यात्रा-कष्ट बढ़ा। एक दिन जब यात्रा की एक तिहाई शेष रही, उसे मार्ग में वह मेघनाद सेनापति मिला, जो पत्रलेखा को कादम्बरी के पास छोड़कर आ रहा था। उसने बताया कि मुझे मार्ग से ही केयूरक ने लौटा दिया क्योंकि आगे का मार्ग सुपरिचित और सुरक्षित था।

चन्द्रापीड चलता गया और अच्छोद-सरोवर के निकट पहुँचने पर उसने साथियों को पीछे रोककर कहा कि अकेले वैशम्पायन से मिलने जा रहा हूँ। बहुत खोजने पर भी वह न मिला। तब वह सब कुछ जानने के लिए महाश्वेता के पास पहुँचा। वह अश्रुपात करती हुई मिली। उसने कहा—

केयूरक से आपके चले जाने के वृत्तान्त सुनकर मेरा हृदय विदीर्ण हो गया। फिर मैं वहाँ से कठोर तप करने के लिए लौट आई। यहाँ मैंने आपके समान ही एक ब्राह्मण-युवक देखा। वह अपरिचित होने पर भी पुराने परिचित की भाँति मुझे देखता रहा। मानो वह कुछ भूली बातें स्मरण कर रहा हो। अन्त में मेरे तपस्विनी बने रहने की अयोग्यता पर व्याख्यान दे डाला। शृङ्गार की बातें करने लगा।

मुझे ऐसे लोगों से बात करने की इच्छा न रह गई थी। मैं अन्यत्र चली गई और अपनी सखी तरलिका से कहलवाया कि वह यहाँ से चला जाय, नहीं तो उसका अनिष्ट होगा। पर उस ब्राह्मण ने हठ नहीं छोड़ा। एक रात शोभन चन्द्रिका में चन्द्रमा से अपने पुण्डरीक को पाने की आशा लगाये जब मैं बैठी थी, उसी समय वह ब्राह्मण आ गया। उसे देखने से लगता था कि वह पूर्णतः काम-सन्तप्त हो। उसे देखकर मैं डरी कि कहीं मुझे छू न ले, नहीं तो शरीर का त्याग करना पड़ेगा। उसने प्रणय याञ्चा की। मैंने प्रत्युत्तर दिया—आः पाप, कथमेवं वदतो मामुत्तमाङ्गे ते न निपतितं वज्रम्। अवशीर्णा वा न सहस्रधा जिह्वा। विह्वलतां न गता वा वाणी। नष्टानि वा नाक्षराणि। मैंने शाप दिया कि यदि पुण्डरीक के अतिरिक्त किसी पुरुष का ध्यान न किया हो तो यह तोता हो जाय। वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

चन्द्रापीड ने यह सुना तो कहा—अगले जीवन में कादम्बरी से मिलन कराइयेगा। यह कह कर वह चल बसा। यह देखकर महाश्वेता भी मूर्च्छित हो गई। चन्द्रापीड के सभी साथी आर्त हो गये। चन्द्रापीड का अश्व इन्द्रायुध छटपटाने लगा। इसी बीच कादम्बरी भी चन्द्रापीड से मिलने वहाँ आ गई। बहुत विलाप करने के पश्चात् उसने चन्द्रापीड के चरण अपनी गोद में रख लिये। उसी समय चन्द्रापीड के शरीर से एक ज्योति निकली और देववाणी सुनाई पड़ी—वत्से महाश्वेते, पुनरपि त्वं मयैव समाश्वासितव्या वर्तसे। तत्ते पुण्डरीक-शरीरं मल्लोके मत्तेजसाप्यायमानमविनाशि भूयस्त्वत्समागमनाय तिष्ठत्येव। इदमपरं मत्तेजो स्वत एवाविनाशि विशेषतोऽमुना कादम्बरी-करस्पर्शेनाप्यायमानं चन्द्रापीड-शरीरं शापदोषाद्विमुक्तमप्यन्तरात्मना कृतशरीरसंक्रान्तेर्योगिन इव शरीर-मत्रैव भवत्योः प्रत्ययार्थमाशापक्षयादास्ताम्। अर्थात् पुण्डरीक का शरीर सुरक्षित है। चन्द्रापीड का शरीर स्थायी है। इसकी रक्षा शापान्त तक करो। इसे सुनकर सब चकित थे।

इधर पत्रलेखा इन्द्रायुध के साथ यह कहते अच्छोद सरोवर में कूद पड़ी कि हम परिजनों के रहने से क्या लाभ? उसी समय एक तापस कुमार ऊपर निकला। वह महाश्वेता के पास आकर बोला—क्या मुझे पहचाना? महाश्वेता ने कहा आप कपिञ्जल हैं। महाश्वेता ने उनसे पुण्डरीक के विषय में पूरी पूछताछ की। कपिञ्जल ने कहा—

पुण्डरीक को लेकर जब वह देव उड़ा और उसके पीछे मैं उड़ा तो हम सभी चन्द्रलोक पहुँचे। वहाँ पुण्डरीक को चन्द्रकान्तमणि के पलंग पर लिटा कर उस देव ने कहा कि मैं चन्द्रमा हूँ। तुम्हारे मित्र पुण्डरीक ने मेरे उदय होने के समय मुझे शाप दिया कि—

'दुरात्मन्निन्दुहतक, यथाहं त्वया करैः सन्तापित उत्पन्नानुरागः सन्नसम्प्राप्तहृदयवल्लभासमागमसुखः प्राणैर्वियोजितस्तथा त्वमपि कर्मभूमिभूतेऽस्मिन् भारते वर्षे जन्मनि जन्मन्येवोत्पन्नानुरागोऽप्राप्त समागम-सुखस्तीव्रतरां तीव्रतरां हृदयवेदनामनुभूय जीवितमुत्स्रक्ष्यसि ।" मुझ निरपराध को उसने यह जन्म-जन्म में प्रिया-समागम सुख न पाकर ही मरने का जो शाप दिया तो मैंने भी उसे शाप दे डाला कि तुम्हें भी ऐसा ही हो अर्थात् प्रिया का समागम सुख पाये बिना अनेक जन्मों में मरो । बस, वह तत्काल मर तो गया, पर यह जान कर कि इसकी प्रणयिनी महाश्वेता अप्सरा है और अप्सरा-कुल मेरी किरणों से प्रसूत है, मैंने इसके शरीर की यहाँ सुरक्षा की है कि यह अनेक (कम से कम दो) जन्मों तक इस प्रकार प्रिया का सुख न पाकर मरे तो इसी शरीर से जीवित हो उठे ।

इधर मित्र-वियोग से अन्धा होकर मैंने जब किसी वैमानिक का मार्ग लांघा तो उसने मुझे घोड़ा होने का शाप दे दिया । मेरे प्रार्थना करने पर उसने छूट दी कि घोड़ा बनकर जिसकी सेवा करेगा, उसके मरने पर जब स्नान करेगा, उस समय तुम शाप से निवृत्त हो जाओगे । मैंने घोड़ा होने पर भी जब अपने मित्र की संगति की प्रार्थना की तो वैमानिक ने कहा कि चन्द्रमा तारापीड के पुत्र होने वाले हैं । तुम्हारा मित्र उनके मन्त्री शुकनास का पुत्र होगा । तुम उस चन्द्रात्मक कुमार के वाहन बनोगे । मैं इन्द्रायुध घोड़ा बना और अब चन्द्रापीड के मरने के पश्चात् पुनः कपिञ्जल हूँ । मेरा मित्र पुण्डरीक अपने दूसरे जीवन में वैशम्पायन था, जिसे आपने शुक बनने का शाप दिया । वही आपका पूर्व जन्म का प्रणयी पुण्डरीक था । महाश्वेता के पुनः विलाप आरंभ करने पर कपिञ्जल ने कहा कि अब क्यों रोती हैं ? शीघ्र ही पुण्डरीक से आपका मिलन होगा । बस, तपस्या करती रहें ।

कादम्बरी ने कपिञ्जल से पूछा कि पत्रलेखा और आप दोनों जल में कूदे थे । उस पत्रलेखा का क्या हुआ ? कपिञ्जल ने कहा कि अभी ज्ञात नहीं । मैं अब यह जानने के लिए जा रहा हूँ कि चन्द्रात्मक चन्द्रापीड और पुण्डरीकात्मक वैशम्पायन अब कहाँ जन्मे हैं ? यह कह कर वह आकाश में उड़ गया ।

कादंबरी के पूछने पर महाश्वेता ने उससे कहा कि अब तुम चन्द्रापीड के शरीर की रक्षा करो । उसने चन्द्रापीड के शरीर को अलंकृत करके उसकी पूजा आरंभ कर दी । वह वहीं रहने लगी ।

कुछ दिनों के पश्चात् तारापीड के भेजे हुए दूत आये । उन्हें सब समाचार बता दिया गया कि चन्द्रापीड की क्या स्थिति थी । वे चन्द्रापीड का शरीर देखना चाहते थे और कादम्बरी की अनुमति से उसे देखा भी । कादम्बरी ने उन्हें सन्देश

दिया कि चन्द्रापीड के पिता तारापीड से कह दें कि हमने चन्द्रापीड को अच्छोद-सरोवर पर देखा है। दूतों ने कहा कि ऐसा कहने का हममें सामर्थ्य नहीं। तब अन्त में चन्द्रापीड का बाल सेवक त्वरितक उनके साथ यथोचित कहने के लिए भेज दिया गया।

दूतमण्डली उज्जयिनी पहुँची। चन्द्रापीड की माता विलासवती ने उनसे पुत्र का समाचार पूछा। दूतों ने कहा—हमने चन्द्रापीड को अच्छोद सरोवर पर देखा है। आगे की बातें त्वरितक बतायेगा। माता विलासवती रोने लगीं। तारापीड और शुकनास दौड़े आये। त्वरितक ने युवराज सम्बन्धी सारी घटनायें विस्तारपूर्वक बता दीं। वे सब पुत्र के हृदय फटने की बात सुनकर चिता जला कर मरने के लिए उद्यत हो गये। पर त्वरितक ने कथा आगे बढ़ाई कि कुमार का शरीर पूर्ववत् ज्यों का त्यों सुरक्षित है। शाप के कारण यह सब अद्भुत गति है। वैशम्पायन की माता को भी सब समाचार बताया गया।

अन्त में त्वरितक के साथ चन्द्रापीड का शरीर देखने के लिए सभी सम्बन्धी तारापीड आदि चले। वे सभी कालान्तर में अच्छोद-सरोवर पहुँच गये। वहाँ से दूतों के माध्यम से चन्द्रापीड की स्थिति जानकर वे सभी महाश्वेता के आश्रम पर गये। विलासवती चन्द्रापीड का शरीर देख कर विलाप करने लगी। राजा ने समझाया कि इनके लिए शोक करना व्यर्थ है। यह दैवी चरित है। रानी ने भावी पुत्र-वधू को देखा। वह मूर्च्छित पड़ी थी। उसने सचेत होने पर गुरुजनों के चरण छुए और लोगों ने उसे आशीर्वाद दिया—आयुष्मति चिरमविधवा भव। तारापीड ने भी उसे असीम स्नेह दिया।

इसके पश्चात् वहीं तापसोचित आश्रम में तारापीड, विलासवती, शुकनास आदि सभी रहने लगे।

जाबालि ने कहा कि यह तोता वही वैशम्पायन है।

(तोते ने कहा कि) जाबालि के इस कथन से वैशम्पायन का व्यक्तित्व पुनः मुझमें स्फुरित हुआ। उसके सारे ज्ञान और भाव मुझमें आ गये। मैंने जाबालि से पूछा—मुझे चन्द्रापीड का वियोग सता रहा है। बताइये उस मित्र का वृत्तान्त। मैं उससे जा मिलूँ। जाबालि ने डाँट कर कहा—यही चंचलता तुम्हें इस दुर्दशा तक लाई है। अभी चला तो जाता नहीं तुम्हें और उड़ने की बात करने लगा।

हारीत ने ऋषि से प्रश्न पूछा—मुनिवंश में जन्म पाकर पुण्डरीक कामुक क्यों बना और अल्पायु क्यों हुआ? ऋषि ने बताया कि वह अप्सरा का पुत्र था और उसी अप्सरा का इसमें प्राधान्य होने से उसके दुर्गुण इसमें हैं। अब भी अल्पायु है। किन्तु शापान्त में अमर बनेगा।

मैंने (तोते ने) जाबालि से पूछा—मुझे अक्षय आयु कैसे प्राप्त होगी—यह बताइये। जाबालि ने कहा—यह भी तुम्हें ज्ञात हो जायेगा। अब सवेरा होने लगा। कथा समाप्त होती है।

दूसरे दिन हारीत प्रसन्न होकर मुझसे कहने लगे—"भ्रातर्वैशम्पायन, दिष्ट्या वर्धसे। पितुस्ते भगवतः श्वेतकेतोः पादमूलात्कपिञ्जलस्तामेवान्विष्यन्नायात.' अर्थात् पुराना मित्र कपिंजल तुम्हें ढूंढते हुए आ गया है। तब तो तोते ने कहा कि कि शीघ्र मुझे उसके पास पहुँचाइये।

तोते ने कपिंजल से मिलकर अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने पिता का समाचार पूछा तो कपिञ्जल ने बताया कि उन्होंने तुम्हारे उद्धार के लिए सब काम कर डाला है। उन्होंने मुझे तुमसे मिलने के लिए जाबालि के आश्रम में भेजा है और तुम्हें आदेश दिया है कि मेरे अनुष्ठान की अवधि तक तुम यहीं रहो। कपिंजल उसे छोड़कर पुनः चला गया।

कुछ दिनों हारीत की सेवा से जब मुझे पंख निकल आये तो मैं चन्द्रापीड की खोज में फिर उड़ा। उड़ते-उड़ते थक गया, और एक वृक्ष पर पड़ा रहा और सो गया। जगने पर अपने को जाल में ग्रस्त पाया। पकड़ने वाले चाण्डाल से बातचीत करने पर ज्ञात हुआ कि मेरी ख्याति उस चाण्डाल की बालिका तक पहुँच चुकी है, जिसका मैं भृत्य हूँ। बस आपको उसके हाथों सौंप दूंगा। वह आपको छोड़े या रखे।

चाण्डाल कन्या ने मुझे देखते ही कहा—आः पुत्रक प्राप्तोऽसि। बस उसका प्रेम क्या था दुर्गन्धमय पिंजरे में बन्द कर देना। मैंने आरंभ में उपवास किया पर कन्या की सुबोध-भरी वाणी सुनकर खाने-पीने लगा। तरुणहोने पर मैंने एक दिन अपने को स्वर्ण-पिंजरे में पाया। चाण्डालपुरी स्वर्णपुरी में परिणत हो गई। उसी दिन मुझे वह कन्या आपके पास ले आई। मैं भी यह सब रहस्य देखकर चकित हूँ। मुझे नहीं ज्ञात है कि चाण्डाल कन्या कौन है ?

शूद्रक ने चाण्डाल कन्या को बुलाया। उसने कहा—महाराज, आपने इस दुर्बुद्धि का और अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुन लिया। यह मनचला अब भी पिता की आज्ञा का उल्लंघन करके जाबालि का आश्रम छोड़कर वधू के पास जा रहा था जैसे इसने स्वयं बताया है। मैं इसकी माता 'श्री' हूँ। मैंने इसके पिता के द्वारा आदेश दिये जाने पर इसको अनुताप-दायिनी स्थिति में रखा। इसके पिता का अनुष्ठान समाप्त हो चुका है। इसके शाप की अवधि समाप्त हो चुकी है। शाप का अन्त होने पर आप और यह सुख से रहेंगे। आप दोनों अपना तन त्याग कर प्रियजन का समागम-सुख भोगें। श्री यह कह कर आकाश में चली गई।

शूद्रक और तोते ने एक दूसरे को पहचाना कि वे चन्द्रापीड और वैशम्पायन हैं। शूद्रक सब कुछ भूल कर कादम्बरी में लीन रहने लगा। इन दोनों का शरीरान्त हुआ। उधर चन्द्रापीड के शरीर में प्राण-संचार हुआ और कादम्बरी ने उनका आलिंगन किया। उसी समय पुण्डरीक भी आकाश से महाश्वेता के समीप उतर आया। सबका पुनर्मिलन हुआ। पुण्डरीक शुकनास के लिए वैशम्पायन बन गया। कादम्बरी के पिता ने अपना राज्य चन्द्रापीड को दे दिया। पुण्डरीक को महाश्वेता के पिता का राज्य मिला। इस प्रकार सभी सुखी हुए।

आख्यान

कादम्बरी अनेक आख्यानों का संयोजित कथा-चक्र है और प्रायः सभी आख्यान वर्णनों के भार से बोझिल हैं। पर यह क्या दोष है? कविवर रवीन्द्र ने इस आख्यान-पद्धति का पर्यालोचन करते हुए कहा है—'यह बात मैं साहस करके कह सकता हूँ कि संस्कृत कवियों में चित्र खींचने में बाणभट्ट की समता करने वाला दूसरा कवि नहीं है। सारा कादम्बरी-काव्य एक चित्रशाला है। साधारणतः घटना का वर्णन करके कहानी कही जाती है। परन्तु बाणभट्ट ने उत्तरोत्तर चित्र सजाकर कहानी कही है। इसी कारण उनका उपन्यास गतिशील नहीं है। वह शब्दों की छटा से अछूता है। कादम्बरी के सब चित्र एक पर एक करके रखे हुए क्रमबद्ध नहीं हैं। प्रत्येक चित्र चारों ओर बेल-बूटेदार लंबे-चौड़े भाषा के सुनहरे फ्रेम में जड़ा हुआ है। फ्रेम-सहित उन चित्रों का सौन्दर्य जो नहीं देख सकता, वह अभागा है।'

उपर्युक्त बेल-बूटों में आख्यान डूबता-उतराता चलता है। पात्रों की संख्या अत्यधिक है। घटनावली किसी एक प्रधान कार्य से सम्बद्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में आख्यान क्रमबद्ध होते हुए भी महत्त्वहीनता के कारण विस्मृत हो जाते हैं।

बाण ने आख्यान के उपर्युक्त उलझनों को देखकर कहीं-कहीं सारी पूर्वकथा का संक्षेप प्रसंगवश सूत्ररूप में दे दिया है। यथा चन्द्रापीड केयूरक से बता रहा है कि अब तक हमने इतने कार्य किये हैं। इस कथन में पूरी पूर्वकथा अनुस्यूत है।

कादम्बरी के आख्यान में अविश्वसनीयता का गंभीर दोष आधुनिक दृष्टि से स्पष्ट है। इसमें दैवी पात्रों के अलौकिक कार्य और उनका मानव या पशु रूप में अवतार साधारण मस्तिष्क की विचारणा के बाहर पड़ते हैं। वर और शाप भी इसी कोटि में आते हैं।

आख्यान के द्वारा कहीं-कहीं भावी घटनाओं का मानों पूर्वाभास इंगित है। शेष-हार कादम्बरी के प्रासाद में ही छूट जाना चन्द्रापीड और कादम्बरी के वियोग का परिचायक है।

कादम्बरी में आख्यान का वर्णनों के साथ सामञ्जस्य कुछ स्थलों पर अत्यन्त कौशल पूर्वक निभाया गया है। उदाहरण के लिये नीचे लिखा गद्यांश लीजिये—

'नितरामयमनेनैव कादंबरी-वृत्तान्तेन सन्तापितः तत्किमपरमहमेनमात्मतेजसा सन्तापयामि' इत्युत्पन्नदय इव भगवांस्तिग्मदीधितिरुत्तप्तकनकद्रवस्फुलिंगपिंगलद्युतिदिग्विकीर्णधूर्जटिजटामण्डलानुकारि संजहार करसहस्रम्। अस्तानुसारेण च रवेर्वासरोऽपि यथोच्छ्रिततरुशिखरावलंबिनो रक्तातपच्छेदानाकर्षन्नपससार। क्रमेणैव संजातकरुणयानुबन्धयेव संध्ययाश्रुपरिजलार्द्रपट इव प्रसार्यमाणे रवरागपटले, निशागमेनाप्येवमस्य शून्यता विक्लवस्य मा भूद्दर्शनमितिशप्तेनेव सर्वतो नीलीपरिलंबमानायामिव भ्राम्यमाणायां तिमिरलेखायाम्...

(जब चन्द्रापीड कादम्बरी-वृत्तान्त सुनकर ही सन्तप्त हो गया है, तो इसे जलाने के लिए मेरे ताप की क्या आवश्यकता रही ? इस प्रकार सूर्य ने अपनी सहस्रों किरणों को समेट लिया। दिन बीता। सन्ध्या करुणा-भरित होकर अपना रङ्ग फैलाने लगी। व्याकुल युवराज के दर्शन से बचने के लिए निशागम ने नीला आवरण फैला दिया।)

उपर्युक्त कोटि का वर्णन और आख्यान का कलापूर्ण सामञ्जस्य कुछ अन्य प्रकरणों में भी है। एक स्थान पर वर्णन के साथ ही प्रायः पूरी रामायण कथा ही कह दी गई है।

कादम्बरी में अनेक आख्यानों के प्रपञ्च का एक दोष स्पष्ट है कि इस पुस्तक में नायिका का नाम आधे भाग तक आता ही नहीं है। नायक की कथा का आख्यान कुछ अधिक विवरण के साथ और अन्यों का कुछ कम विवरण के साथ प्रस्तुत करना चाहिए था। कवियों ने इसका कहीं ध्यान न रखा। जरद्द्रविड धार्मिक तक का आख्यान बाण ने बड़ी अभिरुचिपूर्वक लंबायमान किया है।

कादम्बरी की कथा का मूल रूप गुणाढ्य की बृहत्कथा में रहा होगा। बाण की कल्पना से मूल कथा का रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है।

प्रासङ्गिक कथायें

कादम्बरी में कुछ प्रासङ्गिक कथायें भी एकाएक आती रहती हैं। उदाहरण के लिए कालिन्दी नामक सारिका और परिहास नामक शुक की ईर्ष्या-कथा है, जिसमें शुक के छिपे-छिपे तमालिका से बात करने के अपराध का विनिर्णय है। इन कथाओं का उपयोग प्रधान कथा के भावी रूप का आभास करा देने में है।

वर्णना

बाण की वर्णना अनुपम ही है। उसकी परिधि में केवल बड़े ही नहीं आते, अपितु चाण्डाल कन्या, उसके साथ आया हुआ उसका वृद्ध भृत्य और एक बालक भी वर्ण्य परिधि में आते हैं। उस वृद्ध के विषय में बाण को क्या कहना है देखिये—'वय: परिणामशुभ्रशिरसा, रक्तराजीवनेत्रापाङ्गेनानवरतकृतव्यायामतया यौवनापगमेऽप्यशिथिलशरीरसन्धिना, सत्यपि मातङ्गत्वे नातिनृशंसाकृतिनानुगृहीतार्यवेषेण शुभ्रवाससा पुरुषेण।' ऐसे वर्णनों के वैयक्तिक विवरणों से कथा में वास्तविकता की प्रतीति होने लगती है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

बाण की कादम्बरी में एक अभिनव कोटि की वर्णना-विधि का चमत्कार दर्शनीय है। वह है आख्यानात्मक। दण्डकारण्य का वर्णन हो रहा है। इस वर्णन के प्रसंग में कवि को स्मरण आ गया कि यहाँ कभी राम रहे थे। बस वर्णन के रूप में रामचरित का आख्यान अत्यन्त निपुणता और कलात्मकता के साथ पिरो दिया गया है। यथा—'जहाँ दशरथ की आज्ञानुसार राज्य छोड़कर रावण-श्री का अन्त करने वाले राम महर्षि अगस्त्य की सेवा करते हुए लक्ष्मण के द्वारा बनाई पर्णकुटी में सीता के साथ आनन्दपूर्वक रहे।···पूजा के लिए पुष्पचयन करती हुई सीता के हाथ से छूट कर लगा हुआ लाल रंग लता के अभिनव पत्रों पर दिखाई पड़ रहा था। वृक्षों के नये पत्ते लाल दिखाई देते थे क्योंकि राम ने जब राक्षसों को मारा था, तब उनके रक्त से वे वृक्ष सींचे गये थे। वहाँ सीता के द्वारा पालित बूढ़े मृग वर्षा के मेघों का गर्जन सुनकर घास नहीं चरते थे क्योंकि उन्हें राम के धनुष की टंकार का स्मरण हो आता था। वहाँ वियोगावस्था में राम ने पर्णकुटी में सीता का चित्र बनाया था। उसे वनचर वैसे ही देखते थे, मानो स्वयं सीता ही पृथ्वी से निकल कर उस कुटी में स्थित हों। यह वर्णन-कला अतीव नैपुण्य का प्रदर्शन कराती है।

बाण ने यदि एक ही वस्तु का वर्णन नहीं किया है तो वह है युद्ध। युद्ध का वर्णन इस महाकवि ने सम्भवतः अन्य कवियों के लिए छोड़ दिया है। वास्तव में प्रेमकथा में युद्ध का स्थान होना भी नहीं चाहिए। बाण का चन्द्रापीड दिग्विजय कर लेगा, पर रक्त-पात नहीं करायेगा।

बाण को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि संसार में जो कुछ विचित्र देखा-सुना है, उसको अपनी कला के माध्यम से सबके लिए और सदा के लिए अमरता प्रदान करना है। इसी दृष्टि से उन्होंने चन्द्रापीड के हेमकूट से लौटते हुए मार्ग में जरद्द्रविड धार्मिक का परिचय दिया है। यह धार्मिक सब स्थानों पर सदा और सब

की दृष्टियों की परख में आने वाला नहीं है। उसके लिए बाण की लेखनी और दृष्टि अपेक्षित है। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इस कथा में ऐसे धार्मिक का परिचय यदि न दिया गया होता तो किसी प्रकार की त्रुटि कथा में नहीं आती।

क्षणिक अथवा चिरकालीन वियोग में प्रेमियों की दशा क्या होती है—यह बाण के वर्णन का प्रिय विषय है। भावुकता के सागर में पाठक को डुबा देने के लिए बाण का यह विधान अनुत्तम सिद्ध हुआ है।

वर्णनों की दृष्टि से कादम्बरी विश्वव्यापी ही कही जा सकी है। भूः, भुवः और स्वर्लोक में जो कुछ दिव्या दिव्य है उसका मानो आँखों देखा वर्णन इसमें प्रस्तुत किया गया है। चाण्डाल वसति से लेकर हेमकूट या उज्जयिनी के वैभव का इसमें सांगोपांग चित्रण है। बाण ने स्वयं भारत के विविध भागों का चक्कर लगाया था। उन्होंने इस ग्रन्थ में हेमकूट से उज्जयिनी तक आने जाने के प्रसङ्ग में तत्कालीन भारतीय विलास को चाहे वह प्राकृतिक रहा हो या आधिभौतिक सब कुछ कला के माध्यम से हमारे समक्ष स्थायी कर दिया है। वर्णन के प्रमुख विषय ये हैं। राजा शूद्रक, उसका स्नान, व्यायाम, भोजन, विन्ध्याटवी, अगस्त्याश्रम, पम्पासर, शाल्मली वृक्ष, प्रभात, शबरसंघ, शबरसेना, शुकशावक-संहार, हारीत, जाबालि-आश्रम, महर्षि जाबालि, सामंज्रात्रि, उज्जयिनी, महाकाल-शिव, राजा तारापीड, महामात्य शुकनास, गर्भवती रानी, चन्द्रापीड-जन्म-महोत्सव, सूतिकागृह, शिशु-शोभा, चन्द्रापीड की शिक्षा-व्यवस्था, उसका यौवनारम्भ, इन्द्रायुध अश्व, चन्द्रापीड-दर्शन से नागरिकों का उल्लास, राजकुल, चन्द्रापीड की मृगया, पत्रलेखा, चन्द्रापीड का यौवराज्याभिषेक, उसकी दिग्विजय-यात्रा अच्छोद-सरोवर, शिवसिद्धायतन, महाश्वेता, उसके द्वारा चन्द्रापीड का सत्कार, पुण्डरीक. कामातुरा महाश्वेता, उसका विलाप, चन्द्रोदय, हेमकूट में कन्या-अन्तःपुर, कादम्बरी, कादम्बरी-चन्द्रापीडानुराग, सन्ध्या, उपहार, हिमगृह, शून्याटवी, चण्डिका, जरद्द्रविड धार्मिक, नायक से संकल्पित समागम, जलमण्डप, वर्षा, चाण्डालवसति, बसन्त ऋतु।

उपर्युक्त वर्णनाओं के माध्यम से आलम्बन और उद्दीपन आदि विभावों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करके रस की निष्पत्ति कराई गई है। अनेक वर्णनों के स्वरूप से भावी घटनाओं के रूप-रेखा का आभास कराया गया है। कई वर्णन संसूचनात्मक भी हैं, जिनका उपयोग एकमात्र यही है कि सरस ढंग से तत्कालीन सामाजिक स्थिति का चरित्र-चित्रण करा दिया जाय। जरद्द्रविड धार्मिक का वर्णन हास्य रस

की सृष्टि तो कर ही रहा है, साथ ही तत्कालीन धार्मिक स्थिति का परिचय कराता है और विचारक की आँखें खोल देता है कि समझो और बूझो।

चरित्र-चित्रण

कादम्बरी में अनोखे पात्रों का सर्वाधिक वैचित्र्य दृष्टि गोचर दिखलाई देता है। इसके प्रमुख पात्रों में से केवल कुछ ही विशुद्ध मनुष्य हैं, अन्यथा वे दिव्य हैं अथवा गन्धर्व आदि कोटि के हैं। कथा का नायक चन्द्रापीड स्वयं चन्द्र का अवतार है, नायिका कादम्बरी गन्धर्व-कन्या है। नायक का साथी वैशम्पायन दिव्य लोक के मुनि श्वेतकेतु का लक्ष्मी नामक अप्सरा से उत्पन्न पुत्र पुण्डरीक का अवतार है, जो मानव लोक में अवतरित है। कथा को कहने वाला शुक यही वैशम्पायन है, जो शापवश शुक हुआ है। उसको राजा शूद्रक के पास लाने वाली चाण्डाल कन्या वैशम्पायन की माता लक्ष्मी है। चन्द्रापीड मरने के पश्चात् शूद्रक रूप में उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार एक अद्भुत कोटि के पात्रों के आचार-व्यवहार का परिचय इस कथा में मिलता है। ये पात्र विभिन्न देशों प्रान्तों लोकों और संस्कृतियों के हैं। इनमें अनेक जन्मों और योनियों के योग्य आचार-व्यवहार की क्षमता है।

प्रणय-प्रधान इस कथा में चन्द्रापीड और पुण्डरीक दो प्रधान प्रणयी हैं और उनकी नायिकायें क्रमशः कादम्बरी और महाश्वेता हैं। इन चारों पात्रों का चरित्र अतिशय उदात्त है। ये केवल कामुकता या यौवनोन्माद के वशीभूत होकर प्रेम नहीं करते, अपितु अपनी अन्तःकरण की प्रेरणा से पूर्ण परीक्षा कर लेने के पश्चात् और एक दूसरे के लिए आत्मत्याग की भावना का परिचय पा लेने पर वे एक दूसरे के लिए अपना प्राण तक अर्पित कर देते हैं। केवल हृदय का दान नायिकाओं ने अपने प्रियतमों के लिए किया था, पर उतने मात्र से ही उन्होंने दीर्घकाल तक अपने प्रियतम को विवाहित पति रूप में पाने के लिए तप, व्रत और उपवास किये। उनकी तपस्विता श्लाघ्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाण की कला ऐसे प्रणयी वर्ग का सर्जन करके अतीव सफल है।

प्रणय-सम्बन्ध के अतिरिक्त मैत्री भावापन्न स्त्री और पुरुषों के चरित्र का निदर्शन कादम्बरी में विशेष महत्त्वपूर्ण है। कादम्बरी का महाश्वेता के प्रति और चन्द्रापीड का वैशम्पायन के प्रति अतिशय अनुराग है। कादम्बरी ने तो महाश्वेता के प्रणयावरोध में स्वयं भी अविवाहित रहने का दृढ़ संकल्प कर रखा है। वैशम्पायन और चन्द्रापीड का साहचर्य इसी प्रकार अत्यन्त उदात्त आदर्शों पर

आधारित है। चन्द्रापीड वैशम्पायन के वियोग में मर ही जाता है। ऐसा ही ऊँचा व्यक्तित्व है कपिञ्जल का।

माता-पिता का चरित्र-चित्रण इस कथा में विशेष विस्तार-पूर्वक किया गया है। साधारणतः कथानकों में माता-पिता का कोई स्थान विशेष नहीं रहता। वे पात्रों के कुल-परिचय-मात्र के लिए प्रायः दिखाई देते हैं। बाण का अभिप्राय इस कथा में कुछ दूसरा ही प्रतीत होता है। उन्होंने संभवतः एक पूरे कुटुम्ब के साहचर्य पर आधारित जीवन को रसनिर्झरिणी बहाने की विशेष उपयोगिता परखी थी। उसमें माँ-बाप का स्थान प्रमुख है। नायक के पिता और माता तारापीड और विलासवती हैं। वात्सल्य की जो शुभ्र और विशद धारा इनके माध्यम से प्रवाहित की गई है, वह भारतीय काव्य-प्राङ्गण में अन्यत्र द्रष्टव्य नहीं है। इनके उदात्त व्यक्तित्व में सन्तति के प्रति आत्मत्याग-भरित प्रेम तथा उनके दुःख में दुःखी तथा सुख में आनन्द-निर्भरता का आदर्श अनुत्तम है। वैसा ही उदात्त चरित्र श्वेतकेतु और लक्ष्मी का है वे निरन्तर अपने पुत्र के अभ्युदय के लिए सचेष्ट हैं।

सेवा करने वाले पात्रों का चरित्र भी इस कथा में अत्यन्त ऊँचा है। पत्र-लेखा, केयूरक, इन्द्रायुध आदि पात्र अपने जीवन की सार्थकता इसी बात में मानते हैं कि उनके स्वामी का सुख और यश उनके द्वारा संवर्धित हो। ऊँची त्याग की वृत्ति उनके चरित्र को ऊँचा उठाती है। वे सर्वथा कर्मण्य हैं।

उपर्युक्त पात्रों के त्याग, उदारता, सौहार्द, सहानुभूति और सौन्दर्य-प्रवणता के वातावरण में इस अनुपम कथा का विकास हुआ है।

उदात्त स्तर

कादम्बरी का लेखक बाण या उसका पुत्र पुलिन भट्ट दोनों ही शालीन व्यक्तित्व के विद्वान् रहे हैं। पुलिन ने अपने पिता की प्रशस्ति में लिखा है—

आर्यं यमर्चति गृहे गृह एव लोकः।

बाण को पूजनीयता उनके कादम्बरी का लेखक होने के पश्चात् मिली होगी। इस ग्रंथ को बाण ने केवल काव्यामृत का परिपान ही नहीं बनाया, अपितु मानव-समाज के किसी भी वर्णाश्रम या पद पर पड़े हुए व्यक्ति के लिए आदर्श व्यक्तित्व का

मानदण्ड सा रख दिया है। प्रथमतः तो व्यावहारिक रूप में प्रायशः सभी पात्रों का चरित्र उच्चकोटि का है, जो सबके लिए स्वीकरणीय कहा जा सकता है। प्रत्येक पात्र अपने शीलगन्ध से अपना चातुर्दिक सुरभित बना रहा है। इसके अतिरिक्त बाण ने कहीं-कहीं समाज के विविध उत्तरदायित्वों को अपनाने वाले लोगों के सदाचार का आदर्श प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए भृत्यों के सम्बन्ध में पुलिनभट्ट की मान्यता है—

भृत्या अपि त एव ये सम्पत्तेर्विपत्तौ सविशेषं सेवन्ते। तमुन्नम्यमाना सुतरामवनमन्ति। आलाप्यमाना न समालापाः संजायन्ते। स्तूयमाना नोत्सिच्यन्ते। क्षिप्यमाणा नापरागं गृह्णन्ति। उच्यमाना न प्रतीपं भाषन्ते आदि।

इसी प्रकार पुलिन भट्ट ने ब्राह्मणत्व आदि की महिमा प्रदर्शित की है—

अत्र तावदनेकभवसुकृतसहस्राधिगम्यं मनुष्यमेव दुर्लभम्। तत्राप्यपरं सकलजातिविशिष्टं ब्राह्मण्यम्। ततोऽपि विशिष्टतरमासन्नामृतपदं मुनित्वम् आदि।

कादम्बरी की सूक्तियों से भी इसके उदात्त स्तर की सहज कल्पना होती है। यथा

अनाथपरिपालनं हि धर्मोऽस्मद्विधानाम्

अनाथों का पालन ही हमारे जैसे मुनियों का धर्म है।

प्राणपरित्यागेनापि रक्षणीयाः सुहृदसवः।

प्राण देकर भी मित्र के प्राण की रक्षा करनी चाहिए।

धर्मपरायणानां हि समीपसंचारिण्यः कल्याणसम्पदो भवन्ति।

धर्मपालक लोगों के पास ही कल्याणमयी संपत्तियाँ रहती हैं।

शैली

बाण ने कादम्बरी की शैली की विशेषताओं को सूत्ररूप में नीचे लिखे श्लोकों में स्वयं दे दिया है—

स्फुरत्कलालापविलास-कोमला
करोति रागं हृदि कौतुकाधिकम्।

रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता
कथा जनस्याभिनवा वधूरिव ।।

अर्थात् अभिनव वधू की भाँति कथा होती है, जहाँ तक कलापूर्ण वचनों के विलास की कोमलता का प्रश्न है और हृदय में राग उत्पन्न करने की वृत्ति है। कथा से काव्य-रस और वधू से लोक-रस की निष्पत्ति होती है।

हरन्ति क नोज्ज्वलदीपकोपमैः
नवैः पदार्थैरुपपादिताः कथाः।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो
महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव ।।

अर्थात् सरलता से ही अर्थ देने वाली दीपक और उपमालङ्कारों से समायुक्त अपूर्व पदार्थों के समावेश से बनाई हुई और श्लेषालङ्कार के कारण दुर्बोध मनोहर कथा देदीप्यमान दीपक के समान अभिनव वस्तु के ग्रहण करने में समर्थ चंपा के फूलों की कलिकाओं से गूँथी हुई चमेली के फूलों से युक्त और आपस में सघन होकर मिली हुई महामाला के तुल्य किसी व्यक्ति को अपनी ओर नहीं आकृष्ट कर लेती।

उपर्युक्त सभी गुण कादम्बरी में पूर्णतः पाये जाते हैं। बाण भट्ट ने स्वयं कहा है कि यह अतिद्वयी कथा है, अर्थात् बृहत्कथा और वासवदत्ता से बढ़ कर है।

कीथ ने बाण की शैलीगत विशेषताओं का आकलन करते हुए कहा है—
His employment of the figures of speech is unwearying and he is largely dominated by the desire to produce prose which shall be rhythmical. His long compounds are often clearly built up and interspersed with shorter words simply in order to achieve this effect which Dandin and other writers of poetics extol under the style of OJAS, strength.

बाण बहुत बड़े-बड़े वाक्यों की रचना में सिद्धहस्त हैं। प्रायशः जब किसी बड़ी वस्तु का वर्णन करना होता है तो उसके विशेषणों की अगणित संख्या को गूँथ कर अन्त में नन्हीं सी क्रिया दे देते हैं। उन विशेषणों से प्रसङ्गतः संबद्ध विशेष्यों की भी विशेषण-परंपरा चलती है और कहीं श्लेषाधारित उपमान-परंपरा की श्रेणी सुदीर्घ होती है। उदाहरण के लिए उज्जयिनी का वर्णन करना है। एक विशेषण इस उज्जयिनी का है 'विलासिजनेनाधिष्ठिता।' फिर इस विशेषण से संबद्ध, विलासिजन विशेष्य है। इस विलासिजन के २५ विशेषण हैं, जिनमें से कुछ तो नाम-मात्र के श्लेषाधारित विशेषण हैं जैसे 'बौद्धैनेव सर्वास्तिवादशूरेण' अर्थात् वे सर्वास्तिवाद मतानुयायी बौद्ध की भाँति हैं क्योंकि विलासीजन भी सर्वास्तिवादी हैं। वे अपने घर में किसी वस्तु का अभाव नहीं कहते। सब कुछ है वहाँ। यही उनका अभ्यास है।' इन विशेषणों का चक्कर बहुत कष्ट प्रद होता है किन्तु कवि ने उनको विभक्त करके संजोया है। यदि उनको अपने आप में वाक्य ही मान लें तो बहुत कुछ कठिनाई मिट जाती है।

बाण छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग यथावसर करते थे। वार्तालाप के अवसर में जहाँ सुनने वाले को थोड़े समय में अधिक से अधिक काम की ठोस बातें बतानी हैं, बाण लंबे वाक्यों और विशेषण-परंपराओं को मानो भूल से जाते हैं। उदाहरण के लिए विलासवती और तारापीड की बातचीत का प्रसंग है। रानी ने महाकाल के मन्दिर में महाभारत की कथा सुनते हुए जाना कि पुत्र के बिना स्वर्ग नहीं मिलता। उसके पुत्र नहीं था। बस खाना-पीना छोड़ दिया। यह सारा वातावरण घटना-क्रम की द्रुतगति की अपेक्षा रखता है। इस प्रकरण में बाण की वाक्यावली देखिये। राजा रानी से कहता है—देवि किमत्र क्रियतां दैवायत्ते वस्तुनि। अलमतिमात्रं रुदितेन। न वयमनुग्राह्या प्रायोदेवतानाम्। आत्मजपरिष्वंगामृतास्वाद सुखस्य नूनमभाजनमस्माकं हृदयम्। अन्यस्मिन्जन्मनि न कृतमवदातं कर्म—आदि छोटे-छोटे वाक्य कितनी रमणीयतापूर्वक निष्पन्न हैं।

बाण की आलोचना करते हुए डा० एस० के० डे ने लिखा है—

Banas power of observation and picturesque description, his love of nature, his eye for colour and ear for music, the richness of his fancy and his wealth of words, are excellences which are unquestioned; but they are seldom kept within moderate bounds.

यही बाण के संबंध में आधुनिक दृष्टि से सच्ची आलोचना है।

रस

बाण को रस-सम्राट् ही कहा जा सकता है । रस के लिए विभावादि की जो आवश्यकता होती है, उसके निदर्शन के लिए गद्य में असीम अवसर होता है। उदाहरण के लिए वात्सल्य-भाव का उद्रेक कराना है । बाण ने तारापीड के मुँह से कहलवाया है कि यदि पुत्र होता तो क्या होता । बाण ने अभिनव उद्भावनाओं का एक संसार ही उकेर कर प्रस्तुत कर दिया है । उदाहरण के लिए एक ही वाक्य लीजिये—

कदा कृष्णागुरुपङ्कलिखितमदलेखालङ्कृतगण्डस्थलकः मुखडिण्डिमध्वनिजनितप्रीतिः ऊर्ध्वकरविप्रकीर्णचन्दनचूर्णधूलिधूसरः कुञ्चिताङ्गुलिशिखराङ्कुशाकर्षण विधूतशिराः करिष्यति मत्तगजराजलीलाक्रीडाः ।

कादम्बरी प्रधानतः शृङ्गार रस और तत्संबंधी भावों की निष्पत्ति कराने में अतीव सफल कथा है । शृङ्गार के अतिरिक्त इसमें वात्सल्य, करुण और अद्भुत रसों का स्थान-स्थान पर अच्छा परिपाक हुआ है । कहीं-कहीं हास्य रस के मनोरम अवसर भी प्रस्तुत किये गये हैं । तमालिका का प्रणयी शुक और जरद्द्रविड धार्मिक विशेष रूप से ऐसी सामग्री प्रस्तुत करते हैं । शान्त रस की गाथायें मुनियों और तपस्वियों के द्वारा प्रस्तुत उनके उदात्त चरित्रों के वातावरण में अनेकशः प्रस्तुत की गई हैं ।

मनोभावों का चित्रण करने में बाण संस्कृत के कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं । उनकी पैनी दृष्टि और निजी सरस हृदय ने इस क्षेत्र में बाण को अनुत्तम सफलता प्रदान की है ।

साम्प्रदायिक आलोचना

कादम्बरी की प्रशंसा में पुराने कवियों ने अपनी आलोचनात्मक प्रशस्तियाँ प्रस्तुत की हैं । यथा—

कादम्बरीसहोदर्या सुधया वै बुधे हृदि ।
हर्षाख्यायिकया ख्यातिं बाणोऽब्धिरिव लब्धवान् ।।

युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः।
बाणध्वनावनध्यायो भवतीति स्मृतिर्यतः ॥

कादम्बरीरसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते।
कादम्बरीरसज्ञानामाहारोऽपिन रोचते ॥

केवलोऽपि स्फुरन्बाणः करोति विमदान् कवीन्।
किं पुनः क्लृप्तसन्धानपुलिन्दकृतसन्निधिः ॥

गद्य माध्यम की उत्कृष्टता

बाण की गद्य-शैली सर्वोत्कृष्ट रही है। केवल भाषात्मक प्रयोगों से ही नहीं, अपितु उन भावों के दिग्दर्शन कराने के कारण भी, जिनके लिए कम से कम नाटकों में तो स्थान ही नहीं मिलता और यदि मिलता भी है तो बहुत कम। उदाहरण के लिए कादम्बरी का प्रसङ्ग लीजिये। उसने व्रत लिया था कि जब तक महाश्वेता वियुक्तावस्था में है, तब तक विवाह नहीं करूँगी। इसी बीच चन्द्रापीड आ टपके और कादम्बरी उनके सौन्दर्य पर विवशतया मुग्ध हो गई। बाण ने इस अवसर पर कादंबरी के उनके प्रति आकर्षण का चित्र खींच लेने के पश्चात् उसी चित्र का एक अगला क्रम प्रस्तुत किया है, जिसमें कादम्बरी को लज्जा विनय मुग्धता, कुमारभाव महत्त्व, आचार, आभिजात्य, धैर्य और कुलस्थिति ने मूर्तरूप होकर उसे धिक्कारना आरंभ किया कि अपना व्रत छोड़कर तू किस चक्कर में पड़ गई? प्रणय-संबंधी सारी स्थिति का पश्चाल्लोचन—यह एक अद्भुत सुविधा है, जो अन्यत्र इस रूप में कहीं नहीं मिलती। कादंबरी कहती है—

कोऽपि वा न कदाचिद् दृष्टः, नानुभूतः, न च श्रुतः, न चिन्तितः, नोत्प्रेक्षितः, मां विडंबयितुमुपागतः। यस्य दर्शनमात्रेण संयम्य दत्तेव, इन्द्रियैः शरपञ्जरे निक्षिप्य समर्पितेव, मन्मथेन दासीकृत्योपनीतेव⋯इत्यादि।

अध्याय १०

हर्ष

कविता-कामिनी के हर्षरूप में प्रतिष्ठित महाराज हर्ष का नाम पर्याप्त समादर के साथ लिया जाता है। हर्ष सातवीं शती के पूर्वार्ध में उत्तर भारत के सर्वश्रेष्ठ सम्राट् थे। उनकी शासननीति और प्रजापालन की वृत्ति उच्चकोटि की थीं। हर्ष स्वयं कवि थे और साथ ही बाण जैसे महाकवियों के आश्रयदाता भी थे। हर्ष का प्रयाग-संगम पर सांस्कृतिक सम्मेलन का समारम्भ सराहनीय था। उनकी सांस्कृतिक उदारता प्रशंसनीय रही है।

हर्ष के तीन रूपक रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द सातवीं शती की विद्यमान रचनाओं में अग्रगण्य हैं। इन तीनों में प्रणयलीला की प्रथम भूमिका उस युग के अनुरूप ही पड़ती है। नागानन्द में जीमूतवाहन की सौम्यता और पराक्रम-शीलता भारतीय सांस्कृतिक इतिहास को समुज्ज्वल करती हैं।

नागानन्द

कथावस्तु

नागानन्द का नायक विद्याधरराज जीमूतवाहन पितृभक्ति के कारण अपना राज्यभार मन्त्रियों के हाथ सौंप कर तपोवन में माता-पिता की परिचर्या करने के लिए जाता है। उसे तो सर्वाधिक सुख पितृचरणों में था। उसके लिए राज्य और धन अनित्य और असार हैं। एक दिन पिता की आज्ञा से मलय पर्वत पर अपने सहचर आत्रेय के साथ आश्रम-योग्य भूमि ढूँढते हुए उसे एक तपोवन दिखाई पड़ता है। वहीं देवालय में सिद्धराज की कन्या मलयवती वीणागायन से देवी की स्तुति करती हुई मिलती है। प्रसङ्गानुसार कुमार जीमूत और कुमारी मलयवती का दैवी विधान के अनुरूप प्रणय-समारंभ होता है। बस, उस मन्दिर के पास जीमूत पिता के आश्रम-योग्य स्थान चुनता है। अन्त में जीमूत का सिद्धराज की नगरी में विवाह होता है। फिर तो कुछ समय पश्चात् जीमूतवाहन पत्नी के साथ पिता के पास आता है। एक दिन पर्यटन करते हुए जीमूतवाहन को नागों की हड्डियों का पर्वत मिलता है, जिसे गरुड़ ने समुद्र से प्रतिदिन एक-एक नाग को पकड़ और उन्हें खाकर हड्डियों को छोड़ देकर बना दिया था। नागवासुकि गरुड़ के लिये एक नाग भेज देता था। यह कथा

सुनकर जीमूत की परोपकार-वृत्ति जागती है। वह अपना शरीर देकर भी नागों को बचाने के लिए तत्पर है। तभी अपनी वृद्धा माता को रोती छोड़कर शंखचूड़ नामक नाग गरुड़शिला पर भोजन बनने के लिए आ बैठता है। रोती हुई माँ को जीमूत आश्वासन देता है कि मैं तुम्हारे पुत्र को अपने बलिदान से बचाऊँगा। माता और पुत्र दोनों सहमत नहीं होते। इसी बीच वे शिव-पूजन के लिये अन्यत्र जाते हैं कि गरुड़ आकर वधशिला से जीमूत को ले उड़ता है और पहुँचता है मलय की चोटी पर।

जीमूत आनन्दपूर्वक गरुड़ का भोजन बन रहे हैं। गरुड़ उनका परिचय पूछता है। उसी समय शंखचूड़ भी आ पहुँचता है और कहता है कि मुझे खाओ। यह जीमूत नाग नहीं है। गरुड़ को अपने पाप से पश्चात्ताप होता है। वह जलने के लिए अग्नि ढूंढ़ता है कि उसी समय जीमूत के माता-पिता भी उसे ढूंढते हुए आ पहुँचते हैं। गरुड़ हिंसा न करने की शपथ लेता है। जीमूत मरता है तो गरुड़ उसे पुनरुज्जीवित करने के लिए इन्द्रलोक से अमृत ला देता है। मलयवती की प्रार्थना पर आकाश से अमृत बरसने के पहले ही गौरी जीमूत को जीवित कर देती है। अमृत वर्षा से सभी नाग जीवित हो उठते हैं।

नागानन्द में पाँच अङ्क हैं। जीमूतवाहन धीरोदात्त नायक है। नाटक का अङ्गीरस दयावीर है।

प्रियदर्शिका

कथावस्तु

प्रियदर्शिका की कहानी रत्नावली के समान है। नायक उदयन ही हैं और नायिका है आरण्यका, जो रत्नावली की सागरिका की भाँति उदयन के अन्तःपुर में वासवदत्ता की सखी की भाँति रहती है, यद्यपि वह अंगराज दृढ़वर्मा की कन्या प्रियदर्शिका है। दृढ़वर्मा उसका विवाह उदयन से करना चाहते थे, पर उसी बीच कलिंगराज ने अंगराज को पराजित किया क्योंकि वह स्वयं प्रियदर्शिका को प्राप्त करना चाहता था। प्रियदर्शिका को कंचुकी विनयवसु ने बचाया। वह उसे लेकर आरण्यक प्रदेश के राजा विन्ध्यकेतु की शरण गया। मित्र की कन्या होने के नाते प्रियदर्शिका को वहाँ आश्रय तो मिला, पर शीघ्र ही उदयन के सेनापति विजयसेन ने विन्ध्यकेतु को जीत कर प्रियदर्शिका को बन्दी बनाया। इसी प्रियदर्शिका पर उदयन की स्वभावतः सहानुभूति हुई और विवाह के समय तक के लिए वह वासवदत्ता की अध्यक्षता में आरण्यका के नाम से रहने लगी। इसी बीच उदयन विजयसेन को

कलिंगराज का उद्धार करने के लिए सेना-सहित भेज देता है। दृढ़वर्मा उदयन का साढ़ू था।

एक दिन उदयन ने सरोवर में कमल-चयन करती हुई आरण्यका को देखा। उसे भौंरों के उत्पात से बचाने के लिए उदयन स्वयं जा पहुँचा। इस मिलन में प्रणय का सूत्रपात हुआ, जिसके निर्वहण के लिए अन्तःपुर में एक नाटक सहायक हुआ। इस नाटक में वासवदत्ता के परिणय की कथा अभिनेय थी। पात्र थे नायक-रूप में उदयन की भूमिका के लिए मनोरमा एवं वासवदत्ता की भूमिका के लिए आरण्यका। प्रधान दर्शक थी वासवदत्ता। चाल यह चली गई कि स्वयं उदयन को मनोरमा के स्थान पर रंगमंच पर ला दिया गया। इस बात को आरण्यका भी नहीं जानती थी। नाटक इतना सफल हुआ कि वासवदत्ता सब दृश्य देखकर लज्जित-सी होकर समय के पहले ही प्रेक्षागार से निकल गई तो उसे रहस्य ज्ञात हुआ कि उदयन स्वयं आरण्यका के साथ रंगमंच पर थे। आरण्यका बन्दिनी बनाई गई।

इधर वासवदत्ता को अपने संबंधी दृढ़वर्मा की दुर्गति का समाचार जो मिला तो वह सब कुछ भूल कर उदयन के सहारे दृढ़वर्मा के उद्धार की योजना बनाने लगी। ऐसे वातावरण में जब एक दिन समाचार मिला कि विजयसेन ने दृढ़वर्मा को पुनः राजपद पर प्रतिष्ठित करा दिया और आरण्यका उसकी कन्या प्रियदर्शिका है तो वासवदत्ता ने दोनों का पाणिग्रहण करा दिया।

रत्नावली

कथावस्तु

रत्नावली की कथावस्तु स्वप्नवासवदत्त के अनुरूप विकसित हुई है। इसके अनुसार मन्त्री यौगन्धरायण अपने स्वामी उदयन का विवाह सिंहल की राजकन्या रत्नावली से करवा कर उदयन को तदनुकूल भविष्यवाणी के अनुसार सम्राट् बनाना चाहता है। राजा की प्रथम स्त्री वासवदत्ता के होते हुए रत्नावली का पिता जब विवाह के लिए स्वीकृति नहीं देता तो यौगन्धरायण वासवदत्ता के जल मरने का समाचार सिंहल पहुँचवाकर इस अभिनव विवाह के लिए सिंहलराज को प्रस्तुत कर लेता है। वे रत्नावली को कंचुकी और प्रधान मन्त्री के साथ कौशाम्बी के लिए प्रस्थान करा देते हैं। मार्ग में समुद्र में जलयान के भग्न होने पर रत्नावली और उसके संरक्षक बच तो निकलते हैं, पर रत्नावली से उनका साथ छूट जाता है।

संयोगवश कौशाम्बी के व्यापारियों का एक जलयान उधर से आ रहा था, जिसके सहारे रत्नावली की रक्षा हुई थी। उन्हीं नाव वालों के साथ रत्नावली कौशाम्बी में आई और यौगन्धरायण के माध्यम से सागरिका नाम से परिचारिका के रूप में राजा के अन्तःपुर में वासवदत्ता के साथ रहने लगी। काम-महोत्सव में उसने राजा को दूर से देखा और अपने आराध्य देव के रूप में उसकी अर्चना पुष्प से की। सागरिका ने कदलीकुंज में अकेले ही कामदेव के रूप में राजा का चित्र बनाया। सागरिका की सखी सुसङ्गता ने उसी पार्श्व भाग में रति के रूप में सागरिका का चित्र बना दिया। उसी समय राजकीय वानर के बन्धन-विमुक्त होने पर चारों ओर अन्तःपुर में त्रास मच गया। सागरिका और उसकी सखी सुसङ्गता चित्र वहीं पर छोड़कर भागीं। घूमते-फिरते उस चित्र पर राजा की दृष्टि पड़ी। वहीं सागरिका भी मिली और उन्हें अपना भावी कार्यक्रम बनाते देर न लगी। इस प्रणय-पथ में बाधक थी वासवदत्ता। वह उसी समय घटना-स्थल पर आगई और बात छिपाते न छिपी। इधर सागरिका को राजा से मिलने की पड़ी थी। एक बार सागरिका वासवदत्ता के वेश में राजा से मिलने का पूरा कार्यक्रम बनाकर तैयारी में ही थी कि इसका समाचार पाकर स्वयं वासवदत्ता ही नियुक्त समय और स्थान पर जा पहुँची। राजा ने समझा कि यह वासवदत्ता के वेश में सागरिका है और तदनुकूल व्यवहार करने लगा। जब भेद खुला तो राजा को लेने के देने पड़े। इधर सागरिका को भी इस घटना का समाचार मिल गया तो वह वासवदत्ता के वेश में ही आत्महत्या करने के लिए गर्दन फँसाये हुई थी कि राजा ने उसे वासवदत्ता समझकर बचाया। फिर तो सागरिका से इस अवसर पर प्रेम की बातें होने लगीं। उधर वासवदत्ता आ गई। इस परिस्थिति में सागरिका को बन्दिनी बनाकर ले जाया गया।

इसी बीच एक ऐन्द्रजालिक आया और उसने राजभवन में बनावटी आग लगा दी। फिर तो बन्दिनी सागरिका को बचाने के लिए राजा आग में कूदे और उसके पीछे समस्त राजपरिवार कूद पड़ा। राजा और सागरिका का अग्नि में मिलन हुआ। माया-निर्मित आग बुझ गई। उसी समय सागरिका के संरक्षक मन्त्री और कंचुकी भी आ गये। सागरिका का परिचय मिला कि वह वासवदत्ता की ममेरी बहन सिंहल-राजकन्या है। वासवदत्ता ने सानन्द राजा से उसके विवाह की अनुमति दी।

वस्तु-विन्यास

रत्नावली चार अङ्कों की नाटिका है। इसका वस्तुविन्यास सुगठित और प्रवाहपूर्ण है। कथानक में गतिशीलता है। प्रथम अङ्क में महोत्सव का मनोरम

चित्र अंकित हुआ है। चारों ओर आनन्द छा गया है। सभी आनन्द मना रहे हैं। कुङ्कुम उड़ाया जा रहा है। कौशाम्बी सोने के समान दिखलाई पड़ रही है। सभी क्रीड़ा में मस्त हैं :—

स्रस्तः स्रग्दामशोभां त्यजति विरचितामाकुलः केशपाशः,
क्षीबाया नूपुरौ च द्विगुणतरमिमौ क्रन्दतः पादलग्नौ।
व्यस्तः कम्पानुबन्धादनवरतमुरो हन्ति हारोऽयमस्याः,
क्रीडन्त्याः पीडयेव स्तनभरविनमन्मध्य-भङ्गानपेक्षम् ॥

सागरिका इस अङ्क में राजा का प्रथम दर्शन काम के रूप में करती है और उस पर आसक्त हो जाती है।

द्वितीय अङ्क में विरह-विदग्धा सागरिका विनोद करने के लिए कदलीगृह में कामदेव का चित्र बनाती है। सुसङ्गता से उसकी उदयन-विषयक प्रेम-वार्ता होती है जिसे मेधाविनी सारिका सुन लेती है फिर राजा को सुनाती है। बन्दर आ जाने से सारा कार्य अस्त-व्यस्त हो जाता है। राजा को चित्रफलक मिल जाता है और उसके हृदय में चित्रस्थ सागरिका के प्रति प्रेम उदय होता है। वासवदत्ता राजा के भावों को जानकर अप्रसन्न होकर चली जाती है। राजा कहता है—

भ्रूभङ्गे सहसोद्गतेऽपि वदनं नीतं परां नम्रता-
मीषन्मां प्रति भेदकारि हसितं नोक्तं वचो निष्ठुरम्।
अन्तर्बाष्पजडीकृतं प्रभुतया चक्षुर्न विस्फारितं
कोपश्च प्रकटीकृतो दयितया मुक्तश्च न प्रश्रयः ॥२'२१

'अचानक भ्रूभङ्ग होने पर भी अत्यधिक नम्रतापूर्वक मुख झुकाए रही। मुझे लक्ष्य करके मर्म भेदिनी हँसी प्रकट की, परन्तु कठोर वचन नहीं कहा, नयनों में अश्रु भर जाने पर भी मेरी ओर नहीं देखा। इस प्रकार मेरी प्रियतमा ने क्रोध भी प्रकट कर दिया पर विनय का त्याग नहीं किया।'

तृतीय अङ्क में राजा की वेदना का अङ्कन है। वेश-परिवर्तन वाला दृश्य हर्ष की अप्रतिम सूझ है। यह दृश्य अत्यधिक रोचक और आकर्षक है। चतुर्थ अङ्क में ऐन्द्रजालिक का भी प्रयोग नाटिका के कथानक में सहयोग प्रदान करता है। हर्ष की प्रतिभा का परिचय सर्वत्र मिलता है। यद्यपि कवि ने कालिदासरचित 'मालविकाग्निमित्र' की घटना के आधार पर दोनों नाटिकाएँ रचीं तथापि उसकी प्रतिभा अपनी है।

नाटिका को सुखद बनाने के लिए ऐन्द्रजालिक का प्रयोग किया गया है। रत्नावली के कथानक में गत्यात्मकता है, प्रवाह है, स्वाभाविक संयोजन है। घटनायें साभिप्राय घटती रहती हैं। नाटककार ने जो काम सारिका और वानर से लिया है, वह क्वापि स्वाभाविकता से परे नहीं है। सारिका की पुनरावृत्ति अधिक प्रभावोत्पादक और चमत्कारपूर्ण है। ऐन्द्रजालिक में दृश्य-विधान की क्षमता है। रत्नावली का कथानक सुगठित है। अन्तःपुर के प्रणय का चित्रण अत्यधिक रुचिपूर्ण है। तदनुकूल वातावरण की सृष्टि हुई है। वस्तु-विन्यास श्लाघनीय है।

प्रकृति-चित्रण

रत्नावली में कतिपय स्थलों पर प्रकृति-चित्रण विशेष सफल है। सन्ध्या के समय चन्द्रोदय से पूर्व प्राची दिशा के मुख पर उसी प्रकार पीत सौन्दर्य है, जिस प्रकार वासवदत्ता के मुख पर। यथा

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिक् निशानाथम्।
परिपाण्डुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥१२४

'यह प्राची दिशा उदयाचल की कन्दरा में वर्तमान चन्द्रमा की सूचना अपने पाण्डुवर्ण अग्रभाग के द्वारा दे रही है, जैसे कोई रमणी अपने पीले मुखमण्डल से हृदयस्थित अपने प्रियतम की सूचना देती है।'

धीरे-धीरे चारों ओर अन्धकार फैल रहा है—

पुरः पूर्वामेव स्थगयति ततोऽन्यामपि दिशं
क्रमात्क्रामन्नद्रिद्रुमपुरविभागांस्तिरयति।
उपेतः पीनत्वं तदनु भुवनस्येक्षणफलं
तमः संघातोऽयं हरति हरकंठद्युतिहरः ॥ ३.७

'महादेव के कण्ठ की कान्ति को हरण करने वाला यह अन्धकार सर्वप्रथम केवल पूर्व दिशा को आच्छादित करता है, फिर दूसरी दिशाओं को भी ढक लेता है। धीरे-धीरे यह पर्वत, तरु और नगर को तिरोहित कर देता है। इसके पश्चात् घना होकर लोगों की दृष्टि को हर लेता है।'

हर्ष ने प्रकृति का चित्रण आलंकारिक रूप में किया है। वसन्तोत्सव के समय मादक वातावरण में प्रकृति के तत्त्वों की मादकता चित्रित है,[1] साथ ही दक्षिण पवन का वर्णन है।[2] यथा

'घूर्णन्तो मलयानिलाहतिचलैः शाखासमूहैर्मुहु-
र्भ्रान्तिं प्राप्य मधुप्रसंगमधुना मत्ता इवामी द्रुमाः ॥

नाटकीय संविधान

संस्कृत में शास्त्रीय पद्धति पर कुछ नाटक और नाटिकायें लिखी गईं। नाटकों में 'वेणीसंहार' और नाटिकाओं में 'रत्नावली' प्रधान हैं। 'वेणीसंहार' की अपेक्षा 'रत्नावली' नाट्यशास्त्र के अनुसार अधिक सफल कलाकृति है। इसमें अर्थप्रकृति, सन्धि और सन्ध्यङ्गों का प्रयोग समुचित रूप से किया गया है। दशरूपक और साहित्यदर्पण में अधिकांश उदाहरण रत्नावली से दिये गये हैं।

अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं एवं सन्धियों का समावेश सफल है। सन्ध्यङ्गों का संयोजन शास्त्रानुकूलता प्रकट करता है। अर्थप्रकृतियों में पताका और प्रकरी का इसमें अभाव है।

बीज—रत्नावली के विष्कम्भक में यौगन्धरायण की उक्ति से बीज प्रारम्भ होता है—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः।१·६

और इसका अन्त यौगन्धरायण की उक्ति में है—

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतो-
र्दैवेनेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि
स्वेच्छाचारी भीत एवास्मि भर्तुः ॥

बिन्दु—वैतालिक के गान को (१.२३) सुनकर सागरिका प्रसन्नतापूर्वक कहती है 'कथमयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता' इससे सागरिका के हृदय में राजा के

---

१. रत्नावली १.१७
२. वहीं १.१३

प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। जिसका आगे चलकर विस्तार होता है। अतः यहाँ पर बिन्दु नामक अर्थप्रकृति है।

कार्य—कार्य नामक अर्थप्रकृति अन्त में है, जब रत्नावली से विवाह करने की अनुमति मिल जाती है।

अवस्था—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम पाँच अवस्थायें हैं। आरम्भ नामक अवस्था प्रथम अङ्क में यौगन्धरायण की उक्ति 'प्रारम्भेऽस्मिन्' (१.७) में निहित है।

आरम्भ—इसमें फललाभ के लिए प्रयत्न किया जाता है। इसी में 'परिन्यास' नामक मुख-सन्ध्यंग भी है।

यत्न—जब फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाय तो उस भाग में 'यत्न' नामक अवस्था होती है। द्वितीय अङ्क में सागरिका विरह में उदयन का चित्र बनाकर विनोद करना चाहती है और कहती है—

'नास्ति तस्य जनस्यान्यो दर्शनोपाय इति यथा तथालिख्यैनं प्रेक्षिष्ये'

फिर इसी चित्र फलक के द्वारा सागरिका का राजा से मिलन होता है। अतः यहाँ 'प्रयत्न' नामक कार्यावस्था है।

प्राप्त्याशा—तृतीय अङ्क में अप्रत्याशित रूप से सागरिका का समागम राजा से होता है। उस समय वह कहता है 'सखे इयमनभ्रा वृष्टिः।' विदूषक वासवदत्ता को स्मरण दिला देता है। पाने की आशा और आशंका दोनों का सम्मिश्रण यहाँ पर है। अतः 'प्राप्त्याशा' नामक कार्यावस्था है।

नियताप्ति—तृतीय अङ्क में वासवदत्ता के अप्रसन्न होकर चले जाने के पश्चात् राजा का यह कथन कि 'देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि' फलप्राप्ति की निश्चिन्तता का आभास दे रहा है। अन्त में वासवदत्ता की प्रसन्नता ही रत्नावली को उदयन से मिलाती है। अतः यहाँ नियताप्ति नामक अवस्था है।

फल—चतुर्थ अङ्क के अन्त में रत्नावली को ग्रहण करने के लिए वासवदत्ता राजा से प्रार्थना करती है। राजा और रत्नावली का मिलन होता है। अतः यहाँ फल नामक अवस्था है।

सन्धि

मुखसन्धि—'बीज' नामक अर्थप्रकृति और 'आरंभ' नामक अवस्था के समन्वय से मुखसन्धि होती है। मुखसन्धि में बीज का विकास, फलप्राप्ति के लिए प्रोत्साहन आदि होते हैं। रत्नावली के प्रथम अङ्क में मुखसन्धि है।

प्रतिमुखसन्धि—'बिन्दु' और प्रयत्न से प्रतिमुख सन्धि बनती है। इसमें बीज कहीं लक्षित और कहीं अलक्षित रहता है। द्वितीय अङ्क में प्रतिमुख सन्धि है क्योंकि सागरिका का अनुराग उदयन पर प्रकट होने पर वासवदत्ता अप्रसन्न हो जाती है और बीज अलक्ष्य हो जाता है।

गर्भसन्धि—तृतीय अङ्क में गर्भसन्धि है। इस अंक में एक ओर सागरिका का समागम है तो दूसरी ओर अकाल वाताली वासवदत्ता का कोप। अतः फल प्राप्ति की आशा और निराशा का संघर्ष हो रहा है। उदयन और सागरिका का मिलन भी हो जाता है और वासवदत्ता के कारण विघ्न भी।

अवमर्शसन्धि—अवमर्श सन्धि चतुर्थ अङ्क में है। आरंभ से लेकर अग्नि के उपद्रव तक रत्ना वली के मिलन में विघ्न दिखलाए गये हैं और अन्त में वे दूर हो जाते हैं। यह नियताप्ति कार्यावस्था में है।

निर्वहणसन्धि—चतुर्थ अङ्क में ही निर्वहण सन्धि है। सिंहलेश्वर का मन्त्री वसुभूति सागरिका को देखने के पश्चात् कहता है 'सदृशीयं राजपुत्र्याः' यह राजपुत्री के समान है। यहीं से निर्वहण सन्धि प्रारंभ होती है और अन्त में समाप्ति। फल नामक कार्यावस्था और कार्य नामक अर्थप्रकृति के समन्वय से निर्वहण सन्धि बनती है।

पताका स्थानक

रत्नावली में पताकास्थानकों का प्रयोग हुआ है। इससे भावी घटनाओं का आभास दिया जाता है। संध्या-समय का वर्णन हो रहा है, जिसमें उदयन और सागरिका के भावी मिलन की सूचना निहित है—

> यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
> सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
> प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
> सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥२.१.

यहाँ अन्योक्ति रूप में पताकास्थानक है। समासोक्ति रूप में पताकास्थानक समान विशेषणों से होता है—

> उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारम्भजृम्भां क्षणा-
> दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः।
> अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
> पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥२.४

यहाँ पर समान विशेषणों के द्वारा उदयन और सागरिका का प्रेम तथा वासवदत्ता का क्रोध अभिव्यक्त हो रहा है। यह समासोक्ति रूप में पताकास्थानक है।

इसके अतिरिक्त आरंभ में प्ररोचना—श्रीहर्षो निपुणः कवि—१.५ में प्रयुक्त है। इसमें स्वगत, अपवार्य और जनान्तिकों का प्रयोग हुआ है।

पात्रोन्मीलन

चरित्र-चित्रण में हर्ष ने स्वाभाविकता का परिचय दिया है। विशेषतः अन्तःपुर से संबन्धित जीवन का वर्णन कुशलता के साथ हुआ है।

उदयन

नाटिका का नायक उदयन धीरललित कोटि का है। धीरललित के सभी गुण उसमें हैं। उसका राज्य सचिवायत्त है। वह चिन्तारहित होकर उत्सव मनाता है। उसका हृदय उदार है। वह शत्रु के पराक्रम को भूल नहीं सकता—

साधु कोशलपते ! साधु, मृत्युरपि ते श्लाघ्यो यस्य शत्रवोऽप्येवं पुरुषकारं वर्णयन्ति ॥

उदयन में कलाप्रियता अधिक है। वह प्रेमी है। प्रणय के क्षेत्र में भी वह सागरिका से प्रेम करता है और वासवदत्ता को भी अप्रसन्न नहीं करता। अतः वह दक्षिण नायक है। उसे वासवदत्ता की चिन्ता कम नहीं है।

प्रिया मुञ्चत्यद्य ध्रुवमसहना जीवितमसौ।
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति

वह सौन्दर्य का उपासक है। सागरिका अत्यधिक सुन्दरी युवती है। अतः वह उसके रूप-माधुर्य पर आकर्षित होता है। वासवदत्ता से क्षमा याचना करता है। उसके पैरों पर गिर पड़ता है। उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करता है तथा सागरिका के प्रति प्रेम भाव को लीला या प्रदर्शनमात्र कहता है। ऐसे अनेक प्रसङ्गों से स्पष्ट है कि इस नाटक में राजकीय प्रेमाख्यान का रहस्योद्घाटन किया गया है, जो राजपद के योग्य नहीं है।

सागरिका के प्राणों की रक्षा करने के लिए वह अपने प्राणों की चिन्ता छोड़कर आग में कूद पड़ा। विदूषक के रोकने पर वह कहता है—

"धिङ् मूर्ख सागरिका विपद्यते ! किमद्यापि प्राणा धार्यन्ते"

'मूर्ख धिक्कार है। सागरिका जल रही है, क्या अब भी प्राण धारण करूँ' और विश्वास के साथ आगे कहता है—

विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमानुबन्धं
प्रकटयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम्
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियायाः
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥ ४.६

जिस समय वह जान जाता है कि सागरिका ने प्राण छोड़ दिया होगा, उस समय अपने प्राणों की कोई आवश्यकता नहीं समझता और कहता है—

प्राणाः परित्यजत काममदक्षिणं मां
रे दक्षिणा भवत मद्वचनं कुरुध्वम् ।
शीघ्रं न यात यदि तन्मुषिताः स्थ नूनं
याता सुदूरमधुना गजगामिनी सा ॥ ४.२

उदयन में कोमलता है, शिष्टता है और उसका व्यवहार सौन्दर्यपूर्ण है। वह दासी आदि का भी सम्मान करता है। सुसंगता से कहता है' "सुसङ्गते। स्वागतम्, इहोपविश्यताम् ।" इससे उसका प्रेम परिजनों के प्रति व्यक्त हो रहा है। वह वासवदत्ता से अधिक डरता है। जब सुसङ्गता चित्रफलक का वृत्तान्त वासवदत्ता से कह देना चाहती है, तो वह उसे कर्णाभरण देकर मनाता है।

राजा के विलासमय जीवन का ही अधिक चित्रण हुआ है। फिर भी वह राजनीति से उदास नहीं है। उसमें सम्मान की भावना है। वह सतर्क है और उत्सव-प्रिय है। राजा व्यवहार-कुशल तथा पारखी है और सभी को प्रसन्न रखना चाहता है। वह भाग्य पर विश्वास करता है

रत्नावली

सिंहलेश्वर की कन्या रत्नावली नायिका है। वह अनिन्द्य सुन्दरी है। राजा उदयन उसका वर्णन करता है—

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजाब्जपत्रत्विष—
श्चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम् ।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम् ॥ २.१६

"इस त्रिलोक-सुन्दरी का निर्माण करके तथा अपने पद्मपत्र की कान्ति को भी पराजित करने वाले रूप को विधाता आश्चर्यचकित होकर देखते हुए चारों मुख से 'धन्य है,' कहने लगे।"

रत्नावली कला-प्रवीण नारी है। चित्रकला में उसे विशेष कौशल प्राप्त है। वह उससे ही मनोविनोद कर लेती है। उसे अपनी कुल की मर्यादा का ध्यान है। अतः अपना कुल वह अभिन्न-हृदया सखी सुसंगता से भी नहीं बतलाती है, क्योंकि वह एक राजकन्या होने पर भी दासी का जीवन व्यतीत कर रही है। ऐसे समय में परिचय हास्यास्पद और पितृ-कुल के अपमान के लिए ही होता। वह मूक रह कर हृदयगत समस्त वेदनाओं को प्रकट कर देती है। वह आत्म-ग्लानि का अनुभव करती है। प्रेम के क्षेत्र में जब उसे निराशा होती है तो वह अपना प्राण त्याग देना ही श्रेयस्कर समझती है। वंशाभिमान उसमें भरा है, जिसके कारण उसमें आत्मसम्मान की भावना अधिक है। वह अपमानित जीवन यापन नहीं करना चाहती। उससे तो अच्छा मर जाना समझती है। वह कहती है—

दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं नु वरमेकम्॥ २. ५

"मैंने दुर्लभ व्यक्ति से अनुराग किया है, उस पर लज्जा अधिक है तथा स्वतन्त्र भी नहीं हूँ। अतः हे प्रिय सखि! इस दशा में प्रेम विषम है। अब तो केवल मृत्यु ही शरण है।"

अग्नि ज्वाला को देखकर कहती है कि आज भाग्यवश यह अग्नि हमारे कष्ट को दूर करेगी।

अद्य हुतवहो दिष्ट्या करिष्यति मम दुःखावसानम्

उसमें भय, लज्जा, सन्तोष, प्रेम आदि की भावनायें भरी हैं। उसके हृदय में उदयन के प्रति प्रेम, वासवदत्ता से भय और सुसंगता के प्रति स्नेह है। वह अपने जीवन से उदास और दुःखी है। उसमें नारी हृदय है। कोमल भावनायें हैं। वह कुलीन गुण से युक्त है, उसके सभी कार्य औदात्य पूर्ण हैं। वह उदयन को परखकर ही उससे प्रणय करती है, क्योंकि उसके पिता ने उदयन को उसे दे रखा था। उसका प्रणय स्वाभाविक संयत और मर्यादित है। उसमें उदयन के प्रति प्रगाढ़ प्रेम है। उसका चरित्र उदात्त, प्रणयपूर्ण, आभिजात्यगुणमण्डित और निश्छल है। उसे अपनी मर्यादा का ध्यान निरन्तर बना रहता है। उसमें भावुकता है। वह अपना दुःख किसी को भी नहीं सुनाना चाहती।

रत्नावली मुग्धा नायिका है। वह नितान्त मुग्ध है। उदयन को कामदेव समझकर पूजा करना उसके भोलेपन को द्योतित करता है। रत्नावली का चरित्रोन्मेष पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है, पर वह सर्वथा कलात्मक है।

वासवदत्ता

भास की वासवदत्ता और हर्ष की वासवदत्ता में महान् अन्तर है। 'स्वप्नवासवदत्त' में वासवदत्ता का चरित्र उदात्त है। वहाँ वह अपने सुख का तनिक भी ध्यान न रखकर दूसरे का कल्याण करती है। वह अपने सुख के लिये नहीं वरन् उदयन के लिए जीवित है और सर्वस्व न्यौछावर कर देना चाहती है। परन्तु हर्ष की वासवदत्ता ऐसी नहीं है। उसका चरित्र रत्नावली में उतना उच्च नहीं है। उसमें ईर्ष्या है। वह उदयन पर एकाधिकार चाहती है और तुच्छ भावनाओं से पूर्ण है। वह उदयन को चाहती तो अवश्य है परन्तु सम्मान नहीं करती। वह यह जानती है कि उदयन रूप-पिपासु है। अतः सागरिका को राजा के सामने तक नहीं आने देती। इससे उसके एकांगी दृष्टिकोण का तथा सीमित विचारधाराओं का परिचय होता है। वह सामान्य नारी है, जिसमें गुणों का अभाव अवश्य है, भले ही दोष न हों।

वासवदत्ता में कुछ गुण भी हैं। वह सरल एवं उदार है। आपत्ति के समय वह सागरिका के आने की प्रार्थना करती है। उसके हृदय में प्रेम से अधिक क्रोध है। उसका व्यवहार कठोर है। वासवदत्ता के चरित्र का विकास हर्ष की तूलिका से न हो पाया। भास की वासवदत्ता के चरित्र का अवलोकन करने के पश्चात् जब हर्ष की वासवदत्ता को देखते हैं तो ऐसा ज्ञान होता है मानो हम दूसरे लोक में उतर कर दूसरी वासवदत्ता को देख रहे हैं।

हर्ष की चरित्राङ्कन-कला उनके काव्य-सौन्दर्य से कम नहीं है। उनकी तूलिका से चित्रित सभी चरित्रों की अपनी विशेषताएँ हैं। सभी चरित्रों के प्रधान गुणों का ही उन्मेष किया गया है और उसमें हर्ष ने सफलता पाई है। पाश्चात्य आलोचक मैकडानेल ने हर्ष के चरित्राङ्कन और काव्य-सौन्दर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है—

"Ratnavali is an agreeable play, with well-drawn characters and many poetical beauties."

१. A History Of Sanskrit Literature, P. 342

भाषा

शैली

हर्ष की शैली सरल और प्रभावोत्पादक है। यह कठिन और दीर्घ समासों से रहित तथा सरसता और प्रासादिकता से परिपूर्ण है। हर्ष इस दृष्टि से कालिदास के अनुयायी हैं। माधुर्य और प्रसाद की अवतारणा का कोमल सामञ्जस्य हर्ष की रचनाओं में मिलता है। अप्रतिहत प्रवाह और सरल शब्दों के संयोजन से भाषा में सौन्दर्य आ गया है। हर्ष का गद्य सरल, सरस और स्पष्ट है और इसमें अर्थाभिव्यक्ति की विशेष क्षमता है। उनकी शैली में कृत्रिमता का अभाव है। भाषा रसानुकूल प्रवाहित हुई है। रत्नावली में माधुर्य प्रधान गुण है तथापि वीर रस का वर्णन करते समय ओज गुण को अपनाया गया है। शब्दों के माध्यम से वस्तु और शब्द का एक चित्र सा खिंच जाता है। हर्ष की वैदर्भी रीति है। भावी कथानकों को व्यंग्य के माध्यम से कहकर कवि ने भाषा को शक्तिमती बनाया है। मधुर पदावलियों का प्रयोग हुआ है। संवादों में दीर्घता नहीं है। भाषा और भाव का परस्पर सामञ्जस्य है। सूर्य अपनी प्रियतमा कमलिनी से विदा माँग रहे हैं—

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥ ३.६'

'हे कमलनयने ! मैं अब जा रहा हूँ। यही हमारे जाने का समय है। जब तुम सोती रहोगी उस समय आकर तुम्हें जगाऊँगा, इस प्रकार अस्ताचल पर फैले हुए अपने करों से सूर्य कमलिनी को आश्वासन दे रहा है, जिस प्रकार कोई गमनोन्मुख प्रेमी अपनी प्रेमिका के शोकावनत शिर पर हाथ रखकर उसे आश्वासन देता है।'

अलंकार

हर्ष के अलङ्कारों का प्रयोग स्वाभाविक दिखता है। अभीष्ट अर्थ की अभिव्यञ्जना में अलङ्कार सहायक हुए हैं। अलङ्कारों का प्रयोग कविता के माधुर्य के साथ हुआ है। ऐसे स्थलों पर भाषा सरल, सरस और माधुर्य-गुण-मण्डित है। सन्ध्या और वासवदत्ता के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन एक साथ करता हुआ कवि कहता है—

देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
श्रुत्वा त्वत्परिवारवारवनितागीतानि भृङ्गांगना
लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः संजातलज्जा इव" ॥

'देवि ! चन्द्रमा की शोभा को तिरस्कृत करने वाले तुम्हारे मुख-रूप कमल ने जलस्थ कमलों को जीत लिया है। इसी कारण इनमें सहसा म्लानता आ रही है। तुम्हारे इन परिजनों तथा गणिकाओं का मधुर-संगीत सुनने से भृङ्गाङ्गनायें कलियों में छिपती जा रही हैं, मानों उन्हें अपनी हीनता पर लज्जा आ रही हो।'

इसमें प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग है। सन्ध्या समय है। राजा एक साथ सन्ध्या के रूप-सौन्दर्य एवं वासवदत्ता के वदन-लावण्य का भी वर्णन कर रहे हैं। सायंकाल में कमल स्वभावतः श्रीहीन हो जाते हैं परन्तु कवि उत्प्रेक्षा से उन्हें वासवदत्ता के मुख से पराजित बतलाता है।

उपमा और रूपक के प्रयोग निम्नलिखित श्लोक में सटीक हैं—

लीलावधूतपद्मा कथयन्ती पक्षपातमधिकं नः
मानसमुपैति केयं चित्रगता राजहंसीव ॥ २.६.

"अपने सौन्दर्य से लक्ष्मी को तिरस्कृत करने वाली, चित्तस्थ यह कौन रमणी है, जो मेरे प्रति अपनी अनुकूलता प्रदर्शित करती हुई, विचित्र गतिवाली, लीला से कमलों को हिलाती हुई राजहंसी के समान हमारे हृदयरूपी मानसरोवर में प्रविष्ट हो रही है।"

सौन्दर्य का वर्णन करते समय कवि काकुध्वनि के माध्यम से समस्त सौन्दर्य को अभिव्यञ्जित करता है—

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतो
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे ॥ ३.१३

'क्या तुम्हारा मुख पद्म की कान्ति को परास्त नहीं करता? क्या वह नेत्रों को आनन्द प्रदान नहीं करता? क्या दर्शन मात्र से ही कामदेव रूपी सागर को अभिवृद्ध नहीं करता? फिर तुम्हारे मुख-चन्द्र के रहने पर यह दूसरा

चन्द्रमा क्यों उदित हो रहा है ? यदि इसे अपने अमृत का अभिमान हो तो वह भी तुम्हारे बिम्बाधर में है ।"

इसमें प्रतीप अलंकार के साथ श्लेष (मकरकेतन समुद्र और कामदेव), रूपक (वक्त्रेन्दु) और साथ ही उपमा (बिम्बाधर) आदि अलंकारों की छटा अत्यधिक रमणीय है । इसमें कविता का माधुर्य पदमाधुर्य के साथ विराजमान है ।

छन्द

भावों के अनुकूल छन्दों का प्रयोग हुआ है । उनमें गति है । कहीं कहीं गीति-काव्य के समान आनन्द प्राप्त होता है । अनुष्टुप, उपजाति, मालिनी, वसन्ततिलका, शालिनी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित हरिणी, शिखरिणी आदि वृत्तों के प्रयोग में हर्ष ने विशेष कौशल प्रदर्शित किया है ।

रस

रत्नावली नाटिका का प्रधान रस शृङ्गार है । इसमें सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों का वर्णन है । प्रथम अङ्क में वसन्तोत्सव और कामार्चन के दृश्यों की योजना शृंगारिक वातावरण उपस्थित करती है । चित्रस्था सागरिका के सौन्दर्य वर्णन में शृङ्गार का परिपाक है । आलम्बन-विभाव-रूप में नायिका का वर्णन है—

'विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूद्ध्रुवम् ।
धाता निजासनाम्भोजविनिमीलनदुःस्थितः ।। २.१०

"विधाता इस नायिका के अद्भुत, पूर्ण चन्द्ररूप मुख का निर्माण करके अपने आश्रयभूत कमल के संकुचित हो जाने से दुःस्थित हुए ।"

रत्नावली में सम्भोग शृंगार ही प्रधान है । तथापि विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन कम रमणीय नहीं है । सागरिका और उदयन की विरह-व्यथा के वर्णन में विप्रलम्भ शृंगार परिपुष्ट हुआ है । इस प्रकार कवि ने कुशलता पूर्वक शृंगार के दोनों पक्षों को निभाया है ।

विदूषक की उक्तियों से हास्य रस की सृष्टि हुई है । वह बिना विचारे नृत्य करने लगता है, या गाने लगता है ।

नाटिका अन्तःपुर की विलासमयी लीलाओं से सम्बन्धित है । इसमें वीर रस का वर्णन मनोरम है । कवि नादमयी शब्दावली में युद्ध का चित्र उपस्थित करने में सफल हुआ है—

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणोत्कृत्तोत्तमाङ्गे क्षणं
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणे वर्मोद्वलद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भङ्गप्रतीपीभव-
न्नेकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः ॥४.६

"बाणों के द्वारा शिरस्त्राण उड़ाये जा रहे थे, शस्त्र-प्रहार से सिर काटे जा रहे थे, रक्त की सरिता बह रही थी, शस्त्र झनकार कर रहे थे और शस्त्रों के प्रहार द्वारा कवचों से अग्नि के स्फुलिंग निकल रहे थे। ऐसे युद्धस्थल में अकेले सेनापति रुमण्वान् ने पराजय के निवारण की चेष्टा करते हुए कोशल नरेश को ललकारा और सैकड़ों बाणों से मार गिराया"।

भाषा में बल है, चित्र है, ओज है और है अर्थाभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता। अन्य वर्णनों में भी वीर रस का पोषण मिलता है।

रत्नावली में दो वर्णन भयानक रस के हैं। प्रथम राजकीय बन्दर के छूट जाने से सभी इधर-उधर भाग रहे हैं।

कण्ठे कृत्तावशेषं कनकमयमधः शृङ्खलादाम कर्ष-
न्क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किंकिणीचक्रवालः।
दत्तातङ्कोऽङ्गनानामनुसृतसरणिः संभ्रमादश्वपालैः
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरातः ॥२.२

"वाजिशाला से छूटा हुआ यह बन्दर राजमहल में प्रवेश कर रहा है। उसके पीछे बालक घबड़ाये हुए अनुसरण कर रहे हैं। वनितायें भयभीत हो रही हैं। उसके पैरों में बँधा हुआ घुँघरू बज रहा है। वह फाटक लाँघता हुआ आगे चला जा रहा है। उसके गले में बँधी हुई सोने की जंजीर लटक रही है।"

भयानक रस का दूसरा वर्णन अन्तःपुर में आग लगने का है।

महत्त्व

हर्ष की रचनाओं का द्विविध महत्त्व है—नाट्यकला की दृष्टि से और काव्य की दृष्टि से। हर्ष अधिकाधिक घटनाओं का सङ्क्रम प्रस्तुत करने में अद्वितीय हैं। कुछ घटनाओं का विन्यास तो हर्ष का इस दिशा में नई गतिविधि का परिचायक प्रतीत होता है। शब्द और भाव के क्षेत्र में हर्ष यदि ऋणी हैं तो उन्होंने कथा-विन्यास के क्षेत्र में किस नाटककार को ऋणी नहीं बना दिया है? रत्नावली में ऐन्द्रजालिक और प्रियदर्शिका में गर्भनाटक की कल्पना रंगमंच के लिए अपूर्व देन है। नागानन्द का विशेष महत्त्व राष्ट्रीय चरित्र के अभ्युत्थान की दृष्टि से है। जीमूतवाहन अपने बलिदान के द्वारा भी आत्मगुणों का संवर्धन करते हुए आदर्श चरित-नायक है।

साम्प्रदायिक समालोचना

महाकवि जयदेव ने अपने प्रसन्नराघव नामक नाटक में हर्ष को कविता कामिनी का हर्ष[1] कहा है।

सोड्ढल ने अपने 'उदयसुन्दरी' चम्पू में हर्ष को 'गीर्हर्ष' की उपाधि से विभूषित किया है—

'श्रीहर्ष' इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु
नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
'गीर्हर्ष' एष निजसंसदि येन राज्ञा
सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः" ॥

हर्ष के लिए गीर्हर्ष (Joy of Poesy) की उपाधि सार्थक है।

हर्ष एक उच्चकोटि के कवि थे। वे काव्य के पूर्ण ज्ञाता और आस्वादन में रसिक थे। बाण ने उनकी काव्य-चातुरी की प्रशंसा 'हर्षचरित' में इस प्रकार की है—

'काव्यकथास्वपीतामृतमुद्वमन्तम्', 'विमलकपोलप्रतिबिम्बितां चामर-ग्राहिणी विग्रहिणीमिव मुखवासिनीं सरस्वतीमादधानम्" इत्यादि।

कोई समालोचक उनके गुणों की गणना करते हुए कहता है—

"आश्लिष्टसन्धिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम्" ॥

---

१. हर्षो हर्षः

अध्याय ११

माघ

कविपरिचय

माघ ने शिशुपालवध के अन्त में ५ श्लोकों में अपना वंशवर्णन किया है। इससे प्रतीत होता है कि इनके पितामह का नाम सुप्रभदेव था, जो वर्मलाख्य या वर्मलात नाम के किसी राजा के मन्त्री थे और इनके पिता का नाम दत्तक था, जिनकी उदारता से मुग्ध होकर लोगों ने उन्हें सर्वाश्रय की उपाधि दी थी।

यह वर्मलात कौन थे और कहाँ राज्य करते थे—इस सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण अनुपलब्ध हैं। साथ ही विभिन्न ग्रन्थों में इस राजा का नाम भिन्न-भिन्न मिलता है। किसी एक पाठान्तर में इस राजा का नाम धर्मनाभ भी मिलता है। अतः इस नाम से माघ के काल का निश्चय करना कठिन है।

राजस्थान के वसन्तपुर नामक स्थान पर वर्मलात के एक राजा का शिलालेख मिला है, जिसका समय ६२५ ई० है। इसी राजा को माघ के पितामह का आश्रयदाता मान लेने पर इनके काल का निर्णय सुगम हो जाता है और माघ को लगभग ५० वर्ष पश्चात् ६७५ ई० के आसपास माना जा सकता है।

दूसरे प्रमाण भी इसी काल की ओर संकेत करते हैं। माघ भारवि की पद्धति का अनुसरण करते हैं। भारवि का काल ५५० ई० है। साथ ही शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग में एक श्लोक आता है—

> अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
> शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥११२

इसमें काशिका वृत्ति (६५० ई०) और उस पर जिनेन्द्रबुद्धि के द्वारा रचित न्यास-ग्रन्थ (७०० ई०) की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। अतः प्रमाणित होता है कि शिशुपालवध की रचना ७०० ई० के पश्चात् हुई। इन प्रमाणों के आधार पर माघ का काल ६७५-७५० ई० निश्चित होता है। इस मत को पूर्णतः प्रमाणित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि एक पूर्ववर्ती न्यास की सम्भावना भी है।

बाह्य प्रमाणों से माघ के समय की नीचे की सीमा निर्धारित होती है। सोमदेव-रचित 'यशस्तिलकचम्पू' (९५९ ई०) में माघ का उल्लेख हुआ है। आनन्दवर्द्धन

(८५० ई०) ने अपने ध्वन्यालोक में शिशुपालवध महाकाव्य के दो श्लोक ३.५३ और ५.२६ को उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

शिशुपालवध के रचयिता माघ का आविर्भाव सातवीं शताब्दी में हुआ था। भारवि और भट्टि का स्पष्ट प्रभाव रचना पर झलकता है। अतएव इनका समय दोनों कवियों के पश्चात् है।

शिशुपाल-वध

महाकवि माघ की कीर्ति-पताका उनके एकमात्र उपलब्ध महाकाव्य 'शिशुपाल-वध' पर आधारित है। इस महाकाव्य के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओं का पता नहीं है। सूक्ति संग्रहों में माघ के नाम से कुछ श्लोक मिलते हैं परन्तु वे 'शिशुपालवध' में नहीं मिलते[1]। इससे ज्ञात होता है कि माघ ने अवश्य अन्य कोई रचना की होगी, जो आज अनुपलब्ध है।

शिशुपालवध की कथा महाभारत से गृहीत है। कथा सार रूप में इस प्रकार है—'नारद द्वारका में कृष्ण की राजसभा में आकर शिशुपाल के अत्याचारों का वर्णन करते हैं और उसे मारने के लिए कृष्ण को उत्साहित करते हैं। उसी समय कृष्ण को युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिए निमंत्रण मिलता है। उद्धव, बलराम और कृष्ण मंत्रणा करते हैं कि ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय। अन्त में राजसूय यज्ञ में जाने का निश्चय करके कृष्ण इन्द्रप्रस्थ के लिए सेनासहित प्रस्थान करते हैं। मार्ग में रैवतक पर्वत पर वे पुष्पावचय, जलक्रीडा और पानगोष्ठी इत्यादि का आनन्द लेते हैं। वहाँ से प्रयाण करते हुए वे यज्ञभूमि में पहुँचते हैं। बहुविध विमर्श के पश्चात् वहाँ उन्हें अर्घ्य दिया जाता है। शिशुपाल कृष्ण को इस प्रतिष्ठा का पात्र नहीं समझता है। उसका दूत कृष्ण की सभा में कृष्ण को खोटी-खरी सुनाता है। कृष्ण और शिशुपाल का युद्ध होता है, जिसमें शिशुपाल मारा जाता है।' इस कथा का मूल रूप महाभारत के सभापर्व में है। महाकाव्य में कृष्ण और नारद का सम्मिलन सभापर्व के युधिष्ठिर और नारद के सम्मिलन से मिलता-जुलता है। शेष भाग सभापर्व के राजसूय यज्ञ के वर्णन के अनुसार है। कथावस्तु को यह रूप देकर कवि ने इसमें नारद के स्वागत, उद्धव, बलदेव और कृष्ण की मंत्रणा, द्वारका नगरी, सेना के प्रयाण, रैवतक पर्वत, सेना के सन्निवेश, छः ऋतु,

---

१. बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते
न पीयते काव्यरसः पिपासितैः।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं
हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः॥ औचित्यविचारचर्चा

पुष्पावचय, जलक्रीडा, सायंकाल, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी, रात्रिक्रीडा, प्रभात, यमुना, मार्ग की ग्रामीण प्रकृति और युद्ध इत्यादि का वर्णन गूँथने में सफलता पाई है ।

शिशुपालवध २० सर्गों का विपुलकाय महाकाव्य है । कवि ने स्थान-स्थान पर राजनीति की चर्चा की है । समस्त द्वितीय सर्ग इसका आगार है । बलराम का मत है कि शत्रु को यथाशीघ्र समाप्त किया जाय, पाण्डव यज्ञ करें, इन्द्र स्वर्ग की रक्षा करें, सूर्य तपें, हम लोग शत्रु का संहार करें क्योंकि सभी अपना स्वार्थ देखते हैं—

'यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः
वयं हन्याम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते । २.६५

परन्तु उद्धव इसके विरुद्ध हैं । वे राजसूय यज्ञ में जाने का मत देते हैं । तीसरे सर्ग में सेना-प्रयाण और चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत का अलंकृत वर्णन प्रस्तुत है । छठे में ऋतुओं का वर्णन है । सप्तम में वन-विहार, अष्टम में जलक्रीडा और नवम सर्ग में सूर्यास्त और दूतीकर्म वर्णित है । दशम में सुन्दरियों के विलास और एकादश में प्रभात का वर्णन है । प्रभात के अलंकृत वर्णन में कवि को सर्वाधिक सफलता मिली है। बारहवें सर्ग में सेनाप्रयाण, तेरहवें में इन्द्रप्रस्थ का कोलाहल और चतुर्दश सर्ग में यज्ञ का वर्णन मिलता है । इसमें श्रीकृष्ण की पूजा का भी वर्णन है । पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल का रुष्ट होना और सोलहवें सर्ग में उसके दूत भेजने का वर्णन है । सप्तदश और अष्टादश सर्ग में सेना की तैयारी तथा उन्नीसवें में युद्ध का वर्णन है । युद्ध-वर्णन में कवि ने भारवि के पन्द्रहवें सर्ग के समान चित्रकाव्य प्रस्तुत किया है । बीसवें सर्ग में शिशुपाल मारा जाता है । इस प्रकार कवि ने महाकाव्य के नियमों का पालन किया है ।

माघ का व्यक्तित्व

माघ का तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान के बहुविध क्षेत्रों में अनुपम और अगाध पाण्डित्य था । इनका भारतीय भूगोल का ज्ञान कृष्ण की सेना के प्रयाण-पथ के वर्णन से उत्कृष्ट प्रतीत होता है । वैदिक संस्कृति के धर्म और दर्शन के मर्म और रहस्य का उन्हें प्रकाम परिचय था । व्याकरण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियों पर उनका इतना अधिकार था कि अपने काव्य के प्रवाह में उनका समीचीन संयोजन विषय के स्पष्टीकरण के लिए किया गया है । काव्यशास्त्र के परम मर्मज्ञ तो माघ थे ही ।

माघ राजसभा को अलंकृत करने वाले महाकवि थे । उनकी कविता का ऐसी परिस्थिति में तत्कालीन राजधानीय संस्कृति से ओत-प्रोत होना स्वाभाविक ही है । तत्कालीन सामन्त-वर्ग के जीवन का जीता-जागता चित्र माघ ने प्रस्तुत किया है । इस

वर्ग के समक्ष सम्भवतः उस युग में विलासिता के सामने कोई आदर्श नहीं टिक सका था। उदाहरण के लिए शिशुपाल-वध के छठें सर्ग को लीजिए। इस सर्ग में ऋतुओं का वर्णन है। इसमें कवि ने ऋतुओं के केवल उसी सौन्दर्य-पक्ष का निदर्शन किया है, जिससे वे कामुकता का संवर्धन करती हैं। इस वर्णन की रामायण के ऋतु-वर्णन से तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि कवि ने ऋतुओं का एकदेशीय वर्णन करके काव्य-परिधि को संकुचित कर डाला है। ऋतुओं के सौन्दर्य का सम्बन्ध केवल कामुक प्रकृति से ही तो नहीं है।

माघ यदि सर्वसाधारण के कवि होते तो उनकी रचना में तत्कालीन समाज का सर्वांगीण चित्रण हो पाता और समाज को वे प्रगति का सन्देश देने में समर्थ होते। कविता-कामिनी को राजसभा की नर्तकी बनाकर माघ ने जो आदर्श प्रस्तुत किया, वह परवर्ती युग में देव, बिहारी आदि की रचनाओं में पुनः प्रस्फुटित हुआ है। इसी युग में साधारण जन-समाज के भी कवि थे, पर उनकी रचनायें जैन संस्कृति से सम्बद्ध हैं।

काव्य-कला

माघ के समक्ष पूर्ववर्ती महाकवि भारवि की रचना—किरातार्जुनीय थी। माघ के इस प्रयास से सिद्ध होता है कि किरातार्जुनीय उस युग का सर्वाधिक प्रतिष्ठित महाकाव्य था। माघ भारवि से स्पर्धा करके उससे उच्चतर कोटि की रचना करने में कहाँ तक सफल हुए—यह विचारणीय प्रश्न है। इतना तो निश्चित ही है कि शिशुपाल-वध में वे सभी गुण-दोष प्रचुर मात्रा में हैं, जो किरातार्जुनीय में पहले से ही वर्तमान थे। माघ के प्रशंसकों का तो कहना है—

"तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः"

अर्थात् माघ ने भारवि पर विजय पा ली है। भारवि की अपेक्षा माघ अवश्य आगे बढ़े हुए हैं। माघ के सम्बन्ध में नीचे लिखी उक्ति भी उनकी काव्य-कला की सर्वोपरि प्रतिष्ठा का परिचय देती है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव, दण्डी का पदलालित्य इन तीनों गुणों का समन्वय महाकवि माघ में है। भारवि एक मात्र अर्थगौरव के लिए प्रसिद्ध थे, पर उपमा, अर्थगौरव और पदलालित्य तीनों की दृष्टि से माघ की ख्याति हुई।

माघ की उपमाएँ अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ हैं। यथा—

दधत्सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः।
द्विषद्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः॥२.१८

सायंकालीन अरुणवर्ण आकाश में चमकती हुई ताराओं का अनुकरण करने वाली, शत्रु के विषय में उत्पन्न विरोध से अरुणवर्ण-शरीर में संसक्त स्वेदबिन्दुओं को धारण करते हुए बलराम का शरीर अत्यन्त गौरवर्ण है, परन्तु शिशुपाल पर क्रोध करने के कारण वह सन्ध्याकालीन अरुणवर्ण के आकाश के समान हो गया। शरीर तमतमाने लगा अत: अरुण वर्ण के शरीर में पसीने की बूँदें उसी प्रकार चमकने लगीं, जिस प्रकार सन्ध्या के समय आकाश में तारे चमकने लगते हैं। सटीक उपमा है। सारा दृश्य प्रत्यक्ष सा लगता है। इसी प्रकार असंख्य उपमाओं का समावेश किया गया है। उनकी उपमाएँ सुन्दर, मनोहर और विषयानुकूल हैं। दूसरा उदाहरण है—

सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला
पुमांसमन्वेति भवान्तरेष्वपि ॥१.७२

माघ अर्थगौरव में भारवि से हीन नहीं हैं। नूतन कल्पनाओं की उद्भावना कर कवि नई दृष्टि प्रदान करता है—

'निदाघधामानमिवाधिदीधितिं
मुदाविकासं मुनिमभ्युपेयुषी।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी
स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ॥१.२४

"सूर्य के समान परम तेजस्वी नारद के सामने हर्ष से विकसित नेत्रद्वय को धारण करते हुए वे श्रीकृष्ण वस्तुत: पुण्डरीकाक्ष (कमलनेत्र) हो गये।" सूर्य की किरणों को प्राप्त करने पर ही कमल खिलता है।

कतिपय श्लोकों में कवि का नादात्मक पदलालित्य स्तुत्य है। यथा—

'वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्
भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखला,
कलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया ॥६.१४

"एक सुन्दरी के मुख की सुगन्ध के लोभ से एक भ्रमर ऊपर मँडराने लगा। उसके भय की घबराहट से सुशोभित वह सुन्दरी जब भागने लगी तब उसकी अलकें उसकी चंचल आँखों के ऊपर आ गिरीं और उसकी सुवर्ण मेखला से सुमधुर ध्वनि होने लगी।"

शिशुपालवध के कथानक में परम्परागत आख्यान का जो अभिनव रूप मिलता है, उससे कवि की तत्सम्बन्धी कला का परिचय मिलता है, जिसके बल पर शिशुपाल-वध की कथा में उन तत्त्वों का समावेश किया जा सका है, जो किरातार्जुनीय में वर्तमान हैं।

नारद का द्वारका में कृष्ण के घर आना और इन्द्र का यह संवाद सुनाना कि चेदिनरेश शिशुपाल का अन्त करना मानव और देवताओं के कल्याण के लिए है—इन दो नई बातों को आरम्भ में संयोजित कर लेने पर माघ को उन सभी वर्णनों के लिए समुचित और प्रासंगिक अवसर मिल गया, जो किरातार्जुनीय में हैं। फिर तो बलराम और उद्धव के साथ राजनीतिक परामर्श, सेना का प्रयाण आदि साङ्गोपाङ्ग वर्णन में माघ को भारवि से अधिक स्वाभाविक और विस्तृत क्षेत्र मिल गया। कृष्ण के इन्द्रप्रस्थ-प्रवेश-वर्णन में माघ अश्वघोष और कालिदास के तत्सम्बन्धी वर्णनों से अधिक सफल हैं। शिशुपाल-वध में महाभारत की अपेक्षा विवाद छोटे हैं। युद्ध के उपक्रम में नायक और प्रतिनायक के बदले दूत भाग लेते हैं।

संस्कृत काव्य-साहित्य के लिए उपर्युक्त अनुकरण-पद्धति कुछ ह्रासजनक सिद्ध हुई है। अपने कथानकों के लिए महाभारत, रामायण आदि इतिहास और पुराणों पर पूरा अवलम्बित होना, अपने काव्य के वर्णनों को पूर्ववर्ती कवियों के वर्णनों के अनुरूप बनाना, छन्द, अलंकार और काव्य-बन्ध की सनातन परम्परा को अपनाना काव्य के ऐसे शाश्वत तत्त्व से बन गये कि नवीनता का नाम ही मिट गया। काव्य की रूप-रेखा और उसके तत्त्वों के सम्बन्ध में अभिनव दृष्टिकोण का प्रयोग न करना प्रायः सभी महाकवियों की सामान्य त्रुटि कही जा सकती है।

माघ की शैली

माघ का राजनीति, व्याकरण-शास्त्र, काव्य-शास्त्र, संगीत आदि विषयों पर विशेष अधिकार था। उन्हें शब्द की शक्तियों का अपूर्व परिचय भी था। इनके काव्य के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते' अर्थात् माघ की रचना के नव सर्गों में ही संस्कृत के सभी शब्द आ जाते हैं। माघ का कल्पना-क्षेत्र असीम था। नीचे लिखे श्लोक में कवि ने प्रातःकालीन सूर्य को शिशु मानकर कहा है—

> उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेष रिंगन् सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
> विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः, परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः॥

"आँगन के समान उदयाचल की चोटी पर यह सूर्य शिशु की भाँति रेंगता है। जिस प्रकार दासियाँ प्रसन्न मुख होकर आँगन में रेंगती हुए बच्चे को देखती हैं, उसी प्रकार कमलिनियाँ कमलों को विकसित करके सूर्य का निरीक्षण करती हैं। जैसे शिशु माता के पुकारने पर अपने हाथों को फैला कर उसकी गोद में चला जाता है, उसी प्रकार चिड़ियों के चहचहाने पर प्रातःकालीन सूर्य भी किरणों का प्रसार करके आकाश की गोद में जा पड़ता है।"

माघ की भाषा में अलंकारों का प्रयोग उनकी अभिनव कल्पनाओं के द्वारा उच्च-कोटि का है। अनुप्रास अप्रयास ही आ गये हैं।[1]

माघ ने इस काव्य में प्रायः सर्वत्र अपने प्रखर और दुर्बोध पाण्डित्य और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय दिया है। राजशेखर ने माघ की शैली की तारतम्यात्मक आलोचना करते हुए लिखा है—

कृत्स्नप्रबोधकृद्वाणी भारवेरिव भारवेः।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते ॥

"भारवि की वाणी तो सबके प्रबोध के लिए उसी प्रकार है, जैसे सूर्य की प्रभा। माघ मास की भाँति माघ किसे कम्पित नहीं कर देते ?"

माघ ने युद्ध के वर्णन में अपनी शैली को युद्ध के व्यूहों के समान ही प्रस्तुत किया है और वास्तव में उनके युद्ध-वर्णन के श्लोक युद्ध-व्यूह के समान ही दुर्भेद्य हैं। वे सर्वतोभद्र, चक्र, गोमूत्रक आदि युद्ध-व्यूह की विकरालता का निदर्शन कराते हैं। एक दृष्टि से देखा जाय तो कवि की इसमें सफलता ही माननी चाहिए। उसने युद्ध के वर्णन में ऐसा काव्यात्मक वातावरण का सर्जन किया है कि पाठक को मानो माघ के श्लोकों से युद्ध करते हुए वीर रस की अनुभूति होने लगती है। पराक्रमी पाठक के लिए ही ये श्लोक हैं। माघ के एकाक्षर श्लोक तो अद्भुत् ही हैं।[2] अन्यत्र श्लोकों में दो अर्थों का संयोजन भी माघ के काव्य-उत्कर्ष का परिचायक है। माघ ने विविध छन्दों का प्रयोग करने में सफलता पायी है। चौथे सर्ग में २२ छन्दों का उपयोग हुआ है। उनके प्रिय छन्द श्लोक, वंशस्थोपजाति, इन्द्रवज्रा, उद्गता, औपच्छन्दसिक, द्रुतविलम्बित आदि हैं।

पूर्ववर्ती काव्यों की छाया

किरातार्जुनीय और शिशुपालवध की तुलना करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि माघ ने भारवि से समान क्षेत्र में विशेषता प्राप्त करने के लिए पद-पद पर उन्हीं योजनाओं को ग्रहण किया है, जिनका संग्रन्थन भारवि की रचनाओं में पहले से ही था। भारवि शैव थे और माघ वैष्णव। सम्भव है, अपने-अपने आराध्य-देव की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए उनके भक्त कवियों का यह परस्पर द्वन्द्व था, जो महाकाव्य के रूप में विकसित हुआ। दोनों महाकवियों की श्री के प्रति समान श्रद्धा थी। उन्होंने श्री से ही अपने काव्यों का आरम्भ किया। किरातार्जुनीय और शिशुपालवध में कथा

---

१. मधुरया मधुबोधितमाधवी मधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥ ६·२०

२. दाददो दुद्दुद्दादी दादादो दूददीददोः।
दुद्दादं दददे दुद्दे ददाऽददददोऽददः ॥१९·११४

की गतिविधि और चित्रकाव्य का विन्यास बहुत कुछ समान है और वर्णनों का संयोजन-क्रम तो प्रायः एक जैसा ही है। दोनों की कथाएँ महाभारत से ली गयी हैं। माघ का काव्यस्तर यदि भूतल पर है तो भारवि का प्रायः स्वर्गलोक में। इन दोनों महाकाव्यों में कहीं-कहीं भाव-साम्य स्थान-स्थान पर उक्ति-साम्य से या अनुवाद रूप में अनुगत है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारवि से बढ़ने के उत्साह में माघ ने काव्य की उन सौष्ठव-विधायिनी सीमाओं की ओर ध्यान नहीं दिया, जिनका परिपाक किरातार्जुनीय में भारवि के द्वारा हो चुका था। माघ तो अति कर देते हैं।

भारवि और माघ दोनों की शृङ्गारप्रियता, शब्दाडम्बर और चित्रबन्ध की ग्रन्थियां भले ही युगानुरूप रही हैं, पर किसी भी देश के काव्य के इतिहास में इनको शाश्वत गौरव नहीं प्राप्त हो सकता है।

माघ का काव्य किरातार्जुनीय की प्रतिमूर्ति है। दोनों काव्यों का आरम्भ 'श्री' (श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीम्—किरात। श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्—शिशुपालवध) से होता है। भारवि प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग करते हैं तो माघ 'श्री' शब्द का। नारद और वनेचर क्रमशः कृष्ण और युधिष्ठिर के दास दोनों काव्यों के प्रथम सर्ग में आते हैं। दोनों के दूसरे सर्गों में बलराम, उद्धव और श्रीकृष्ण तथा भीम और युधिष्ठिर की राजनीतिक मन्त्रणा मिलती है। इसके पश्चात् शिशुपाल-वध के चतुर्थ सर्ग से लेकर दशम सर्ग की कथा और वर्णन में किरात के चतुर्थ से नवम सर्ग तक के वर्णन की छाप है। दोनों में भाव-साम्य, सन्ध्या, प्रभात, रजनी आदि का वर्णन मिलता है। किरातार्जुनीय में अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करते हैं और शिशुपालवध में श्रीकृष्ण रैवतक पर्वत पर विहार करते हैं। किरात के पन्द्रहवें और माघ के ग्यारहवें सर्ग में चित्र-बन्धों द्वारा युद्ध-वर्णन प्रस्तुत है।

भारवि की भांति पूर्ववर्ती अन्य कवियों का भी माघ पर प्रभाव पड़ा है। भट्टि के आदर्श पर परवर्ती युग में अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं को काव्य और व्याकरण आदि सिखाने का माध्यम बनाया। उनके प्रभात-वर्णन के आदर्श पर माघ ने शिशुपाल-वध में प्रातःकाल का वर्णन किया है। माघ की रचना में व्याकरण-कौशल का प्रदर्शन बहुत कुछ भट्टि के आदर्श पर ही प्रतिष्ठित हुआ है। कई स्थलों पर समान भाव मिलते हैं। यथा—

'सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता
नृसिंहसैंहीमतनुं तनुं त्वया।
समुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरै-
रुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥१.४७

"हे नृसिंह ! आपने अति विशाल सिंह का शरीर धारण कर अपनी जटाओं से बादलों को छिन्न-भिन्न करके, उस दैत्य के वक्षस्थल को, नवयौवना कान्ता के कठोर स्तनों से भी टेढ़े हो जाने वाले अपने नखों से, विदीर्ण कर दिया।" भट्टि का श्लोक इसी प्रकार के आशय को व्यक्त करता है—

क्व स्त्रीविसह्याः करजाः क्व वक्षो
दैत्यस्य शैलेन्द्रशिलाविशालम्।
संपश्यतैतद् द्युसदां सुनीतं
बिभेद तैस्तम्नरसिंहमूर्तिः ॥१२.५६

इसी प्रकार कालिदास के भावों को ग्रहण कर शब्दान्तर में कहा गया है। यथा —

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ रघु० ७.६

वलयार्पितासितमहोपलप्रभाबहुलीकृतप्रतनुरोमराजिना।
हरिवीक्षणाक्षणिकचक्षुषान्यया करपल्लवेन गलदम्बरं दधे ॥
शिशु० १३.४४

अन्यत्र भी इसी प्रकार के पूर्ववर्ती कवियों की छाया लक्षित होती है।

माघ का प्रकृति-वर्णन

माघ प्रकृति-वर्णन में विशेष पटु हैं। प्रकृति का चित्र-विचित्र वर्णन शिशुपालवध में प्राप्त होता है। यद्यपि उनके प्रकृति-वर्णन में कृत्रिमता झलकती है, तथापि उसमें रमणीयता अवश्य है। माघ कलावादी कवि थे, जिसके फलस्वरूप प्रकृति का वर्णन उन्होंने कलात्मक ढंग से किया है। षष्ठ सर्ग में यमक के माध्यम से प्रकृति-वर्णन की सरसता प्रस्तुत की गयी है।

माघ के सभी वर्णन अलंकार से युक्त हैं। प्रकृति-वर्णन में भी उनकी अलंकार-प्रियता प्रकट होती है। माघ ने प्रकृति के शृंगार-पक्ष का ही अधिक वर्णन किया है, परन्तु जिस स्थल पर उन्होंने वियोग पक्ष का वर्णन किया, वह नितान्त कारुणिक और मर्म-स्पर्शी है। यथा—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिता-
श्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां
विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥ ४.४७

"रैवतक पर्वत की कन्याएँ (नदियाँ) जो अपने पिता की गोद में निःशङ्क भाव से लोटती थीं, आज पति समागम (सागर-मिलन) के लिए जा रही हैं। पिता का स्नेहमय

हृदय कन्याओं का वियोग देखकर पक्षियों के कलरव के रूप में करुण-क्रन्दन कर रहा है।" यह कन्या की विदाई का करुण दृश्य है।

प्रकृति पर्यवेक्षण में माघ की निराली दृष्टि है। उन्होंने प्रकृति के सभी उपादानों का सूक्ष्म निरीक्षण करके उन्हें काव्यात्मक विधान दिया है। कहीं-कहीं माघ श्लेष और यमक का आश्रय ग्रहण कर सुन्दर रूप-योजनात्मक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। यथा—

'स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः
प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालित-
स्वसमया समयाज्जगतीधरम् ॥६.२५

"बारंबार बिजली रूपी आँखों को चमकाती हुई, उभड़े हुए विशाल उन्नत पयोधरों (स्तनों-बादलों) वाली जलधरों की पंक्तियाँ अपने समय की प्रतीक्षा किए बिना ही प्रियतम के समान रैवतक पर्वत के समीप आ गयीं।"

माघ का प्रभात-वर्णन अनवद्य है—

'विततपृथुवरत्रा-तुल्यरूपैर्मयूखैः,
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि—
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥११.४४

'सूर्य पूर्व के क्षितिज पर विशाल गोलाकार रूप में दिखाई पड़ रहा है और उसकी किरणें पहले की अपेक्षा बड़ी होकर सभी दिशाओं में फैल गई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सूर्य नहीं है अपितु एक विशाल कलश है, जिसे दिशा रूपी रमणियाँ चिड़ियों के कोलाहल के बहाने अपनी किरण रूपी रस्सियों में बाँधकर समुद्र के जल के भीतर से बाहर निकाल रही हैं।" रमणियों द्वारा कूप से जल निकालते समय कोलाहल होता ही है। उसका स्थान प्रातः कालीन चिड़ियों का कोलाहल है। अतिशय सजीव और सुन्दर यह वर्णन है।

कवि प्रकृति को मानव-रूप में देखता है, और उसे सजाता है। उषा को रजनी की एक सद्योजात सुन्दरी कन्या माना गया है। उत्प्रेक्षा के सहारे कवि की कोमल, नूतन, रमणीय कल्पना द्रष्टव्य है—

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा
बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्त्रिणां व्याहरन्ती
रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ॥११.४०

"रात्रि के चले जाने पर प्रातःकाल की सन्ध्या (उषा) उसी के पीछे जाती हुई ऐसी सुशोभित हो रही है जैसे वह रजनी की सद्योजात सुन्दरी कन्या हो। लाल-लाल कमलों की पंक्तियाँ तथा पंखुड़ियाँ मानो उसकी सुन्दर हथेली तथा अँगुलियाँ हैं, घूमने वाले भ्रमरवृन्द मानों उसकी आँखों के काजल हैं, प्रफुल्ल कमल उसके सुन्दर नेत्र हैं और पक्षियों का कलरव उसका सुन्दर गान है।"

माघ की सूक्तियाँ

माघ की सूक्तियाँ सूक्ष्मदर्शिता और चरित्र-निर्माण की योजना प्रस्तुत करती हैं। यथा—

'श्रेयसि केन तृप्यते'

श्रेय के विषय में किसे सन्तोष होता है?

'सदाभिमानैकधना हि मानिनः'

मानी लोगों का सर्वदा एकमात्र अभिमान ही धन होता है।

'महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः'

बड़े लोग स्वभाव से ही थोड़ा बोलते हैं।

'विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते।'

विपक्ष का विनाश किये बिना प्रतिष्ठा दुर्लभ रहती है। धूलि को पंक बनाये बिना पानी नहीं ठहरता।

'तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते'

दूर होने पर भी तेजस्वी की तेजस्वियों में गणना होती है।

'सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः'

तेज और अन्धकार की एक आश्रयता कहाँ सम्भव है?

'अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता'

गान की भाँति ही वाङ्मय अतिशय विचित्र है।

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'

रमणीयता का वह स्वरूप है कि वह प्रतिक्षण अपूर्व प्रतीत हो।

'आक्रान्तितो न वशमेति महान्परस्य'

आक्रमण करने से महान् पुरुष शत्रुओं के वश में नहीं आते।

'परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः'

शत्रुओं के द्वारा किया हुआ परिभव सुदुःसह होता है।

'समये हि सर्वमुपकारि कृतम्'

समय पर किया हुआ सब कुछ उपकारी होता है ।

'भ्रान्तिभाजि भवति क्व विवेकः'

भ्रम में पड़े हुए व्यक्तियों को विवेक कहाँ ?

'महतां हि सर्वमथवा जनातिगम्'

महापुरुषों का सब कुछ अलौकिक ही होता है

'प्रभुचित्तमेव हि जनोऽनुवर्तते"

लोग अपने स्वामी के मन के अनुसार आचरण करते हैं

'सर्वः स्वार्थं समीहते'

सभी अपने स्वार्थ की कामना करते हैं ।

साम्प्रदायिक आलोचना

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

"कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव, दण्डी का पदलालित्य—ये तीनों गुण माघ में पाये जाते हैं ।"

'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः'

"भारवि कवि की प्रभा तभी तक शोभा पाती है जब तक माघ कवि का उदय नहीं होता ।"

महाकवि राजशेखर ने माघ की इस प्रकार प्रशंसा की—

'कृत्स्नप्रबोधकृत् वाणी भारवेरिव भारवेः ।
माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते ॥'

"सूर्य की किरणों की भाँति जहाँ कविवर भारवि की कविता समग्र ज्ञान को प्रकाशित करने वाली है, वहीं माघ मास के समान माघ का नाम सुनकर किस कवि को कँपकँपी नहीं आ जाती ।"

धनपाल द्वारा की गयी प्रशंसा इस प्रकार है—

'माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे ।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा ॥

"जिस प्रकार माघ मास के अत्यधिक जाड़े में बन्दर सूर्य का स्मरण करते हैं और चुपचाप रहकर इधर-उधर उछल-कूद नहीं मचाते, उसी प्रकार माघ कवि की

रचना का स्मरण करके बड़े-बड़े कवियों का उत्साह पद-योजना करने में ठंडा पड़ जाता है, चाहे वे भारवि के पदों का कितना ही स्मरण क्यों न करें।"

एक स्थल पर किसी आलोचक ने इस प्रकार कहा है—

'काव्येषु माघः कविकालिदासः'

दूसरे आलोचकों ने माघ और मेघ के परिशीलन में ही जीवन व्यतीत कर दिया—

'माघे मेघे गतं वयः'

माघ संसार को कँपाने में समर्थ हैं।

'माघो माघ इवाशेषं क्षमः कम्पयितुं जगत्।
श्लेषामोदभरं चापि सम्भावयितुमीश्वरः॥

महाकाव्य शिशुपालवध के सम्बन्ध में यह सूक्ति प्रचलित है कि नवम सर्ग के पश्चात् कोई नवीन शब्द नहीं रह जाता अर्थात् नवम सर्ग तक सभी शब्दों का प्रयोग हो चुका—

'नवसर्गगते माघे नव शब्दो न विद्यते'

अध्याय १२

भवभूति

उत्तररामचरित, महावीरचरित और मालतीमाधव के रचयिता महाकवि भवभूति ने अपना पर्याप्त परिचय अपनी कृतियों के प्रारम्भ में दिया है। कविवर का पहला नाम श्रीनीलकण्ठ था अर्थात् जिसके कण्ठ में सरस्वती का विलास हो। इस नाम से प्रतीत होता है कि कवि के जीवन के प्रथम दिन से ही उसके चतुर्दिक् सरस्वती की उपासना का वातावरण था।

कवि-परिचय

भवभूति का जन्म आधुनिक महाराष्ट्र के विदर्भ खण्ड में पद्मपुर में हुआ था। इनके वंश का नाम उदुम्बर है। कहते हैं कि इस वंश का प्रादुर्भाव कश्यप मुनि से हुआ था। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अनुयायी यह ब्राह्मण कुल था। वे ब्रह्मवादी थे और सोमयज्ञ का प्रचलन उस कुल में था। भवभूति ने इस कुल का श्लोका-ख्यान किया है—

ते श्रोत्रियास्तत्त्वविनिश्चयाय
भूरि श्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते।
इष्टाय पूर्ताय च कर्मणेऽर्थान्
दारानपत्याय तपोऽर्थमायुः॥

अर्थात् वे श्रोत्रिय थे, उच्चकोटि के विद्वान् थे। इष्ट और पूर्त का सम्पादन उनकी विशेषता थी। उनका जीवन ही तप के लिए था।

भवभूति के पिता का नाम नीलकण्ठ और माता का नाम जातुकर्णी था। ऐसे कुल में उत्पन्न कवि का अध्ययन सार्वक्षेत्रिक था, जैसा उन्होंने स्वयं कहा है—

यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च
ज्ञानं तत्कथनेन किं न हि ततः कश्चिद्गुणो नाटके।
यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥

अर्थात् कविवर ने विविध दर्शनों, वेदों और उपनिषदों का अध्ययन तो किया ही था, काव्य-रचना में उनकी लोकप्रियपक्षात्मक दृष्टि भी सफल थी।

भारवि ने अपनी शिक्षा-दीक्षा सम्भवतः उज्जयिनी में पाई। वे गृहस्थाश्रम में सम्भवतः कभी कन्नौज में यशोवर्मा की राजसभा की विद्वत्परिषद् के सदस्य थे।

मालतीमाधव में जो पद्मावती में उस रूपक की घटनास्थली है, वह ग्वालियर के पास पवाया हो सकती है[१]। इस स्थान से भवभूति का निकट सम्बन्ध किसी न किसी रूप में दीर्घकालीन रहा होगा। तभी इसका विवरण इतना सटीक और रुचिपूर्ण हो सकता था।

व्यक्तित्व

भवभूति की रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे बहुत ऐश्वर्यशाली नहीं थे। आरम्भ में उनकी रचनाओं का कोई विशेष सम्मान नहीं हुआ। तभी तो उन्हें लिखना पड़ा—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥ मा० मा० १.६

अथवा

सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः॥उ०रा० १.५

कवि ने मालतीमाधव और उत्तररामचरित में आदर्श का जो स्वरूप निरूपित किया है, उससे ज्ञात होता है कि इस विषय में उनका निजी अनुभव ही प्रधान कारण है। उनका कौटुम्बिक जीवन सरल, सरस और सौहार्दपूर्ण रहा होगा।[२] कवि की उक्ति प्रमाण है—

प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा
सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसा-
मित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥मा० मा० ६.१८

---

१. महामहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी के अनुसार पद्मावती भण्डारा जिले में आमगाँव के निकट का पद्मपुर है।
देखिये सागरिका १९६३ अंक ३।

२. उत्तररामचरित में भी भवभूति ने कहा है—
अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते॥३.१७

सम्भव है, कवि का पुण्य अपनी कृतियों से यश पाने के लिए पर्याप्त नहीं रहा हो, फिर भी कवि को अपने मित्रों की संगति में आनन्दनिर्भरता का सान्द्रोपभोग सम्भव हुआ—

प्राणैरपि हिते वृत्तिरद्रोहो व्याजवर्जनम् ।
आत्मनीव प्रियाधानमेतन्मैत्री महाव्रतम् ।।

भवभूति का भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों में पूर्ण विश्वास था । उन्होंने जिस प्रकार के कथानक लिये हैं और आदर्श पात्रों के चरित्र-चित्रण का जैसा निर्वाह किया है, उससे प्रतीत होता है कि कविवर को अपनी कृतियों के द्वारा समाज को विकासोन्मुख गति देने का उत्साह था ।

काल-निर्णय

कन्नौज के राजा यशोवर्मा के राजकवि वाक्पतिराज की रचना गौडवहो में भवभूति का उल्लेख है कि वाक्पति राज ने भवभूति से बहुत कुछ सहायता ली । यथा—

भवभूइजलहि-निग्गय कव्वामय रसकणा इव फुरन्ति ।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहाणिवेसेसु ।।गौड० ७९९

कल्हण ने भी उपर्युक्त राजा का वर्णन करते हुए कहा है कि वाक्पतिराज और भवभूति यशोवर्मा की सभा में थे—

जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ।। ४.१४४

यशोवर्मा की यह पराजय आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुई थी ।

उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि गौडवहो की रचना जब यशोवर्मा की पराजय (७३६ ई०)के पहले हुई तो भवभूति इस समय के पहले हुए । यदि कल्हण का कहना सत्य है तो भवभूति आठवीं शती के पूर्वार्ध में हुए । यदि इस कथन का सत्य अप्रमाणित है तो भी भवभूति को ७३६ ई० के पहले मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती । कितना पहले ? भवभूति का उल्लेख बाण ने नहीं किया है, अतएव उन्हें बाण के पश्चात् मानने का अनुमान हो सकता है । ऐसी स्थिति में भवभूति को बाण के पश्चात् ६५० ई० के पश्चात् और ७३६ ई० के बीच रखना समीचीन है । प्रायः विद्वानों ने आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भवभूति का प्रादुर्भाव माना है । डा० एस० के० डे के मतानुसार—

As this poem **Gaudavaho** is presumed to have been composed about 736 A.D. before Yaśovarman's defeat and humiliation by

King Lalitaditya of Kashmir, it is inferred that Bhavabhuti flourished, if not actually in the court of Yasovarman, atleast during his reign, in the closing years of the seventh or the first quarter of the eighth century.

मालतीमाधव

मालतीमाधव प्रकरण कोटि का रूपक है। प्रकरण की कथा-वस्तु कविकल्पित होती है। यहाँ कविकल्पित का यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि कथावस्तु प्रकरण के लेखक के द्वारा ही कल्पित है। कल्पित से इतना ही तात्पर्य है कि वह ऐतिहासिक कोटि में नहीं आती है। पहले के कथाकारों के द्वारा कल्पित कथा भी प्रकरण में ग्रहणीय हो सकती है।

कथा का मूल

मालतीमाधव की मूलकथा गुणाढ्य की बड्डकहाओ से सम्भवतः ली गई है। कथासरित्सागर की इस उपजीव्य कथा के विषय में विल्सन का कथन है—

The incidents are curious and diverting, but they are chiefly remarkable from being the same as the contrivances by which Madhava and Makaranda obtain their mistresses in the drama entitled Malati and Madhava or the stolen marriage.

इसके अतिरिक्त इस प्रकरण की कथा के अन्य अंशों को भी बड्डकहाओ, विक्रमोर्वशीय, दशकुमारचरित आदि की कुछ कथाओं पर स्पष्ट आधारित देखा जा सकता है। फिर भी इस में कोई सन्देह नहीं कि भवभूति ने कई कथांशों को अत्यन्त कौशलपूर्वक संयोजित करके इस प्रकरण का रूप अनुपम रसास्वादन के योग्य बना डाला है।

कथावस्तु

मालतीमाधव में पद्मावती के राजमंत्री भूरिवसु की कन्या मालती और विदर्भ के राजमन्त्री देवरात के पुत्र माधव के विवाह की कथा मिलती है। दोनों राजमन्त्री अपनी बाल्यावस्था में पद्मावती में कामन्दकी के सहाध्यायी मित्र थे। अपने मैत्री-भाव को स्थायी बनाने के लिए मन्त्रियों ने उसी समय अपनी सन्तान का परस्पर विवाह करने की प्रतिज्ञा की थी। संयोगवश देवरात को पुत्र और भूरिवसु को कन्या उत्पन्न हुई, जिनके नाम क्रमशः माधव और मालती पड़े। माधव न्यायशास्त्र के अध्ययन के लिए कामन्दकी के पास ब्रह्मचारी बना। वहीं पद्मावती में रहते हुए मालती के साथ उनके विवाह की सम्भावना देवरात के मन में थी। पर मालती का एक नया प्रेमी निकला

अतिवयस्क राजश्याल नन्दन, जिसके कहने पर राजा ने स्वयं अपने मन्त्री भूरिवसु से नन्दन-मालती के परिणय की बात कही। मन्त्री चक्कर में पड़ा—इधर बाल्यकाल की प्रतिज्ञा के अनुसार मालती-माधव का परिणय होना चाहिए था और उधर राजाज्ञा। भूरिवसु ने विचारपूर्ण उत्तर दिया—राजा अपनी कन्या का जो चाहें करें। वह इस विषम स्थिति में कामन्दकी के समीप गया कि वे भूरिवसु की प्रतिज्ञा पूरी करायें। उपाय निकला मालती और माधव का स्वयं गान्धर्व विवाह कर लेना। इनके बीच प्रेम स्थापित कराने का काम कामन्दकी ने अपनी शिष्या अवलोकिता को सौंपा और प्रतिदिन माधव को किसी न किसी काम से वह मालती के घर के समीप भेज देती। एक दिन मालती ने जो उसे देख लिया तो माधव से मिलने की ठानी। इस काम के लिए तो सखियों के परामर्श से मालती ने माधव का चित्र बनाया और उसे माधव के विद्यालय में काम करने वाली दासी मन्दारिका से माधव के पास भेज दिया। यह दासी माधव के दास कलहंस पर मोहित थी।

मदनमहोत्सव के अवसर पर अवलोकिता के निर्देशानुसार माधव मदनोद्यान में गया। वहीं उसकी मालती पर दृष्टि जो पड़ी तो मोहित हो गया। बहुत देर तक नायक-नायिका की एक दूसरे से देखा-देखी हुई। अन्त में जब मालती चली गई तो उसकी सखी लवङ्गिका माधव से उसी के द्वारा बनाई हुई माला को लेकर मालती के पास पहुँचा। इस बीच मालती का बनाया चित्र माधव के पास पहुँचा तो माधव ने मालती का चित्र बना दिया, जो मालती के पास पहुँचा। यह था परस्पर-प्रणय का आन्दोलन। इसको उत्तेजित करने के लिए स्वयं कामन्दकी मालती के समीप पहुँची, जब वह माधव का चित्र निहार रही थी। कामन्दकी ने मालती से कहा कि तुम्हारा विवाह राजाज्ञा से वयस्क नन्दन से होने वाला है। यह अनर्थ है। उसी समय माधव की भी चर्चा आई, जिसके विषय में मालती ने कहा कि मैं अपने पिता से सुन चुकी हूँ। फिर कामन्दकी लौट गई।

कामन्दकी ने मालती-माधव के मिलन के लिए कुसुमाकर उद्यान चुना। उसके आयोजन से माधव वहाँ पहुँचा और मालती भी। अच्छी सफलता रही, पर अन्त में वही चर्चा माधव के कान में आई कि मालती नन्दन की होने वाली है। अपने दुःसाध्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए माधव श्मशान में प्रेतसिद्धि करने पहुँचा। प्रेतों का नग्न नृत्य देख लेने पर उसे किसी स्त्री के रोने की ध्वनि सुनाई पड़ी, जो उसे मालती की ध्वनि लगी। झट घटनास्थल पर पहुँचा तो उसने देखा कि अघोरघण्ट कापालिक अपनी शिष्या कपालकुण्डला के द्वारा लाई हुई मालती के बलिदान से देवी को तृप्त करना चाहता है। इसने कापालिक को तलवार के घाट उतारा। इसी बीच कामन्दकी के भेजे हुए सैनिक वहाँ आ पहुँचे। मालती के प्राण बचे।

मालती का नन्दन के साथ विवाह का दिन आ पहुँचा। नन्दन भूरिवसु के घर सप्तपदी के लिए पहुँचा। कामन्दकी के निर्देशानुसार मालती की माँ ने उसे विवाह के पूर्व नगरदेव-दर्शन के लिए भेज दिया। वहीं मन्दिर में कामन्दकी ने माधव और मालती की परिणय-प्रतिज्ञा कराई। वहाँ से मालती के परिधान में माधव का मित्र मकरन्द भूरिवसु के घर पहुँचा और मालती और माधव पहुँचे कामन्दकी के आश्रम में। वहीं अवलोकिता ने उन दोनों का विवाह कराया। मालती के वेष में मकरन्द भी नन्दन से विवाहित हुआ। वह नन्दन के घर पहुँचा। उसका घूँघट खोलने का नन्दन ने जो प्रयास किया तो मकरन्द ने उसे पादप्रहार से दूर भगाया। उसी समय नन्दन की बहिन मदयन्तिका सारी कहानी जान कर मकरन्द से मिली। उसे मकरन्द से पहले से ही प्रेम था। कामन्दकी के निर्देशानुसार वे दोनों उसके आश्रम में जा रहे थे कि मार्ग में नन्दन के सैनिकों से मुठभेड़ हुई। माधव की सहायता से मार्ग निष्कण्टक हुआ।

अन्तिम प्रकरण कपालकुण्डला के मालती-हरण का है। वह अपने गुरु का बदला लेने के लिए माधव के पीछे पड़ी थी। वह इसी बीच मालती का हरण करके उसकी बलि देने के लिए उसे श्रीपर्वत पर ले उड़ी। वहीं कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी भी सिद्धि-प्राप्ति के लिए रहती थी। उसने मालती की रक्षा की और माधव से मिला दिया। अन्त में राजा ने विवाह के लिए अपनी अनुमति दे दी।

मालती-माधव में हास्य का अभाव है। स्वभावतः भवभूति विदूषक जैसे पात्र को लाने में असमर्थ थे। घटनाओं का संक्रमण उत्तेजनापूर्ण है। प्रणय और वीरता का सामञ्जस्य पर्याप्त सफल है। इस प्रकरण के द्वारा भवभूति ने तत्कालीन समाज में प्रचलित साम्प्रदायिक कुरीतियों पर कुठाराघात करने की चेष्टा की है। अघोरघण्ट और कपालकुण्डला का प्रभाव भारत में बढ़ रहा था। इसके खोखलापन और हीनताओं की ओर ध्यान दिलाने की चेष्टा सराहनीय है। भवभूति की लेखनी से बौद्ध सम्प्रदाय की सम्भवतः न चाहते हुए भी कुछ दुष्प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। कामन्दकी, सौदामिनी, अवलोकिता, बुद्धरक्षिता आदि विदुषी भिक्षुणियों के प्रति भवभूति का सम्मान प्रकट होता है। पर शिष्यों और शिष्याओं के विवाह-सम्बन्धी समस्याओं के समाधान में उनको तत्पर दिखाना अनुचित है।

उपर्युक्त कथानक यद्यपि घिसा-पिटा श्रृंगारात्मक है, तथापि इसमें नवीनता यह है कि वह राजाओं से सम्बद्ध न होकर साधारण मानवों के सम्बन्ध में है। इधर-उधर से सामग्री लेकर और वात्स्यायन के कामसूत्र से प्रणयमिलन की योजनाओं को अपनाकर भवभूति ने दो प्रेमकथाओं को जोड़कर रख दिया है और दस अंकों का एक चित्र-विचित्र संसार ही रच दिया है, जिसमें कम ही ऐसे पात्र हैं, जिनका चरित आदर्श कहा जा सके।

स्थान-स्थान पर जघन्यता, भयङ्करता और विस्मय के साथ अलौकिकता का अपूर्व सम्मिश्रण होने से सारे प्रकरण में मानो इन्द्रजाल का वातावरण है। विल्वल्कर के अनुसार—And the action is projected upon a weird background, with tigers running wild in the streets, ghosts squeaking in the cemeteries and mystic Kapalikas performing gruesomerites in the bloodi-stained temples.

इस प्रकरण के नायक और नायिका माधव और मालती हैं किन्तु जैसी कथा बनी है, उसमें सहकारी प्रेमकथा के नायक और नायिका का मकरन्द और मदयन्तिका जैसा चारित्रिक उत्कर्ष नहीं दिखाया जा सका है। मकरन्द और मदयन्तिका से सम्बद्ध घटनावली अधिक साहसिकता से पूर्ण है और पाठक की जिज्ञासा अधिक समय तक वे अपनी ओर बनाये रख सके हैं। कथा को संयोगवश घटी हुई घटनाओं के सहारे अनेकधा: बढ़ाना भी नाटकीयता के विरुद्ध बात है।

कथा का साधारण अन्त आठवें अंक तक कर देना अच्छा रहता किन्तु भवभूति ने कथा को अनावश्यक वृत्तों से और आगे खींचा है, जो अनावश्यक है। इस भाग में भयङ्करता और तिलस्मी चमत्कार और अधिक बढ़े हैं। इस प्रकार अनेक स्थलों पर प्रेक्षक को अद्भुत तत्त्वों के चक्कर में डालने के लिए भवभूति ने कथा को लम्बायमान किया है।

पात्रोन्मीलन

कथा के दो नायक, प्रमुख माधव और सहायक मकरन्द हैं। इनमें से माधव का व्यक्तित्व संयत और गम्भीर है। वह विचारशील है। माधव हृदय का धनी है। वह अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर चलता है और जिस स्थिति में रहता है, प्रायः उसी में पड़ा रह जाता है। उसमें उछल-कूद मचाने की शक्ति विशेष नहीं है। इधर मकरन्द पूरा खटपटी है। किसी काम को पूरा करने के लिए जितनी तत्परता चाहिए थी, उससे दूनी मात्रा में उसके पास थी। वह उच्चकोटि का मित्र, साहसिक, प्रणयी और संशयारोही है। वह मित्र की सहायता करने के लिए नन्दन से विवाह करने की सारी संकटास्पद प्रक्रिया को अपना लेता है। वह नन्दन के यहाँ से चुपचाप नहीं भाग निकलता, अपितु दुलत्ती झाड़कर निकलता है। नन्दन जैसे व्यभिचारी को यही फल मिलना चाहिए था।

दोनों नायिकाओं में भी तत्सम्बन्धी नायकों का व्यक्तित्व ही प्रतिफलित होता है। मालती विनय की मूर्ति है। उसका शील उदात्त है। वह माधव के गुण और भव्य

व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मन ही मन अपना सर्वस्व देकर भी अपने-आप कुछ भी नहीं करती, जिससे उसके प्रणय की पूर्णता हो। वह सब कुछ भाग्य के भरोसे छोड़ने वाली थी। माता-पिता की आज्ञा में उसकी सर्वोपरि निष्ठा थी। ऐसी मनःस्थिति रखने वाली मालती को जब अनेक संकटों से मुक्त होकर अपने प्रियतम से मिली हुई देखने का अवसर मिलता है तो प्रेक्षक की दैवी न्याय में आस्था बढ़ जाती है। मदयन्तिका वीर और साहस-सम्पन्न कन्या थी। उसने प्रिय-मिलन के पथ की सभी योजनाओं को संशय में पड़कर भी सम्पन्न किया। अवसर मिलते ही उसने अपना घर छोड़ कर मकरन्द का साथ पकड़ा। सम्भवतः मदयन्तिका का जीवन-स्तर हीनतर था और उस स्तर पर रहते हुए उसे शालीनता की कल्पना ही नहीं थी। नन्दन के साथ जो वातावरण था उसमें बेचारी मदयन्तिका को कहाँ से उदात्त जीवन की झलक मिलती? उसमें तो पाश्चात्य संस्कृति के योग्य प्रेरणायें और भावनाओं के साथ कार्य-क्षमता भरी है, जो भारतीय ललनाओं के योग्य नहीं प्रतीत होती।

कामन्दकी बौद्ध आचार्या थी। संन्यासिनी का जीवन बिताती हुई भी वह विचित्र प्रवृत्तियों से सम्पन्न थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसमें अद्भुत बुद्धि-कौशल था और योजनाओं को बनाने तथा उन्हें कार्यान्वित करने में उसे समान दक्षता प्राप्त थी। एक बार किसी काम को हाथ में लेने पर उसे अन्त तक निभाना उसका गुण है। फिर भी एक संन्यासिनी का ऐसा व्यवहार श्लाघ्य चरित की परिधि से बाहर है।

शैली

भवभूति उच्चकोटि के विद्वान् थे, साथ ही उनको सरस्वती का वरद हस्त प्राप्त था। इन दोनों गुणों का परिचय प्रचुर मात्रा में उनकी शैली से मिलता है। इस प्रकरण में कवि ने वेद, उपनिषद्, दर्शनादि के साथ अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के पाण्डित्य की बातें स्थान-स्थान पर भरी हैं।

कवि ने भावुकता की संगीतमय धारा का प्रवाह इस प्रकरण में सफलतापूर्वक प्रवाहित किया है। ऐसे अवसरों पर भावानुकूल पदावली का प्रभावोत्पादक सामञ्जस्य वर्तमान है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को यह भूल ही गया है कि मेरे प्रकरण की एक कथा है, जिसका सूत्र टूट-सा रहा है। श्लोकों की श्रेणी निरन्तर चल पड़ती है तो गीतात्मक नाट्य का आनन्द आने लगता है। उदाहरण के लिए देखिये—

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दै—
रधिकविकसदन्तर्विस्मयस्मेरतारैः।
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै—
रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मूलितं च ॥१.२८

कविवर गद्य लिखने में नितान्त पटु हैं किन्तु वही पटुता उनके गद्य को प्रकरणोचित सम्भाषणीयता के योग्य नहीं रहने देती। कवि को कभी-कभी कादम्बरी लिखने की सी वृत्ति में उलझा हुआ देखा जा सकता है। यथा—

अश्रमनेनायासितेन। एष सानन्दसहचरीसमाकर्ण्यमानमधुरगम्भीरकण्ठगर्जितध्वनिरपरो मत्तमातङ्गयूथपालः प्रत्यग्रविकसितकदम्बसंघातसुरभिशीतलामोदबहलसंगलितमांसलकपोलनिष्यन्दकर्दमितकरटः समुद्दलितकमलिनीखण्डविप्रकीर्णपर्णकमलकेसरमृणालबिसकन्दकोमलाङ्कुरनिकरमनवरतप्रवृत्तकमनीयकर्णतालताण्डवप्रचलजर्जरितजलतरंगवितततनीहारमुत्त्रस्तकुररसारसं सरोऽवगाह्य विहरति।

ऐसे लम्बे समास वाले दीर्घतम वाक्य कदापि नाटयोचित नहीं हैं। इसमें भाषा तो चित्रात्मक है और शब्दालंकार की छटा विराजती है पर नाटकीयता का अभाव है। ऐसे लम्बे-लम्बे गद्य-खण्डों से इस प्रकरण में अनेक स्थलों पर गति अवरुद्ध हो जाती है और परिणामतः प्रेक्षक का मन ऊबता है।

रस

मालतीमाधव में शृंगार-रस की व्यापकता है। इसके साथ ही शृंगार के साथी या विरोधी रस, रौद्र तृतीय अंक में, वीर तृतीय और सप्तम अङ्क में, बीभत्स और भयानक पंचम अंक में, करुण नवम अङ्क में तथा अद्भुत नवम और दशम अंक में विशेष रूप से हैं।

छन्द

भवभूति ने इस प्रकरण में विविध छन्दों का वैचित्र्य प्रस्तुत किया है। इनमें से सबसे कठिन प्रयास है दण्डक छन्द का, जिसमें ५४ अक्षर होते हैं।[1] सब मिलाकर २५ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से अपरवक्त्र आदि विशेष प्रचलित हैं। कवि के प्रिय छन्द वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, मालिनी, मन्दाक्रान्ता और हारिणी हैं। कोमल भावों की व्यञ्जना के लिए लघु छन्दों का प्रयोग हुआ है तथा साहस, पराक्रम आदि की अभिव्यक्ति बड़े छन्दों से की गई है।

महावीरचरित

भवभूति ने सम्भवतः मालतीमाधव के पश्चात् महावीरचरित की रचना की। इस पुस्तक के सात अंकों में प्रायः पूरी रामचरित की कथा का नाटकीय संविधान प्रस्तुत किया गया है। यह एक कठिन कार्य था। साधारणतः प्रत्येक काण्ड की एक-एक प्रमुख कथा को लेकर अनेक नाटक रामचरित पर आधारित करके लिखे गये और लिखे जा सकते हैं, पर पूरी कथा को पंचसन्धि, पंच अर्थप्रकृति और पंचकार्यावस्था में प्रविभक्त

१. देखिए ५.२३

कर देना सरल नहीं था। इसे भवभूति ने कर दिखाया है। सारी राम-कथा को एक नये ढंग से प्रस्तुत करने की यह कला नीचे लिखे कथानक से स्पष्ट होती है।

कथावस्तु

जनक ने सीता के स्वयंवर की घोषणा की। रावण के दूत ने आकर जनक को सूचित किया कि आप मुझे अपनी कन्या प्रदान करके हमारे उन्नत कुल के सम्बन्धी बनें। वह आता नहीं है क्योंकि इसमें अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न है। उसकी अभ्यर्थना पर विचार करना भी जनक ने ठीक न समझा। सीता का विवाह राम से कर दिया गया। रावण ने इसे अपना अपमान माना, विशेषत: इस बात से कि राम ने ताड़का, सुबाहु आदि अनेक सम्बन्धी राक्षसों को मारा था।

रावण के मन्त्री माल्यवान् ने उसे समझाया कि युक्तिपूर्वक काम करने से सब कुछ शान्ति से ही बन जायेगा। वह मन्त्री परशुराम से मिला और उन्हें राम के विरुद्ध भड़काया। परशुराम ने राम का विरोध तो किया पर परास्त हुआ। फिर भी माल्यवान् को पूरी निराशा न हुई। उसने रावण की बहिन शूर्पणखा को मन्थरा-धाई के रूप में अयोध्या में राम के लौटने के पहले ही यह सन्देश देने के लिए कहा कि कैकयी आपको १४ वर्ष का वनवास चाहती हैं। राम तदनुसार लक्ष्मण और सीता के साथ वन में चले गये।

उपर्युक्त उपाय से माल्यवान् ने आशा की थी कि राम को वन में अकेले रहने पर खर की सेना परास्त कर देगी और सीता का अपहरण खर करेगा। परिणामत: राम वन में चले गये पर खर इस उपक्रम में सफल न हो सका। रावण ने मारीच की सहायता से सीता-हरण किया। माल्यवान् ने बाली को उसकी इच्छा के विरुद्ध राम को परास्त करने के लिए उकसाया। युद्ध में बाली मारा गया। उसने अपने भाई सुग्रीव और अपने पुत्र को राम की शरण में मरते समय कर दिया।

अब तक माल्यवान् को पूरी सफलता नहीं मिली थी। उसने अन्त में निरुपाय होकर राम-रावण युद्ध कराया। रावण मरा। विभीषण उसके स्थान पर राजा हुआ। राम को सीता मिली। वे अयोध्या आये और राजा बन गये।

कथा-परिवर्तन

प्रत्यक्ष ही भवभूति ने इस नाटक की कथा में बहुत अधिक परिवर्तन किया है। यह सारा परिवर्तन इस लिए बहुत कुछ आवश्यक है कि कथावस्तु को नाटकीय रूप देकर आदि से अन्त तक कारण-कार्य और पञ्चसन्धियों का समावेश अपेक्षित था।

राम से लेकर रावण तक सभी पात्रों के चरित का सम्मार्जन करना भी इस कथावस्तु के परिवर्तन का उद्देश्य प्रतीत होता है। यद्यपि इस कथा में परशुराम, बाली और

रावण के चरित्र की कुछ दुर्बलतायें दिखाई गई है, पर उसका उद्देश्य है उनकी सापेक्षता में राम को उदात्ततम दिखाना। इस नाटक में इस बात का स्पष्ट ही प्रयास है कि सत्यमेव जयते। कवि ने राम को आदर्श वीर और शत्रुओं के प्रति भी सद्व्यवहार करने वाला दिखलाया है। राम का मैत्रीभाव स्पृहणीय है। जिसका साथ दिया, उसे सत्पथ पर चला कर अभ्युदयशील बना दिया। इस नाटक के नायक राम ही महावीर हैं। उनके चरित का प्रभाव मानवता को उज्ज्वल बनाने के लिए होना ही चाहिए—यह कवि का लक्ष्य था।

महावीरचरित में नाट्यकला की दृष्टि से कुछ दोष स्पष्ट ही हैं। व्यर्थ के विवादों का जाल-सा इस नाटक में बिछा है। परशुराम के साथ दशरथ, विश्वामित्रादि का विवाद, जो दार्शनिक स्तर पर है, सार्थक नहीं प्रतीत होता। वर्णनों की लम्बाई, मालती-माधव के समान ही, कहीं-कहीं बहुत लम्बी है। श्लोकों की संख्या तो औचित्य की सीमा का उल्लंघन करती ही है।

छन्द-योजना

महावीरचरित में पूरे श्लोक २८४ हैं, जिनमें १०० अनुष्टुप् ही हैं। इनके अतिरिक्त शार्दूलविक्रीडित ६३, वसन्ततिलका ३४, शिखरिणी १७, मन्दाक्रान्ता १३ और मालिनी ११ श्लोकों में हैं।

उत्तररामचरित

उत्तररामचरित भवभूति की सर्वोच्च कृति होने के कारण उनके यश को कालिदास आदि के समकक्ष ला देता है। महावीरचरित में रामायण के पूर्वार्ध को नाटकरूप में प्रस्तुत कर लेने के पश्चात् उसके उत्तरार्ध को उत्तररामचरित में प्रस्तुत किया गया है। इस उत्तर भाग की कथा को भी भवभूति ने वैसा ही एक नया रूप दे दिया है, जैसा महावीर-चरित में हम पहले ही देख चुके हैं। द्विजेन्द्र लाल राय ने इस का विवेचन करते हुए कहा है—

'भवभूति ने मूल रामायण का कथाभाग प्रायः कुछ भी नहीं लिया। पहले तो रामायण के राम ने वंश-मर्यादा की रक्षा के लिए छल से जानकी को वन भेजा, किन्तु भवभूति के राम ने प्रजा-रञ्जन-व्रत का पालन करने के लिए किसी प्रकार का छल न करके स्पष्ट रूप से जानकी को त्याग दिया। दूसरे, सिर काटने पर शम्बूक का दिव्यमूर्ति बन जाना, छाया-सीता के साथ राम की भेंट, लव और चन्द्रकेतु का युद्ध, इनमें से कोई बात रामायण में नहीं पाई जाती। सबसे बढ़कर भारी वैषम्य राम से सीता का पुनर्मिलन है।'

कथावस्तु

चौदह वर्ष के वनवास के पश्चात् राम के अयोध्या लौट आने पर राम का अभिषेक हुआ। इस अभिषेक के उत्सव में भाग लेने के लिए राम के वनवास के सहायक सभी श्रेष्ठ वानर और राक्षस आये थे और ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों ने राम का अभिनन्दन किया था। इसी अवसर पर जनक भी आये थे। वे सभी चले गये। राम की मातायें दशरथ के जामाता ऋष्यश्रृंग के आश्रम में यज्ञोत्सव में चली गई थीं। जनक के चले जाने से सीता खिन्न हैं। राम उनको आश्वस्त करने के लिए वासगृह में जाते हैं। इसी वातावरण में उत्तररामचरित कथा का समारम्भ होता है। वातावरण संकेत करता है कि कुछ अन्य लोगों का भी अभी जाना शेष है।

सीता के दूसरे वनवास की मानो व्यंजना राम के द्वारा कहे हुए इस श्लोक में है—

किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति।
सङ्कटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता ॥१.८

मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। उसे गृहस्थ के धार्मिक कृत्य सम्पन्न करने हैं तो उसे अवांछनीय घटनाओं का सामना करना पड़ेगा ही।

जब सीता ने कहा कि बन्धुजन-वियोग सन्तापकारी है तो राम ने उत्तर दिया कि यह वियोग का प्रकरण तो गृहस्थाश्रम की विशेषता है, जिससे बचने के लिए लोग वानप्रस्थ ले लेते हैं।

इसी अवसर पर ऋष्यश्रृंग के आश्रम से अष्टावक्र आये। उन्होंने सीता को वसिष्ठ का आशीर्वाद सुनाया—वीरप्रसवा भूयाः। अरुन्धती आदि देवियों ने कहा कि सीता के सभी दोहद पूरे किये जायें। यजमान ऋष्यश्रृङ्ग ने कहा कि पुत्रभरी गोदवाली आपको देखूँगा।

ऐसे प्रारम्भिक संवादों के द्वारा भवभूति ने पाठकों को अपनी करुण कथा के लिए साहस प्रदान कर दिया कि अन्त में तो ऋषियों की वाणी के अनुसार सब कुछ कल्याणमय ही होगा।

वसिष्ठ ने राम को सन्देश दिया था—

युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्याः।
तस्माद् यशो यत् परमं धनं वः ॥१.११

प्रजा का अनुरंजन करना ही रघुकुल का परम धन है।

राम ने अपने जीवन का आदर्श सुनाया—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

यहाँ जानकी के त्याग की बात सारगर्भित है। राम ने क्या यों ही कह दिया कि सीता को छोड़ते हुए भी मुझे व्यथा नहीं होगी, यदि इससे लोकाराधना हो।[1] राम को इस प्रकार की लोकाराधना करनी पड़ी। सीता ने कहा कि तभी तो आप राघव-धुरंधर हैं।

उपर्युक्त सभी बातें सत्य होकर रहती हैं। उसी समय लक्ष्मण आकर कहते हैं कि वीथिका पर आपका चरित चित्रित हो चुका है। दर्शनीय है।

इस रामचरित में जो पहला महत्त्वपूर्ण कार्य दिखलाई पड़ा, वह था राम के लिए विश्वामित्र का दिव्यास्त्र दान। राम ने सीता से कहा—

एतान्यपश्यन् गुरवः पुराणाः
स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥१.१५

अर्थात् पुराने गुरुओं का तेज ही अस्त्र रूप में प्रकट हुआ। यह है तप का माहात्म्य। यही तप सीता को भी करना है, यदि उसे गुरुओं की पद्धति को अपनाना है।

चित्र-दर्शन प्रकरण में गंगा दिखलाई पड़ी। राम ने गंगा से कामना प्रकट की—

सा त्वमम्ब स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्यानपरा भव।

गंगा को सीता का ध्यान रखना है। राम की यह बात सीता के भावी गंगा-शरण-ग्रहण का संकेत करती है।

चित्र दर्शन में सीता-हरण के प्रकरण में राम के वियोग का चित्रण तक बता कर समाप्ति कर दी गई है। इसके पश्चात् सीता श्रान्त हैं। वे अपना दोहद प्रकट करती हैं—वनराजि में विहार करना और गंगावगाहन। राम लक्ष्मण को आदेश देते हैं कि इसकी व्यवस्था कर दी जाय। सीता राम की गोद में सो जाती हैं।

इसी अवसर पर दुर्मुख पौरजानपद-वृत्त कहने के लिए उपस्थित हुआ। उसने कान में कही सीतापवाद की बात—परगृहवास-दूषण। परिणामतः सीता को राम ने वन भेज दिया।

अनेक वर्ष बीत गये, लगभग १२ वर्ष। इसके पश्चात् अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु की अध्यक्षता में बहुत बड़ी दिग्विजयी सेना के साथ छोड़ा गया।

---

१. राम जानते थे कि सीता का उत्तर वनवास अनुचित है। फिर भी वे राजा होने पर अपने स्वामी नहीं रह गये थे। उन्होंने कहा भी है—
कष्टं जनः कुलधनैरनुरंजनीय—
स्तन्मे दुरुक्तमथिवं न हि तत् क्षमं ते।

इधर उसी समय दैवी निर्देश के अनुसार राम को शम्बूक नामक तपस्वी वृषल को मारने के लिए जाना पड़ा क्योंकि उस अनधिकारी के तप करने के कारण एक ब्राह्मण बालक की मृत्यु हो गई थी।

राम ने शम्बूक को तलवार के प्रहार से मारा किन्तु मरते ही वह दिव्य पुरुष में परिणत हो गया। वहाँ से राम पंचवटी-दर्शन के लिए चले जाते हैं।

तृतीय अंक में राम शम्बूक को मारने के पश्चात् विमान से पञ्चवटी में जा पहुँचते हैं। वहाँ पहले से ही तमसा नामक नदी-देवी और सीता नियोजित हैं कि अपनी विपन्नावस्था में राम पंचवटी में विशेष आतुर होंगे। उनका आश्वासन करना है। सीता पितरों के तर्पण के लिए पुष्पावचय करती हुई गोदावरी तट पर हैं। तभी इन्हें सुनाई पड़ता है कि उनके पहले के पालित हाथी के बच्चे पर किसी गजराज ने आक्रमण कर दिया है। उसी अवसर पर राम वहाँ अपने पुष्पक विमान से उतरते हैं। पंचवटी को देखकर राम को सीता की स्मृति हो आती है और वे मूर्च्छित हो जाते हैं। उन्हें पुनः चेतना प्रदान करने का सर्वोत्तम उपाय सीता का स्पर्श बना। राम सीता को ढूँढ़ते हैं। पर वे अदृश्य हैं। राम अदृश्य सीता का सम्बोधन करते हुए कहते हैं—

त्वं पुनः क्वासि नन्दिनि ॥३.१४

उसी समय सीता के पहले के पालित हस्ति-शावक के ऊपर गजराज के आक्रमण की घटना का समाचार सुनाई पड़ता है। राम उसकी रक्षा के लिए उस ओर जाना चाहते हैं। वासन्ती नामक पूर्वपरिचित वनदेवी उन्हें बताती है कि सीतातीर्थ से गोदावरी पार करके वहाँ पहुँचें। सभी उधर चल देते हैं। अभी राम गोदावरी तट पर ही हैं कि उन्हें करिकलभ की विजय का समाचार मिलता है।

राम और वासन्ती की बातचीत होती है। वासन्ती ने पहले लक्ष्मण की खबर ली। फिर रोती हुई बोली कि आप भी क्या ही घोर निर्दय हैं। सीता को कहाँ छोड़ दिया। बस, राम को सीता के प्रति किया गया अपना व्यवहार इस प्रजामुक्त वातावरण में शूल देने लगा। उन्होंने १२ वर्षों के अपने शोकावेग को वासन्ती के सामने उड़ेल दिया। सीता और तमसा उसे सुन रही थीं। सीता भी रो उठीं।

वासन्ती राम के शोकावेग की असहनीयता देखकर उन्हें जनस्थान के भागों को देखने के लिए ले जाती है। इसी बीच राम पुनः-पुनः मूर्च्छित हो जाते हैं। सीता उन्हें अपने स्पर्श से चेतना प्रदान करती हैं। राम की विचित्र अवस्था है। वे सीता के स्पर्श का अनुभव तो करते हैं, पर उन्हें देख नहीं पाते। यह स्वप्न है या जागरण? फिर राम विमान से चल देते हैं।

चतुर्थ अंक में दृश्य वाल्मीकि के आश्रम का है। दो शिष्य बातचीत करते हुए बतलाते हैं कि वसिष्ठादि अनेक महर्षि आये हैं। जनक अपने मित्र वरुण के पुत्र से मिलने आये हैं। वे वाल्मीकि से मिलकर एक वृक्ष के नीचे बैठे हैं। उसी समय अरुन्धती के साथ कौसल्या जनक से मिलने आती हैं। कौसल्या और जनक सीता की विपत्ति से शोकग्रस्त हैं। अरुन्धती तभी उनको स्मरण कराती है कि वसिष्ठ की भविष्य वाणी का भी तो ध्यान रखिये कि इस विपत्ति का भी परिणाम सुखमय होगा। उसी समय खेलते हुए बालकों का कलकल सुनाई पड़ता है। सबसे पहले कौसल्या को उन बालकों में से एक (लव) राम के समान प्रतीत होता है, जब वे बालक थे। जनक की उत्सुकता उसमें विशेष बढ़ी। उन्होंने कञ्चुकी को भेजा कि वाल्मीकि से पूछ कर बताओ कि यह बालक कौन है। वाल्मीकि ने उत्तर भिजवाया कि यथासमय सब कुछ ज्ञात हो जायगा। इस बीच उस बालक को बुलाकर उससे माता-पिता आदि के विषय में पूछा। बालक ने उत्तर दिया—कुछ भी ज्ञात नहीं। तुम किसके हो? यह पूछने पर उसने कहा कि भगवान् वाल्मीकि के।

उसी समय राम के अश्वमेध का घोड़ा उस आश्रम के समीप लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु की अध्यक्षता में आ पहुँचा। नेपथ्य में यह घोषणा हुई। कौसल्या प्रसन्न हुई कि आज चन्द्रकेतु से भी भेंट हुई। लव ने उनसे पूछा कि यह चन्द्रकेतु कौन है। जनक ने कहा—क्या तुम राम-लक्ष्मण को जानते हो? बालक ने कहा कि ये रामायण कथा में पात्र हैं। जनक ने बताया कि चन्द्रकेतु लक्ष्मण के पुत्र हैं। लव ने कहा कि तब तो चन्द्रकेतु उर्मिला के पुत्र और जनक के नाती हैं। जनक ने फिर पूछा—बताओ दशरथ के अन्य पुत्रों को किस-किस स्त्री से क्या सन्तान है? लव ने बताया कि रामायण-कथा का यह भाग वाल्मीकि लिख तो चुके हैं पर प्रकाशित नहीं किया है। उसी के एक भाग को नाटकीय स्वरूप देने के लिए और अप्सराओं के द्वारा अभिनीत किये जाने के लिए महर्षि भरत के पास भेजा है। साथ में मेरे भाई कुश उस पुस्तक की रक्षा के लिए भेजे गये हैं। कौसल्या के पूछने पर ज्ञात हुआ कि लव के बड़े भाई कुश हैं। दोनों यमज हैं। जनक ने पूछा कि रामायण कथा का अन्त कैसे होता है? लव ने कहा कि किस प्रकार राम ने वन में सीता का निर्वासन करा दिया। यह सुन कर जब कौसल्या और जनक रोने लगे तो लव के पूछने पर अरुन्धती ने बताया कि यह कौशल्या हैं और ये जनक हैं।

उसी अवसर पर लव के साथी आये और उसे घोड़े को देखने के लिए खींच ले गये। लव को क्षत्रियों का अश्वमेध के द्वारा पराभव असहनीय हो उठा। उसने घोड़े को आश्रम में ले जाने के लिए बटुसेना को आदेश दिया।

चन्द्रकेतु की सेना को युद्ध करते हुए लव ने पछाड़ दिया। चन्द्रकेतु आया तो लव को देखते ही उसे—**'नव इव रघुवंशस्याप्रसिद्धः प्ररोहः'** समझा। फिर भी लव

को अपने से लड़ने के लिए आह्वान किया। लव भी चन्द्रकेतु से प्रभावित हुआ। वे दोनों बातचीत करना चाहते थे, पर चन्द्रकेतु की सेना के नायक बारंबार लव पर बाण आदि फेंककर विघ्न डालते थे। लव ने जृम्भकास्त्र से उन सबको सुला दिया। फिर शान्त होकर जब वे मिले तो एक दूसरे को प्रिय-दर्शन माना। तथापि उन्होंने निर्णय किया—

वीराणां समयो हि दारुणरसः स्नेहक्रमं बाधते ।।५.१६

लव पैदल था। चन्द्रकेतु ने भी उसके समान होकर ही लड़ने के लिए स्वयं रथ से उतरना ठीक समझा। उतर कर उन्होंने कहा—**आर्य सावित्रश्चन्द्रकेतुरभिवादयते।** तथापि युद्ध का क्रम समाप्त नहीं हुआ। राम के क्षात्र धर्म के विषय में लव को सन्देह था। उसने राम की भरपूर आलोचना करते हुए कहा—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते।

चन्द्रकेतु को यह कब सह्य था। दोनों वीर लड़ने चल पड़े।

छठें अङ्क में लव और चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन विद्याधर और विद्याधरी की तद्विषयक बातचीत के माध्यम से प्रस्तुत है। चन्द्रकेतु के आग्नेयास्त्र का लव ने वारुणास्त्र से शमन कर दिया। वारुणास्त्र का शमन करने के लिए चन्द्रकेतु ने वायव्यास्त्र का प्रयोग किया। इसी बीच राम शम्बूक-वध के पश्चात् अपने विमान से वहाँ उतर पड़े। युद्ध समाप्त हो गया। चन्द्रकेतु के परिचय देने पर लव ने राम को पहचाना और राम लव के आत्मसादृश्य से विस्मित थे। लव ने राम के कहने पर जृम्भकास्त्र का प्रभाव दूर किया। जृम्भकास्त्र लव को कैसे मिला—यह समस्या राम के मन में लव के विषय में आत्मनीन सम्भावनायें उत्पन्न कर रही थी। उसी समय कुश भी वहाँ लव की सहायता के लिए आ पहुँचा। राम ने उसका आलिंगन लिया। राम को सीता-निर्वासन की स्थिति और लव-कुश के आत्मसाम्य से यह अनुमान-सा होने लगा कि ये दोनों सम्भवतः सीता के पुत्र हैं। उन्होंने सीता के गर्भ में आरम्भ में ही युग्म की प्रतीति की थी। राम और कुश की बातचीत चलती रहती है। राम ने कहा कि रामायण से कोई कथा-प्रसंग सुनाओ। कुश ने बालचरित के अन्तिम अध्याय के दो श्लोकों को सुनाया। लव ने मन्दाकिनी-चित्रकूट-विहार-सम्बन्धी श्लोक सुनाया। अन्त में राम अरुन्धती, वसिष्ठ और जनक से मिलने चल देते हैं।

सातवें अंक का आरम्भ उस गर्भाङ्क की सूचना से होता है, जिसके अन्त में सीता और उनके पुत्रों का राम से मिलन होता है। इस गर्भाङ्क के प्रेक्षक हैं देव, असुर, तिर्यक्, उरग, सचराचरभूतग्राम। प्रधान दर्शक हैं राम-लक्ष्मण। गर्भाङ्क के पात्र हैं सीता,

भागीरथी और पृथिवी। गर्भाङ्क का आरम्भ सीता के वन में लक्ष्मण के द्वारा परित्यक्त होने से होता है।

सीता प्रसवासन्न होने पर गंगा में प्रवेश कर जाती हैं। पृथ्वी और भागीरथी देवियां सीता को आश्वस्त करती हैं कि रघुवंश को चलाने वाले तुम्हें दो पुत्र हुए हैं। दोनों सीता का आलिङ्गन करके मूर्छित हो जाती हैं। पृथ्वी रामचरित की भर्त्सना और गंगा रामचरित को स्थितिवशात् यथार्हता प्रमाणित करती हैं। सीता पृथ्वी से कहती हैं—मां, मुझे अपने में विलीन कर लो। भागीरथी और गंगा दोनों उन्हें ढाढ़स देकर पुत्र-रक्षा के लिए उद्यत करा लेती हैं। देवियाँ सीता के विषय में कहती हैं—

जगन्मङ्गलमात्मानं कथं त्वमवलम्बसे।
आवयोरपि यत्संगात्पवित्रं प्रकृष्यते ॥७.८

अर्थात् तुम तो हम दोनों को भी पवित्र करने वाली जगन्मंगला हो। उसी समय सीता के दोनों पुत्रों का आश्रय जृम्भादि अस्त्र लेते हैं। सीता के पूछने पर देवियों ने बताया कि वाल्मीकि इन शिशुओं का क्षात्र-संस्कार करेंगे। पुत्रों को लेकर सीता पृथ्वी के साथ रसातल में चली गईं, ताकि दूध पीने के समय तक उनका पोषण कर सकें। यह देखकर राम मूर्छित हो गये। उसी समय गर्भाङ्क का अन्त होता है।

मूल नाटक के प्रसङ्ग में नेपथ्य से गंगा और पृथ्वी सीता को राम के लिए समर्पित करती हैं। मूर्छित राम को सीता स्पर्श से आश्वस्त करती हैं। वाल्मीकि लव-कुश को लेकर उन्हें माता-पिता से मिला देते हैं।

परिवर्तन

उत्तररामचरित की कथावस्तु वाल्मीकि की कथा से अनेक स्थलों में भिन्न है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राम कथा के अनेक रूप किंवदन्तियों के माध्यम से सुप्रचलित थे। सम्भव है, इन्हीं किंवदन्तियों से भवभूति को उत्तररामचरित की कथा के अभिनव अंशों की झलक मिली हो। वाल्मीकि रामायण की कथा में लव और चन्द्रकेतु का युद्ध, राम-वासन्ती मिलन, दण्डकारण्य में सुदृश्य सीता के द्वारा राम का समाश्वासन, वाल्मीकि के आश्रम में वसिष्ठ, अरुन्धती, जनक, और राम की माताओं का मिलन आदि उत्तररामचरित की नवीन साहित्यिक योजनायें हैं। सबसे बढ़कर नवीनता है सीता का उत्तररामचरित के अन्त में राम से मिलन। यह संयोजन कथा-वस्तु में अनुपम लोकप्रियता ला देता है।

पात्रोन्मीलन

भवभूति की चरित्र-चित्रण-कला उत्तररामचरित में पूर्णरूप से निखरी है। उन्होंने अपने पात्रों में स्नेह, दया, उदारता, वीरता और त्याग आदि आत्म गुणों को पूर्णतया भर दिया है। उनके पुरुष-पात्रों में राम और स्त्री-पात्रों में सीता आदर्श हैं।

राम

भवभूति के राम वाल्मीकि और कालिदास आदि की वर्णना के अनुरूप विकसित हुए हैं। उनको लोकाराधक या प्रजानुरञ्जक रूप में दिखाने का श्रेय भवभूति को ही सबसे अधिक मिला है। लोकाराधना या सेवा करे और भूति रूप में प्रियतमा का वियोग मिले तो भी अवकाश न लेना और निरन्तर सेवा में संलग्न रहना—यह है राम का व्रत, जो उनके इस वाक्य में उदीरित है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

वे अपने कुल के गौरव को जानते थे और उस कुल की परम्परा के अनुसार जीवन को सुख का साधन नहीं मानते थे। लक्ष्मण के शब्दों में राम थे—.

राज्याश्रमनिवासेऽपि प्राप्तकष्टमुनिव्रतः।

राम अपनी प्रशंसा नहीं सुनना चाहते थे। लक्ष्मण वीथिका-चित्र दर्शन कराते हुए सीता से कहते हैं कि देखिये यह परशुराम का आर्य राम के द्वारा परास्त होना। राम ने उन्हें बीच में ही रोक दिया।

कुटुम्बिजनों के विषय में राम की नीति क्षमापूर्ण थी। यदि उन्होंने कुछ गड़बड़ किया है तो उसे दृष्टि-पथ से ओझल करो। लक्ष्मण ने मन्थरा और कैकयी से सम्बद्ध प्रकरण रामादि के सामने लाना चाहा किन्तु राम वीथिका-चित्र-दर्शन के अवसर पर इन सबको छोड़कर शृङ्गवेरपुर का दृश्य देखने लगे। यही राम और लक्ष्मण का अन्तर है। इस अवसर पर राम ने कहा—

निषादपतिना यत्र स्निग्धेनासीत् समागमः।

इसी स्निग्ध का दर्शन करना राम सदा चाहते थे। परशुराम का प्रकरण भी उनको इसी प्रकार दर्शनीय नहीं रहा।

राम को जीवन के सरस क्षणों ने विशेष प्रभावित कर रखा है।[1] उन क्षणों को वे विस्मृत नहीं कर सके। उदाहरण के लिए देखिये—

---

१. इसका सर्वोत्तम उदाहरण है—'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणम्' १.३९

जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥१.१९

और भी—

अलसलुलितमुग्धान्यध्वसंजातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥१.२४

राम ने स्वयं कहा है—यह स्थान जहाँ की इस प्रकार की अनुभूतियाँ हैं, कैसे भूला जा सकता है? प्रस्रवण गिरि के आवास की सुखद रातें भी राम न भूल सके—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥१.२७

लक्ष्मण के मख से राम के जीवन का यह पक्ष अत्यन्त प्रभावुकतापूर्ण विधि से वर्णित है—

जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ॥१.२८

सीता के वियोग का यह युग राम के लिए हृदय को फोड़ने वाला है। लक्ष्मण ने इस दृश्य का वर्णन किया है—

अयं ते बाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः ॥१.२९

राम की प्रकृति भूलने की नहीं है। उनके मानस में दुःखाग्नि पुनः-पुनः विपच्यमान होती हुई वेदना उत्पन्न करती है, वैसे ही जैसे हृदय का घाव शूल उत्पन्न करता है।

दूसरे के गुणों की प्रशंसा करने में राम निष्णात हैं। जटायु के विषय में राम का कहना है—

हा तात काश्यप शकुन्तराज, क्व पुनस्त्वादृशस्य महतस्तीर्थस्य साधोः सम्भवः।

उसी प्रकार राम हनुमान के पराक्रम की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

विष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्धनः।
यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च ॥१.३२

राम के चरित्र के उदात्त पक्ष से उनके सम्पर्क में आये हुए सभी लोग प्रभावित हैं। सीता ने उनके विषय में कहा है—

चिरण्णसादा तुम्हे इदो वाणि किं अवरं।

राम की कर्मण्यता धन्य है। गर्भवती सीता श्रान्त होकर उनकी गोद में सो गई हैं। फिर भी दुर्मुख नामक चर से पौरजानपद-वृत्त सुनने के लिए उसी समय वे उद्यत हैं।

राम अपनी स्थिति को पूर्णतया समझते हैं। सीता को पुनः वन भेजते समय उनकी प्रतिक्रिया है—(१) मैं धोखे से सीता को मृत्यु के मुख में डाल रहा हूँ। (२) सीता को वनवास देने के करण मैं अस्पर्शनीय और पातकी हूँ, अपूर्व-कर्म-चाण्डाल हूँ। राम के शब्दों में—

पर्यवसितं जीवितप्रयोजनं रामस्य..... अशरणोऽस्मि ॥

अपने सभी सम्बन्धियों और सहायकों को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं—

मुषिताः स्थ परिभूताः स्थ रामहतकेन

वे राम देव नहीं आदर्श मानव हैं, जो सीता को छोड़ते हुए उनके चरणों में सिर रख कर कहते हैं—

देवि, देवि, अयं पश्चिमस्ते रामस्य शिरसा पादपङ्कजस्पर्शः।

राम के चरित्र का चित्रण स्वयं वनदेवी वासन्ती ने किया है। तदनुसार—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥२.७

अर्थात् लोकोत्तर राम का चरित्र वज्र से भी कठोर और कुसुम से भी कोमल है। कैसे? सीता का निर्वासन करते समय वज्रवत् कठोरता देखिये और निर्वासित सीता की स्मृति को निरन्तर सोते-जागते अपने हृदय में सँजोये रखकर उसके दुःख में घुलते रहना—यह है कुसुम से बढ़कर कोमल होने का लक्षण।

भवभूति ने राम के चरित्र के जिस उदात्त पक्ष की मानसी कल्पना की है, उसके अनुसार उनका शम्बूक का मारना असम्भव है। राम स्वयं कहते हैं—अरे हाथ, अब तू निर्दय हो चला है। सीता का निर्वासन करके दक्ष है क्रूरता के कामों में। इस शूद्र-मुनि को मारो।

राम क्या शूद्रों की तपस्या के विरोधी हैं ? नहीं। उन्होंने स्पष्ट ही उस शूद्र मुनि से कहा है—

तदनुभूयतामुग्रस्य तपसः फलम्।

अर्थात् अपनी तपस्या का फल प्राप्त करो। इससे सिद्ध होता है कि राम की दृष्टि में वह शम्बूक तपस्या का अधिकारी था।

भवभूति के राम वाल्मीकि के राम के समान ही प्रकृति के अद्भुत प्रेमी हैं। प्रकृति के बीच उनका मन रमता था—

अस्यैवासीन्महति शिखरे गृध्रराजस्य वास-
स्तस्याधस्ताद्वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु।
गोदावर्याः पयसि विततश्यामलानोकहश्री-
रन्तः कूजन्मुखरशकुनो यत्र रम्यो वनान्तः॥

राम प्रकृति के रम्य भूभागों को पहले के मित्र (पूर्वसुहृत्) की संज्ञा देकर उनका स्मरण करते हैं क्यों ?

यस्यां ते दिवसास्तया सह मया नीता यथा स्वे गृहे
यत्सम्बन्धिकथाभिरेव सततं दीर्घाभिरास्थीयत॥२.२८

राम क्षात्र धर्म के प्रशंसक थे। उन्होंने तेजस्विता को समादरणीय मान कर कहा है—

न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते
स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः।
मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति॥६.१४

राम रामायणकथा-नायक के रूप में 'ब्रह्मकोशस्य गोपायिता' इस उपाधि से विश्रुत थे।

राम के लोकोत्तरचरित की कल्पना उनके अनुपम रूप, अनुभाव और गाम्भीर्य के द्वारा होती थी। कुश ने उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर आरम्भ में ही कहा—

अहो प्रासादिकं रूपमनुभावश्च पावनः
स्थाने रामायणकविर्देवीं वाचं व्यवीवृतत्॥६.२

राम के द्वारा सौन्दर्यानुशीलन का एक मान-दण्ड प्रस्तुत किया गया है। यथा—

श्रमाम्बुशिशिरीभवत्प्रसृतमन्दमन्दाकिनी-
मरुत्तरलितालकाकुलललाटचन्द्रद्युति ।
अकुङ्कुमकलङ्कितोज्ज्वलकपोलमुत्प्रेक्ष्यते
निराभरणसुन्दरश्रवणपाशमुग्धं मुखम् ।। ६.३

उत्तररामचरित के तृतीय अंक में राम का चरित सार रूप में प्रथम श्लोक में दे दिया गया है[1] । यथा—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ।।३.१

इस अंक में राम का चरित करुणामय चित्रित किया गया है । हमारे सामने जो राम प्रस्तुत हैं, वे दीर्घकालीन शोक के सन्ताप के कारण परिक्षीण हैं ।

राम के महामहिम व्यक्तित्व का विशद परिचय विष्कम्भक में ही दे दिया गया है । उनके महानुभाव से सभी प्रभावित होकर उनके प्रति सहानुभूति रखते हैं । उदाहरण के लिए—सरयू ने गंगा से कहा है कि राम पंचवटी में आने वाले हैं । लोपामुद्रा और गंगा को यह आशंका हो उठती है कि 'पंचवटी वन में सीता के सहवास की लीलाओं की साक्षी देने वाले प्रदेशों में राम के लिए प्रमाद होना स्वाभाविक है ।' यहाँ इस प्रकरण में अयोध्या के राजा राम नहीं हैं, जो लोकाराधन के लिए सब कुछ सीता को भी, छोड़ने के लिए उद्यत हैं । यहाँ इस अवसर पर वे राम हैं, जो मानवोचित भावुकता का आदर्श स्नेह-सने चौखटे के भीतर प्रकट कर रहे हैं ।

राम का स्नेह केवल मानवों तक ही सीमित नहीं है । तभी तो वे राम हैं । पंचवटी में तो उन्हें नए बन्धु-बान्धव द्रुम और मृगों के रूप में मिलते हैं । झरनों और कन्दराओं के प्रति उनका अनुराग है । करिकलभक और गिरिमयूर दोनों वत्स हैं ।

राम के दाम्पत्य जीवन की मधुरिमा की एक झाँकी इस अंक में इस प्रकार दी गयी है ।

आश्च्योतनं नु हरिचन्दनपल्लवानां
निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः ।
आतप्तजीवितपुनः परितर्पणोऽयं
संजीवनौषधिरसः नु हृदि प्रसिक्तः ।।३.११

राम के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा सलोनापन है कि उनकी रूप-माधुरी नित्य नूतन रहती है । वासन्ती ने उनकी मनोहारिता का वर्णन करते हुए कहा है—

१. ऐसा ही श्लोक है—
इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा ।
प्रियाशोको जीवकुसुममिव घर्मो ग्लपयति ।।३.३०

कुवलयदलस्निग्धैरंगैर्ददन्नयनोत्सवं
सततमपि नः स्वेच्छादृश्यो नवो नव एव यः ।

राम का यह अप्रतिम सौन्दर्य तत्सम्बन्धी एक नया मानदण्ड ही प्रस्तुत करता है, जो अंग्रेजी के महाकवि कीट्स के शब्दों में है—

A thing of beauty is a joy for ever.

राम और सीता का दाम्पत्य भाव आदर्श था । वासन्ती के शब्दों में राम ने सीता के लिए कभी कहा था—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे । ३.२६

यदि इतना प्रेम सीता के लिए था और राम जानते भी थे कि 'क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता' और उन्होंने सीता-परित्याग किया तो यह कठोरता का काम किया, एक विवेकहीन काम किया । उन्हें सीता की रक्षा का कुछ प्रबन्ध तो वन में कर ही देना चाहिए था । भवभूति ने राम के चरित्र की इस दुर्बलता को वासन्ती के मुख से कहलवाया है—

अयि कठोर यशः किल ते प्रियं ।३.२७

सीता के वियोग में राम पूर्णतः विपन्न हैं । वे सीता की स्मृति करके रो उठते हैं । राम के शब्दों ही में उनकी दशा सुनिये—

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ।।३.३१

गाढोद्वेगपूर्वक हृदय फट रहा है, पर दो टुकड़े नहीं हो जाता । विकल शरीर मोहाच्छन्न है पर चेतना-रहित नहीं हो जाता । आन्तरिक ज्वाला जला तो रही है पर राख नहीं बना देती । मर्मच्छेदी विधि प्रहार तो करता है किन्तु जीवन-तन्तु को काट नहीं देता ।

भवभूति ने राम की विषादावस्था को प्रखरतम चित्रित करने के लिए उनके मुख से कहलवाया है—

'इदमशरणैरद्यास्माभिः प्रसीदत रुद्यते' । ३.३२

राम के चरित्र में उपर्युक्त वक्तव्य देने की दुर्बलता भवभूति को कहाँ से दिखायी पड़ी, यह सोच लेना कठिन है। जिस राम ने उत्तररामचरित के आरम्भ में कहा था—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।

वे ही सोल्लुण्ठपूर्वक अपनी प्रजा के लिए ऐसी दुस्सह उक्ति क्यों कर कहेंगे? अथवा क्या शोकावेग राम को भी परवश बना सकता था? यही कहा जा सकता है कि राम की स्थिति बहुत कुछ असाधारण ही थी। उनको सीता का परित्याग करने के पश्चात् नींद नहीं आयी थी। उन्होंने स्वयं कहा है—

कुतो रामस्य निद्रा

अर्थात् राम को नींद कहाँ?

लक्ष्मण

लक्ष्मण मूर्तिमान् पराक्रम ही हैं। चित्र-दर्शन के प्रकरण में उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का निदर्शन कराया गया है। जिन-जिन वस्तुओं की ओर लक्ष्मण दर्शकों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं, वे प्रायः सभी संरम्भपूर्ण हैं। यथा—(१) अयं च भगवान् भार्गवः (२) एषा मन्थरा (३) धूतमार्येण पुण्यमारण्यकं व्रतम् (४) कालिन्दीतटवटः श्यामो नाम (५) एष विन्ध्याटवीमुखे विराध-संरोधः (६) एषा पञ्चवट्यां शूर्पणखा।

उपर्युक्त प्रकरणों से स्पष्ट है कि लक्ष्मण को ही सीता को वन में छोड़ने का काम दिया जायेगा। वे ऐसे साहसपूर्ण परिस्थितियों को संभाल सकेंगे।

लक्ष्मण का चरित्र वाल्मीकि के द्वारा चित्रित उनके चरित के समकक्ष ही पड़ता है। सातवें अङ्क में जब राम मूर्च्छित हो जाते हैं तो वाल्मीकि को भी मानो फटकारते हुए वे कहते हैं—

लक्ष्मणः— परित्रायस्व, परित्रायस्व। एष ते काव्यार्थः।

वे नाटक में जहाँ-कहीं राम के साथ उपस्थित हैं, सदा राम के रक्षक-रूप में तत्पर दिखायी पड़ते हैं।

सीता

सीता का चरित्र-चित्रण करने में कवि को पूरी सफलता मिली है। अभिज्ञान की शकुन्तला के विपरीत ये गृहलक्ष्मी हैं। राम ने कहा है—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ।।१.३८

कवि की दृष्टि में सीता प्रकृति के प्रति विशेष अनुराग रखती हैं। उनको भगवती भागीरथी में अवगाहन प्रिय है। वे कह उठती हैं—

जाणे पुणो वि पसण्णगम्भीरासु वणराइसु विहरिस्सं पवित्तसोम्मसिसिरावगाहां च भअवदीं भाईरहीं अवगाहिस्सं।

भवभूति की सीता भोगविलासिनी नहीं हैं। उन्होंने राम से कहा था—

त्वया सह निवत्स्यामि वनेषु मधुगन्धिषु।
इति चारुमतेहासौ स्नेहस्तस्याः स तादृशः ।।२.१८

उस सीता को राम का स्नेह सम्राज्ञी पद से बढ़ कर था। जो सीता राम के साथ रहने के लिए अयोध्या के विलास-सुखों को छोड़कर १४ वर्ष का वनवास सहने के लिए उद्यत हुई थीं, उनको राम के साथ रहना नहीं बदा था। उत्तररामचरित में राम के वियोग में उनकी शारीरिक और मानसिक क्षीणता का चित्रण विशेष रूप से तृतीय अंक में किया गया है।

सीता को साधारण नारी समझने की भूल राम तक ने नहीं की थी। तभी तो राम ने कहा—(१) त्वया जगन्ति पुण्यानि तथा (२) नाथवन्तस्त्वया लोकाः। इसी का विचार करते हुए गंगा और पृथ्वी ने सीता की सर्वोच्च चारित्र्य-गरिमा को प्रकट करते हुए कहा है—

जगन्मङ्गलमात्मानं कथं त्वमवमन्यसे।
आवयोरपि यत्सङ्गात् पवित्रत्वं प्रकृष्यते ।।७.८

उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क में वनवासिनी सीता के चरित्र-चित्रण की सामग्री है। वन में रहने वाली सीता को वन्य-प्रकृति से साहचर्य है। उन्हें पंचवटी में सर्वप्रथम उस हाथी के बच्चे का वृत्त मिलता है, जिसे उन्होंने पाला था—

सीतादेव्या स्वकरललितैः सल्लकीपल्लवाग्रैः
लोलः करिकलभको यः पुरा वर्धितोऽभूत्। ३.६

उस हस्ति-शावक को सीता पुत्रक कहती हैं। सीता ने वन में रहते हुए वृक्षों, पक्षियों और मृगों को जल, नीवार और घास देकर संवर्धित किया था। सीता को राम के वियोग में उतना नहीं कष्ट हुआ, जितना राम को। सीता ने स्वयं कहा है—

'भअवदि तमसे एविणा अवच्च संसुमरणेण उससिदपण्डुतत्थणी ताणं अ पिदुणो संणिहाणेण खणमेत्तं संसारिणीम्हि संवुत्ता।'

वे केवल क्षणमात्र संसारिणी हुईं, अन्यथा वे देवता थीं, जिन्हें मानवोचित सुख-दुःख का परामर्श साधारणतः नहीं होता।

सीता को राम के हृदय का पूर्ण परिचय था कि राम ने मेरा निर्वासन इसलिए नहीं किया है कि उनके मन में मेरे प्रति उदासीनता है, अपितु इसलिए कि राम का अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है लोकाराधन। वे सभी कष्ट सह सकते हैं एकमात्र लोकाराधन के लिए। इस वियोग में दोनों को समान कष्ट है। ऐसी स्थिति में सीता को राम के प्रति सहानुभूति है। जब कोई कभी राम को उपालम्भ देने की बात करता है तो सीता खेद प्रकट करती हैं। उनका कहना है कि आर्यपुत्र सबके प्रिय व्यवहार के योग्य हैं।

सीता के चरित्र-चित्रण सम्बन्धी सामग्री प्रासंगिक रूप से भी तृतीय अंक में मिलती है। जैसे उन्हें गोदावरी के बालू पर हंसों के साथ खेलने का चाव था।

सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।।३.३७

चतुर्थ अंक की सीता महान् आत्माओं के द्वारा आलोचित हैं। उनके सम्बन्ध में अरुन्धती का कहना है—अग्निरिति वत्सां प्रति परिलघून्यक्षराणि। अर्थात् यह सीता तो अग्नि से बढ़कर है। और भी

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं द्रढयति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।।४.११

दशरथ के शब्दों में सीता की प्रतिष्ठा सुनिये—

एसा रहुउलमहत्तराणं बहू अम्हाणं दु जणअसुदादुहिदेव्व।
और भी प्रियातनूजास्य तथैव सीता।४.१६

वे तो अपने गुणों के कारण दशरथ का प्यार उनकी कन्या के रूप में प्राप्त कर चुकी थीं।

उत्तररामचरित में सीता नायिका का महत्त्व राम नायक से बढ़कर है। सीता के सम्बन्ध में आदि से अन्त तक प्रेक्षक की उत्सुकता रहती है कि उसका क्या हो रहा है। राम के विषय में सभी अनुत्सुक हैं। प्रायः सभी अङ्कों में सीता प्रत्यक्ष और गौण रूप से महत्त्वपूर्ण हैं और उनसे सम्बद्ध, कुछ कार्य-विशेष हो रहा है। नाटक की प्रायः सारी कार्य-वृत्ति सीता पर केन्द्रित है न कि राम पर।

वासन्ती

उत्तररामचरित के तृतीय अंक में वासन्ती स्वयं प्रकृति की देवी या वनदेवी है। वह सारी प्रकृति की संचारिका है। इस अंक में अन्य सभी पात्र तो धीरता खो बैठे हैं। बस यही एक वासन्ती है, जो केवल एक बार रोती है और मूच्छित होती है किन्तु फिर सदा वह राम की खबर लेती रहती है। उसने राम से पूछा—

तत्किमिदमकार्यमनुष्ठितं देवेन।

यह क्या कर डाला आपने सीता को वन में छोड़कर? बातें सोलह आने सच्ची कहना वासन्ती का स्वभाव है। वह वनदेवी जो ठहरी। वन में लल्लो-चप्पो का अवसर कहाँ? उसने राम से कहा—अयि कठोर यशः किल ते प्रियम्। तुम्हें तो यश प्रिय है, पर काम अपयश का किया है।

अन्त में उसे राम पर दया हो आती है। उसने राम को आश्वासन देते हुए कहा—बीती ताहि बिसार दे। वह राम को जनस्थान की ओर मोड़कर उनके शोकावेग को कम करना चाहती तो है, पर परिणाम ठीक उलटा है। यही सब देखकर तो सीता ने उसके विषय में कहा—

दारुणासि वासन्ति दारुणासि।

वास्तव में राम को खूब रुलाया इस वासन्ती ने। वासन्ती को ज्ञात नहीं था कि सीता जीवित हैं। जब मूच्छित राम को अदृश्य सीता ने छू कर पुनः चेतना प्रदान की तो राम ने वासन्ती से कहा कि सीता तो सामने ही है। वासन्ती ने दो टूक उत्तर दिया—क्यों मुझे जला रहे हो।

वर्णन

भवभूति ने संसार की सभी मनोरम वस्तुओं का सूक्ष्म निरीक्षण किया था, केवल दोनों आँखों से ही नहीं, अपितु अपने हृदय से भी। उन्होंने पूर्वकालीन काव्यों के अध्ययन से प्राक्कालीन वस्तुओं को पुराने रूप में समझा था और तदनुसार वर्णन प्रस्तुत किया है। उनके वर्णन में पाठक के समक्ष वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करने की विशेष शक्ति है। नीचे के श्लोक में वाल्मीकि के आश्रम की पाकशाला का वर्णन है—

नीवारौदनमण्डमुष्णमधुरं सद्यःप्रसूतप्रिया—
पीतादभ्यधिकं तपोवनमृगः पर्याप्तमाचामति।
गन्धेन स्फुरता मनागनुसृतो भक्तस्य सर्पिष्मतः
कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते॥४.१

बस, इतनी वस्तुयें कहीं स्थित कर दीजिये और आश्रम की पाकशाला दिखाई पड़ने लगेगी।

बाल्य-वर्णन

वात्सल्य रस की सृष्टि के लिए भवभूति को विशेष चाव था। इस प्रयोजन से वह बाल्य-वर्णन करने में चूकते नहीं थे। कौसल्या के शब्दों में—सुलहसोक्खं दाववालत्तणं होदि। अरुन्धती की आँखों में तो बाल अमृताञ्जन की भाँति प्रियङ्कर था। उन्होंने रामपुत्र के द्वारा अपने हृदय की निर्वृत्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

> कुवलयदलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनो
> वटुपरिषदं पुण्यश्रीकः श्रियेव सभाजयन्।
> पुनरपि शिशुर्भूतो वत्सः स मे रघुनन्दनो
> झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम्॥४.१९

भवभूति के वर्णन में एक स्वाभाविकता है। कौसल्या के वर्णन में मातृत्व प्रधान है। वह देखते ही माता के तत्त्वान्वेषी हृदय से परख लेती है यह तो राम के समान ही है अपने मुग्ध और ललित अंगों से हमारे लोचनों को शीतल कर रहा है।[1] अरुन्धती ऋषि-पत्नी की भाँति उनकी पुण्य श्री, स्निग्ध श्यामलता आदि को देखती है। किन्तु कितना स्वाभाविक है उस बाल में क्षात्रत्व को देखना जनक के लिए। देखिए वे क्या कहते हैं—

> चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
> भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्।
> मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठकं
> पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः॥

प्रकृति

भवभूति ने प्रकृति को अनेक रूपों में देखा है। सर्वप्रथम है वन को देवता रूप में देखना। वासन्ती साक्षात् और मूर्तिमती वनदेवी है। ऐसी प्रकृति पात्र-रूप में प्रकट की गई है। वासन्ती के अतिरिक्त गंगा, गोदावरी, सरयू, तमसा, मुरला आदि नदियाँ पात्र रूप में प्रदर्शित की गई हैं। गंगा का तो इस नाटक में अतिशय महत्त्वपूर्ण कार्य-व्यापार है।

पञ्चवटी के प्रति भवभूति की विशेष आस्था है। राम इनको पूर्वसुहृद् कहते हैं और साथ ही बतलाते हैं कि सुख के दिन पंचवटी के संग में वैसे ही बिताये गये, जैसे

---

१. देखिये वही—जात इदो वि दाव एहि, तथा श्लोक। ४.२२

अपने घर में। इन पूर्व-सुहृदों के विषय में पहले बहुत देर-देर तक बातें होती रहती थीं।[1] उस पंचवटी की सम्भावना करना वैसा ही है जैसे किसी श्रेष्ठ मित्र की। जब अगस्त्य से मिलने के लिए राम कुछ देर तक पंचवटी को छोड़ कर जाने लगते हैं तो कहते हैं—

भगवति पंचवटि गुरुजनोपरोधारक्षणं क्षम्यतामयमतिक्रमो रामस्य

प्रकृति ने राम का साथ दिया है। नदियों और वासन्ती ने राम को दुःख की स्थिति में सान्त्वना और आश्वासन के उपाय किये हैं। सबसे बढ़कर तो वह करिकलभक है, जो राम और सीता का पुत्रक ही बन गया है। उसे देखकर राम और सीता की पुत्र-विषयक लालसा अंशतः पूरी होती है। सीता ने कहा है—

भअवदि तमसे अयं दाव ईदिसो जादो। दे उण ण आणामि कुसलवा एत्तिएण कालेण कीरिसा संवुत्तेति।

तमसा कहती है—

यादृशोऽयं तादृशौ तावपि।

प्रकृति कहीं-कहीं उपमान रूप में वर्णित है। यथा—

बाष्पवर्षेण नीतं वो जगन्मंगलमाननम्।
अवश्यायावसिक्तस्य पुण्डरीकस्य चारुताम्॥६.२६

भवभूति ने प्रकृति का कठोर रूप भी देखा है। यथा—

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणाकम्पेन सम्पातिभि-
र्घर्मस्रंसितबन्धनैः स्वकुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम्।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः॥२.९

भवभूति ने प्रकृति को सजीव पात्र-सा भी चित्रित किया है। वासन्ती स्वयं प्रकृति की देवी है। वह प्रकृति की संचारिका रूप में प्रस्तुत की गई है। वह वन्य प्रकृति को राम का स्वागत करने के लिए प्रेरित करती है।[2]

डा० पी० वी० काने ने भवभूति के प्रकृति-वर्णन की विशेषताओं का आकलन करते हुए कहा है—

Bhavabhuti shows a true love of nature in its beautiful and sublime moods. He was a minute observer of Nature and could

---

१. यत्सम्बन्धिकथाभिरेव सततं दीर्घाभिरास्थीयत। २.२८

२. दधतु तरवः पुष्पैरर्घ्यं फलैश्च मधुश्च्युतः
स्फुटितकमलामोदप्रायाः प्रवान्तु वनानिलाः।
कलमविरलं रज्यत्कण्ठाः क्वणन्तु शकुन्तयः
पुनरिदमयं देवो रामः स्वयं वनमागतः॥३.२४

draw out lessons from the most trivial aspect of it. His descriptions of scenery of forests and mountains are always realistic, vivid and forcible. What can be more graphic and picturesque than his description of the Dandaka forest and Janasthana in the second Act of the Uttararamacharita ? He also depicts as the awful and the terrible with as great force and precision as the sublime and the beautiful.

In his description of nature and human feelings, Bhavabhuti is entirely free from conventures. ......Bhavabhuti hardly refers to the note of cuckoo and other conventions of Sanskrit poets. He treats as with descriptions of the awful forests, the mellow peaks of mountains, the panoramic views from the tops of mountains, the wild onrush of cascades down the slopes of hills.

कला

उत्तररामचरित की रचना में भवभूति ने बहुक्षेत्रीय काव्य-कला का प्रदर्शन किया है। कथा-वस्तु का प्रपञ्च, पात्र-चयन, चरित्र-चित्रण, वर्णन, रस-निष्पादन आदि में से प्रत्येक अपने आप में और साथ ही अन्य काव्यात्मक तत्वों के अनुषङ्ग में कला-वैचित्र्य के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

कथावस्तु

भवभूति ने उत्तररामचरित में अतिशय उदात्त पृष्ठभूमि में कथा-वस्तु का विस्तार किया है। पहले तो यह जान लीजिये कि यह खेल केवल नायक और नायिका की प्रवृत्तियों तक सीमित नहीं है। नायक और नायिका के ऊपर भी कुछ शक्तियाँ हैं, जो इनके सुख-दुःख या सभी प्रवृत्तियों में अभिरुचि रखती हैं। वसिष्ठ ने सीता से कहलवाया है—

विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।
तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि पार्थिवानां
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च ॥१.९

इस श्लोक में वह भूमिका रेखाङ्कित की गई है, जिससे ज्ञात होता है कि भविष्य में एक महान् कार्य होने जा रहा है, जिसका एक अंश है—

केवलं वीरप्रसवा भूयाः।

सीता वन में भले ही जाय, पर उसकी माता सर्वव्यापिनी विश्वम्भरा को यदि अपना नाम सार्थक करना है तो उसे सीता की रक्षा सदा और सर्वत्र करनी है। रघुकुल के गुरु सविता और वयं च (वन में रहने वाले वसिष्ठ, वाल्मीकि आदि ऋषि) कहाँ उसकी रक्षा के लिए नहीं हैं ? अर्थात् सीता कहीं भी अरक्षित नहीं है।

वीथिका-चित्रदर्शन-प्रकरण में सीता की परवर्ती करुण-कथा सहने के लिए पाठक के हृदय को उसी प्रकार सक्षम बनाया जाता है, जैसे महामारी आदि भयंकर रोगों का सामना करने के लिए उनके दुर्बल कीटाणुओं को शरीर में प्रवेश करा दिया जाता है। उदाहरण के लिए देखिये—

हा अज्जउत्त, एत्तिअं दे दंसणं।
अयि विप्रयोगत्रस्ते, चित्रमेतत्।
जहा तहा होदु। दुज्जणो असुहं उपपादेइ।
हन्त वर्तमान इव जनस्थानवृत्तान्तः प्रतिभाति।

उत्तररामचरित के कथा-विन्यास में भवभूति ने पात्रों को रंगमंच के अन्य पात्रों के अनुमान द्वारा ईषत् परिचित बनाये रखने का अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है, जिसमें केवल वाल्मीकि ही सबको जानते हैं। राम, कौसल्या, जनक आदि पात्र लव, कुश को अनुमान के द्वारा पहचानने का प्रयास करते हैं। यह एक रहस्य है, जो प्रायः अन्त तक बना रहता है। ऐसा ही रहस्य है सीता की छायानुवृत्ति का। वे तृतीय अंक में सबको देख सकती हैं, पर उन्हें कोई नहीं देख पाता। राम उनके वास्तविक स्पर्श की अनुभूति तो करते हैं, पर सीता को देख नहीं पाते। इसी रहस्यात्मक वातावरण में अत्यन्त हृद्य कविता की प्रवृत्ति हुई है। ऐसे ही छठे अंक में लव-कुश राम को पहचान कर भी यह नहीं जानते कि ये पिता हैं। तभी तो कुश कहता है—

विना सीतादेव्या किमिव हि न दुःखं रघुपतेः
प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति।
स च स्नेहस्तावानयमपि वियोगो निरवधिः
किमेवं त्वं पृच्छस्यनधिगतरामायण इव ॥६.३०

भावी घटना-पथ का संकेत कवि स्थान-स्थान पर कराते चलते हैं। यथा चतुर्थ अंक में वसिष्ठ की यह बात दुहराई गई है कि—

भवितव्यं तथेत्युपजातमेव। किन्तु कल्याणोदर्कं भविष्यतीति।

अर्थात् जो कुछ बुरा होना था, हो चुका अब कल्याणमय अन्त आने वाला है।

प्रथम अंक में चित्रदर्शन-प्रकरण और उसके पश्चात् की आने वाली बातें निर्वहण के प्रसङ्ग में सन्निवेशित होने से कथा-विन्यास की सुश्लिष्टता प्रमाणित होती है। उदाहरण के लिए नेपथ्य में उच्चरित यह संवाद लीजिये—

उक्तमासीदायुष्मता वत्सायाः परित्यागे यथा भगवति वसुन्धरे श्लाघ्यां दुहितर-मवेक्षस्व जानकीमिति। तदधुना कृतवचनास्मि प्रभोर्वत्सस्येति।

गर्भाङ्क के दृश्य और मूलनाटक के दृश्य का संश्लेष-कौशल संस्कृत नाट्य-साहित्य में में अनुपमेय ही है, जहाँ एक ही व्यक्ति अभिनेता और प्रेक्षक दोनों ही है। राम और लक्ष्मण इस प्रकार के व्यक्ति हैं।

उत्तररामचरित के तृतीय अंक में कथावस्तु सम्बन्धी कला का विशेष चमत्कार है। अपनी प्रियतमा के विलुप्त हो जाने के पश्चात् उसके प्रत्यागमन और संस्पर्शन आदि का वृत्त भास के स्वप्नवासवदत्त में सुपरिचित है। सम्भव है, भास की कथा पहले से प्रचलित किंवदन्ती के अनुरूप ही हो किन्तु भवभूति की कथा की योजना उनकी प्रतिभा से विकसित प्रतीत होती है। जब राम पंचवटी आते हैं तो गंगा किसी घरेलू काम के बहाने गोदावरी से मिलने आती हैं। वहीं सीता गंगा के साथ हैं। सारा उद्देश्य है राम को पंचवटी दर्शन के समय आश्वस्त रखना। गंगा सीता से कहती हैं कि मेरे प्रभाव से तुम को पृथ्वी तल पर विचरण करते हुए देवता भी नहीं देख सकते, मनुष्यों की क्या बात? इस प्रकार पंचवटी-दर्शन के समय राम के बारंबार मूर्च्छित होने पर सीता अपने उपस्थान से राम की पत्नी-वियोग-जनित आतुरता की प्रखरता को कम करती हैं। इस दृश्य का संविधान और विन्यास इतने कौशलपूर्ण और सरल विधि से किया गया है कि नाट्य साहित्य में इसका स्थान अद्वितीय ही है। राम और सीता की लुका-छिपी का खेल इतने गम्भीर वातावरण में सफलता और सरसता पूर्वक चित्रित कर देना भवभूति की ही लेखिनी की अतिशायिता है।

उपर्युक्त दृश्य के निदर्शन में भवभूति केवल भास से ही आगे नहीं हैं, अपितु वे कालिदास से भी बढ़ गये हैं। कालिदास ने भी पुरुरवा और उर्वशी अथवा दुष्यन्त और शकुन्तला का जो मिलन-दृश्य विन्यस्त किया है, उसमें इतनी मार्मिकता नहीं आ पाई है।

तृतीय अंक में करिकलभ की प्रासंगिक घटना का नियोजन कला की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। राम और सीता को पूर्वकालीन स्मृतियों के कारण अतिशय हार्दिक विषाद है। उस समय उन दोनों के सामने करिकलभ का वृत्तान्त लाकर मानसिक अवसाद की क्षीणता कम कर दी गई है। यहाँ अभिनयात्मक कला का अनुत्तम सुयोग भवभूति ने प्रस्तुत किया है। तृतीय अंक में सीता तो अदृश्य हैं। उनकी बात तक कोई

नहीं सुन सकता किन्तु इस प्रसंग में सीता की बातें बिना सुने हुए ही अकेली राम की बातों का क्रम ऐसा बनाया गया है कि वे सीता की बातों के उत्तर-रूप में भी सटीक बैठती हैं। राम ने कहा था कि अवश्य ही सीता को हिंस्र पशुओं ने खा डाला होगा। सीता कहती हैं—

अज्जउत्त धरामि एसा धरामि

इसे राम ने सुना तो नहीं पर वे कहते हैं—

हा प्रिये जानकि क्वासि।

यह अन्तिम वाक्य पूर्व वक्तव्य के क्रम में है और साथ ही सीता की उक्ति का उत्तर भी है।[1]

एक दृश्य में राम समझते हैं कि मुझे सीता का स्पर्श प्राप्त है। वे कहते हैं—

सखि वासन्ति, आनन्दनिमीलितेन्द्रियः साध्वसेन परवानस्मि। तत्त्वं तावदेनां धारय।

राम की इस उक्ति को सुनकर वासन्ती कहती है—

कष्टमुन्माद एव।

उसे भी सीता के स्पर्श की वास्तविकता की अभिज्ञता नहीं। सीता के लिए भी राम का स्पर्श वास्तविक है किन्तु सीता तो अदृश्य हैं। राम भी मानो सपना देखते हुए की भाँति सीता के स्पर्श की वास्तविकता को असत्य ही मानते हैं। यही है नाटककार का कला-नैपुण्य।

भाव की प्रवेगमयी धारा में बहते हुए पात्रों को भवभूति ने अपना आपा खो देने के लिए विवश कर दिया। ऐसी स्थिति में वह दृश्य आता है, जब सीता-हरण और जटायु-मरण आदि पात्रों को मानो प्रत्यक्ष से हो रहे हैं और सीता कहती हैं—

(सास्रम्) अज्जउत्त तादो वावादीअदि। अहं वि अवहरिज्जामि। ता परित्ताहि परित्ताहि।

(सवेगमुत्थाय) आः पाप तातप्राणसीतापहारिन् क्व यासि।

कथा-प्रपञ्च में पूर्वानुस्मृति का अभिप्राश्रय लेकर रस और चरित्र-चित्रण के उत्कर्ष को द्विगुणित कर दिया गया है। वे पात्रों को उदात्ततम स्वरूपित करने के लिए

---

१. ऐसा ही दृश्य तृतीय अंक के अन्त में भी है, जहाँ राम सीता की प्रतिकृति की चर्चा करते हैं।

प्रसङ्गतः अनपेक्षित प्रकरणों का भी उल्लेख करने में हिचकिचाते नहीं। ऐसे उल्लेख भी पूर्वानुस्मृति की कोटि में आते हैं। उदाहरण के लिए अरुन्धती की यह उक्ति लीजिये—

एष वः श्लाघ्यसम्बन्धी जनकानां कुलोद्वहः।
याज्ञवल्क्यो मुनिर्यस्मै ब्रह्मपारायणं जगौ ॥४.६

इसमें दूसरी पंक्ति जनक के चरित्र पर प्रकाश डालती है, पर प्रसङ्गतः अनपेक्षित है। इसी प्रकार का श्लोक है—

यया पूतंमन्यो निधिरपि पवित्रस्य महसः
पतिस्ते पूर्वेषामपि खलु गुरूणां गुरुतमः।
त्रिलोकीमङ्गल्यामवनितललीनेन शिरसा
जगद्वन्द्यां देवीमुषसमिव वन्दे भगवतीम् ॥४.१०

पूर्वानुस्मृति के प्रकरणों को रस-निष्पत्ति के लिए अभूतपूर्व साधन भी बनाया गया है। वीथिका-चित्र-दर्शन, जनक के द्वारा सीता का शैशव-स्मरण, कौसल्या का यह कहना कि सुमारिदम्हि अणिव्वेदरमणीए दिअसे आदि कुछ अन्य प्रकरण इसी प्रकार के हैं। जनक जो पूर्ण रूप से विरत हो चुके हैं, उन्हें भी भवभूति ने पूर्वानुस्मृति के पाश में डालकर कौशल्या को देखते ही कहलवाया है—

क एतत्प्रत्येति सैवेयमिति

आसीदियं दशरथस्य गृहे यथा श्रीः
श्रीरेव वा किमुपमानपदेन सैषा।
कष्टं बतान्यदिव दैववशेन जाता
दुःखात्मकं किमपि भूतमहो विपाकः ॥४.६
य एव मे जनः पूर्वमासीन्मूर्तो महोत्सवः।
क्षते क्षारमिवासह्यं जातं तस्यैव दर्शनम् ॥४.७

अरुन्धती पुनः इसी पूर्वानुस्मृति का सहारा लेकर करुण-रस की निर्झरिणी बहाती हैं। यथा—

स राजा तत्सौख्यं स च शिशुजनस्ते च दिवसाः
स्मृतावाविर्भूतं त्वयि सुहृदि दृष्टे तदखिलम्।४.१२

जनक का भी यह पथ है—

स सम्बन्धी श्लाघ्यः प्रियसुहृदसौ तच्च हृदयं
स चानन्दः साक्षादपि च निखिलं जीवितफलम्।

शरीरं जीवो वा यदधिकमतोऽन्यत्प्रियतरं
महाराजः श्रीमान् किमिव मम नासीद्दशरथः ।।४.१३

पूर्वानुस्मृति सम्बन्धी इस कला को भवभूति ने स्वयं ही नीचे लिखे श्लोक में निर्दशित किया है—

सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदः
प्रथममेकरसामनुकूलताम् ।
पुनरकाण्डविवर्तनदारुणो
विधिरहो विशिनष्टि मनोरुजम् ।।४.१५

इसका प्रत्यक्ष-सा उदाहरण कौसल्या के नीचे लिखे वाक्यों में देखिए—

कौसल्या—(आत्मगतम्) हा वच्छे, जाणइ, कहिं सि सुमिरामि दे णवविवाहलच्छी-परिग्गहेक्कमण्डनं पप्फुरन्तसुद्धविहसिदं मुहमुहपुण्डरीअं । आप्फुरन्तचन्दचन्द्रिआ-सुन्दरेहिं अङ्गेहिं पुणो वि मे जादे उज्जोएहिउच्छङ्गं । सव्वदा महाराओ भणादि । एसा रहुउलमहत्तराणं बहुअम्हाणं दु जणअसुआ दुहिदेव्व ।

यही पूर्वानुस्मृति लव से अरुन्धती, कौसल्या और जनक के मिलने के अवसर पर पुनः उद्दाम बन जाती है । लव को रामायण की कथा का अभ्यास था । उसकी पूछताछ होने लगी तो जनक ने अन्त में लव से प्रश्न किया—वत्स, कथय कथाप्रसङ्गस्य कीदृशः पर्यन्तः और लव ने पुनः पूर्वानुस्मृति का कारुण्य प्रवाहित किया—

अलीकपौरापवादोद्विग्नेन राज्ञा निर्वासितां देवीं देवयजनसम्भवां सीता—मासन्नप्रसववेदनामेकाकिनीमरण्ये लक्ष्मणः परित्यज्य प्रतिनिवृत्तः ।

बस, इसी एक वाक्य में पूरी रामकथा का कारुण्य निर्भर है ।

गर्भाङ्क में सीता की करुण-गाथा की पुनरावृत्ति करके और साथ ही उनकी वर्तमान स्थिति का परिचय देकर भवभूति ने प्रेक्षकों को इतना करुणार्द्र कर दिया है कि उनके पास गिराने के लिए आँसू नहीं रह जाते ।

कथा-वस्तु में यथासमय कलात्मक मोड़ देने में भवभूति दक्ष हैं । शोकावेग को मिटा देने के लिए कालिदास की भाँति ही भवभूति ने भी आकस्मिक संरम्भ का संयोजन किया है । सीता के वनवास का प्रसंग राम के हृदय को बैठाये जा रहा है । उसी समय नेपथ्य में—

ऋषीणामुग्रतपसां यमुना तीरवासिनाम् ।
लवणत्रासितः स्तोमः शरण्यं त्वामुपस्थितः ।।१.५०

इस श्लोक को सुनकर राम सीता को आधा भूल गये।

चरित्र-चित्रण-कला

कवि ने पात्रों के चयन द्वारा इस नाटक के स्तर को अतीव उदात्त बना दिया है। राम और सीता जैसे महान् विभूतियों के साथ ही वाल्मीकि, वसिष्ठ और जनक जैसे महर्षि, पृथ्वी, भागीरथी, वासन्ती, गोदावरी, तमसा, मुरला और अरुन्धती जैसी देवियाँ इस नाटक में पात्र बन कर प्रस्तुत हैं। उनकी उपस्थिति-मात्र से नाटक में उज्ज्वल महिमा का प्रादुर्भाव हुआ है। नीचे के श्लोक से इसकी विशेष प्रतीति की जा सकती है—

त्वं वह्निर्मुनयो वसिष्ठगृहिणी गङ्गा च यस्या विदु-
र्माहात्म्यंयदि वा रघोः कुलगुरुर्देवः स्वयं भास्करः।
विद्यां वागिव यामसूत भवती तद्वत्तु या दैवतं
तस्यास्तं दुहितुस्तथा विशसनं किं दारुणेऽमृष्यथाः ॥४.५

किसी भी महापुरुष के महानुभाव से उसके चतुर्दिक् वातावरण पर प्रभाव पड़े तो वही वास्तविक महानुभाव है। भवभूति के पात्र कुछ ऐसे ही निरूपित किये गये हैं। चतुर्थ अङ्क में लव आता है तो कौशल्या, जनक और अरुन्धती तीनों प्रभावित होते हैं। उनके मनोभाव सुनिये—

कौसल्या—अम्महे एदाणं मज्झे को एसो रामभद्दस्स कोमारलच्छीसरिसेहिं सावट्ठम्भेहिं मुद्धललिदेहिं अंगेहिं अम्हाणं लोअणाईं सीअलावेदि।

अरुन्धती—झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोऽमृताञ्जनम्

जनक—भिद्येत बालवृत्तमोदृशस्य निर्माणस्य।

उपर्युक्त वक्तव्यों से व्यञ्जना के द्वारा भवभूति ने चरित्र-चित्रण कर दिया है कि वह कोई विशेष विभूति है। पाँचवें अङ्क में शत्रु बन कर चन्द्रकेतु आता है। तथापि वह लव के महानुभाव से प्रभावित है। देखिए एक ही श्लोक में इन दो भावों का निर्वाह कितने कौशलपूर्वक भवभूति ने किया है—

चन्द्रकेतु:—अत्यद्भुतादसि गुणातिशयात्प्रियो मे
तस्मात् सखा त्वमसि यन्ममतत्तवैव।
तत्किं निजे परिजने कदनं करोषि
नन्वेष दर्पनिकषस्तव चन्द्रकेतुः ॥५.१०

लव के नीचे लिखे वक्तव्य के माध्यम से भवभूति ने अपनी इस चरित्र-चित्रण-कला का रहस्योद्घाटन किया है—

लव—अहो महानुभावस्य प्रसन्नकर्कशवीरवचनप्रयुक्तिर्विकर्त्तनकुलकुमारस्य ।
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥६.११

और भी—

यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन्दृष्टिर्मम कलहकामः पुनरयम् ।
रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु-
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालोल्बणरसः ॥५.२६

राम के चरित्र-चित्रण में भी कवि की यह कला स्फुरित हुई है । लव ने उन्हें देखा और प्रतीत किया—

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृत्तिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमिव परवानस्मि यदिवा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥६.११

उपर्युक्त श्लोक के चतुर्थ पाद के अनुसार महापुरुषों का कोई अनिर्वचनीय अतिशय होता है । चरित्र-चित्रण में इस अतिशय को लक्ष्य बनाकर चलना भवभूति की कला है ।

राम ने सीता को वनवास देकर जो कुछ बुरा किया, उसका मार्जन कवि की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी कला ही कर सकती है । दुर्मुख के सीता-सम्बन्धी परगृहवास-दूषण की चर्चा करने पर राम के द्वारा पुनः उन परिस्थितियों का आकलन कराया जाता है, जिनमें सीता का परित्याग किया जा सकता है—सज्जनों का लोकाराधन व्रत, वसिष्ठ का सन्देश और सूर्यवंश के चरित्र की शुद्धि का ध्यान । यही बात शम्बूक-वध के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । कवि की कला राम-चरित्र के उदात्त पक्ष का निर्वाह कराती है । पहले तो भवभूति ने यह दिखाया कि ब्राह्मण-पुत्र को जीवित करने के लिए यह आवश्यक था । दूसरे मारे जाने पर दिव्य पुरुष होकर शम्बूक अभ्युदय के पथ पर अग्रसर हुआ । ऐसा होना प्राक्कलित भी था । तीसरे कवि ने राम के मुख से कहलवा दिया कि मैं जानता हूँ कि यह क्रूरता का काम होने पर भी कर्तव्य है । पर सबसे बढ़ कर कला का संयोजन यह है कि यह राम का अपराध नहीं है । यह उनके एक अङ्ग, हाथ का अपराध है । यही स्वीकारोक्ति ही मार्जन की विधि है । फिर राम को सर्वाङ्ग अपराधी नहीं कह सकते । भवभूति ने यहाँ कितनी कलात्मकता के साथ व्यक्त किया है कि शम्बूक-वध राम के व्यक्तित्व का यदि विपरीत पक्ष नहीं है तो कम से कम एकाङ्गी और वह भी अपवादात्मक पक्ष है । इस प्रसङ्ग में प्रस्तुत कला-निर्भर श्लोक का पारायण करें—

हे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्न–
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ।।२.१०

राम ही कहते हैं—कृतं रामसदृशं कर्म

इस वाक्य से स्पष्ट व्यक्त हो जाता है कि शम्बूक को मारने वाला व्यक्ति वास्तविक राम से भिन्न है । यह है कला ।

भवभूति की वर्णन-कला में स्निग्धतम वस्तुओं का नाम गिना देने की पद्धति निर्वचनीय है । किसी एक वस्तु से सम्बद्ध भाव-निगूढ़ता की सरिता में अवगाहन कराने की पद्धति भवभूति की नहीं है । भवभूति के वर्णन में फोटोग्राफ जैसा चित्रग्रहण प्रायः मिलता है । उदाहरण के लिए नीचे लिखा श्लोक है—

इहसमदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्–
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज–
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ।।२.२०

इस श्लोक में निर्झरिणी है । जम्बू वृक्ष का समूह है । उसके फल पके हैं । वहाँ मदमत्त पक्षियों से वानीर व्याप्त हैं । उनके फूलों से निर्झरणी का जल सुरभित है । जम्बू-वृक्ष के बीच से निर्झरिणी का प्रवाह मुखरित है । इस श्लोक से, हृदय को भावों की प्राप्ति सम्भव है, बहुत न हुई हो किन्तु नेत्रों को बहुत कुछ देखने को मिल गया ।

उपर्युक्त वर्णन में चित्रगृहीत वस्तुओं का महत्त्व है, उनके विशेषणों का नहीं । नीचे लिखे श्लोक में वर्णन-कला का यह उदाहरण विशेष प्रस्फुटित है—

पश्चात् पुच्छं वहति विपुलं तच्च धुनोत्यजस्रम्
दीर्घग्रीवः स भवति खुरास्तस्य चत्वार एव ।
शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत् पिण्डकानाम्रमात्रान्
किं व्याख्यातैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः ।।४.२६

भवभूति करुण-रस की निष्पत्ति के लिए कोरी भावुकता को पर्याप्त नहीं मानते । वे करुण-दृश्य को सीधे सामने रख कर मानो हृदय पर करुण का आरा चला देते हैं । यथा—

अपत्ये यत्तादृग्दुरितमभवत्तेन महता
विषक्तस्तीव्रेण व्रणितहृदयेन व्यथयता ।

पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे
निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति ।।४.३

प्रायः यही दृश्य कौसल्या के नीचे लिखे वाक्य में उपस्थित है—

ता ण सक्कुणोमि उव्वट्टमाणमूलबन्धनं हिअअं पज्जवत्थावेदुं ।

करुण की धारा भवभूति ने उत्तररामचरित में अजस्र प्रवाहित की है किन्तु पाठकों का हृदय इस रस के भौतिक वेग से कहीं बैठने न लगे—इस उद्देश्य से उन्होंने स्थान-स्थान पर कुछ विधान प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के लिए सीता के सम्बन्ध में जनक, कौसल्या और अरुन्धती आदि बातें कर रही हैं। करुण अपने सर्वोच्च शिखर पर व्याप्त है। जनक ने कहा—

घोरेऽस्मिन्मम जीवलोकनरके पापस्यधिग्जीवितम् । ४.१७

कौसल्या ने कहा—

विहवज्जलेवपडिबद्धणिच्चलं हदजीविदं मं मन्दभाइणीं ण पडिच्चअदि ।

तभी अरुन्धती कहती है—

आश्वसिहि राजपुत्रि वाष्पविश्रामोऽप्यन्तरे कर्तव्य एव अन्यच्च किं न स्मरसि यद्वोचदृष्यशृङ्गाश्रमे युष्माकं कुलगुरुर्भवितव्यं तयेत्युपजातमेव किं तु कल्याणोदर्कं भविष्यतीति ।

कौसल्या के यह कहने पर कि 'कुदो अदिक्कन्दमणोरहाए मह एदं' अरुन्धती ने उत्तर दिया—

तत्किं मन्यसे राजपुत्रि मृषोद्यं तदिति । न हीदं सुक्षत्रियेऽन्यथा मन्तव्यम् । भवितव्यमेव तेन ।

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयोऽभूत् ।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषिक्ता
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ।।४.१८

अरुन्धती के माध्यम से भवभूति ने प्रेक्षकों की सान्त्वना के लिए एक और काम किया। उसने अपवारित विधि से उनसे कहा—

इदं नाम भागीरथी निवेदितरहस्यं कर्णामृतम् । न त्वेवं विद्मः कतरोऽयमनयोरायुष्मतोः कुशलवयोः ।

यह रहस्योद्घाटन पाठकों को करुण रस के वेग से बचाने के लिए ही था।

रस-विन्यास-कौशल की स्पष्ट अभिव्यक्ति पाँचवें अङ्क में होती है। चौथे अङ्क तक तो भवभूति ने करुण की गंगा बहाई है। सम्भवतः उनको भान हो गया कि इसके आगे करुण की गाड़ी नहीं चलेगी। करुण की सीमा नातिश होती है, अनन्त नहीं। बस, पाँचवें अङ्क में उन्होंने करुण को पास तक न फटकने दिया और दर्शकों में वीर रस भरने के लिए चन्द्रकेतु और लव का युद्ध वर्णन कर दिया। तभी तो आगे चलकर दर्शक करुण की धारा में पुनः अवगाहन करने के लिए प्रस्तुत हो सके।

पाँचवें अङ्क में मिश्रीकृत रसक्रम का सफल प्रयोग किया गया है। यथा—

> यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
> तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम कलहकामः पुनरयम्।
> रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु—
> र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालोल्बणरसः॥५.२६

इसमें भ्रातृप्रेम और वीरोत्साह का मिश्रण है। प्रेम और वीरता का मिश्रण भवभूति ने छठें अंक में निभाया है, विशेषतः उस प्रकरण में जब राम की कुश से भेंट होती है।

भवभूति का वीर रस तो मूर्तिमान् है। राम के शब्दों में

> दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
> धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
> कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो
> वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव॥६.१९

अभिव्यक्ति

तृतीय अंक की अभिव्यक्ति विशेष कौशलपूर्ण है। करिकलभक और गिरिमयूर दोनों अपनी-अपनी पत्नियों के साथ सानन्द हैं। प्रकृति के बीच यही विधान है। इस प्राकृतिक विधान में राम और सीता का पृथक् होना ही अस्वाभाविक है। यह अस्वाभाविकता अशाश्वत है। यदि पति-पत्नी का चिरमिलन ही प्रकृति का नियोजन है तो राम और सीता का पुनर्मिलन अवश्यम्भावी है और वह भी शीघ्र ही। यही इस अंक की कथा-वस्तु की प्रथम अभिव्यक्ति है। भवभूति ने इस अभिव्यक्ति को मानो कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए ही सीता के मुख से कहलवाया है—

सहि वासन्दि किं तुए किदं अज्जउत्तस्स मह अ एवं वंसअन्तीए। हद्धी हद्धी। सो एव्व अज्जउत्तो तं एव्व पंचवटी-वणं सा एव्व पियसही वासन्ती, दे एव्व विविह-विस्सम्भसक्खिणो गोदावरीकाणणोद्देसा, दे एव्व जादणिव्विसेसा मिअपक्खिपाअवा,

सा ज्जेव वाहू । मह उण मन्दभाइणी ए दीसन्तं वि सव्वं एव्व एदं णत्थि त्ति सो ईदिसो जीवलोअस्स परिवत्तो ।

तृतीय अंक के द्वारा राम के चरित्र का उदात्ततम स्वरूप अभिव्यक्त है । राम के साथ सीता शरीरतः यद्यपि नहीं रहीं, तथापि उनके मन में सीता सदा रहीं । राम ने विवाह नहीं किया, इतना उनका हार्दिक प्रेम था सीता के साथ । यह सब इस अंक से व्यक्त होता है ।

प्रेम-विश्लेषण

भवभूति ने उत्तररामचरित में प्रेम के विराट् स्वरूप और सीमातिग क्षेत्र का परिचय दिया है । इसका मूल मन्त्र राम के शब्दों में है—

> व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
> र्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते ।[1]
> विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
> द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ।।६.१२

पति और पत्नी का प्रेम इस प्रसंग में सर्वोपरि है । पत्नी का एक वाक्य स्नेह-निर्भर होने पर क्या कर सकता है—

> म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
> सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।
> एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
> कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ।।१.३६

यह स्नेह करता क्या है ? अद्वैतम् । देखिये

> अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्-
> विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
> कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
> भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ।।१.३९

वही पत्नी राम के शब्दों में गृह-शोभा है ।[2]

जो जिससे स्नेह करता है, वह उसके लिए सब कुछ है—इस प्रसङ्ग में पत्नी का स्नेह निर्वचनीय है । राम ने सीता के प्रेम के विषय में कहा है—

---

१. इस प्रसंग में उपाधियों की अनावश्यकता की चर्चा उत्तर० २.२ में भी है ।

२. उत्तर० १.४६

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥२.१६

राम का पत्नीव्रत था—

देव्या शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः ।
प्रणष्टमिव नामापि न च रामो न जीवति ॥३.३३

तथापि पति-पत्नी के प्रेम में भवभूति का विश्वास था—

हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम् ॥६.३२

स्नेह का रूप सज्जनों की संगति में कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके लिए तो पुण्यों को न्यौछावर किया जा सकता है। वनदेवता के शब्दों में—

सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति ।२.१

इस सत्सङ्गति का लक्षण युक्त विवेचन है—

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः ।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥२.२

शिशुओं के साथ प्रेम का वास्तविक रूप भवभूति की दृष्टि में है। जैसे ठूँठ में भी वसन्त सरसता ला देता है, वैसे ही यह शिशु-प्रेम ऋषियों और चराचरों को सप्रेम बना देता है। आत्रेयी के शब्दों में—

दारकद्वयमुपनीतम्। तत्खलु न केवलमृषीणामपि तु चराचराणां भूतानामान्तराणि तत्त्वान्युपस्नेहयति।

माता-पिता के लिए शिशु क्या हैं—

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ॥३.१७

अपनी सन्तति का शोक कितना गहरा हो सकता है—इसकी कल्पना महाराज जनक के उदाहरण से करें। सीता के निर्वासन का वृत्त सुनकर वे वैखानस बन कर तप करने लगे, पर तब भी सीता के वियोग-जनित व्यथा से उनकी मुक्ति नहीं है—

हृदि नित्यानुषक्तेन सीताशोकेन तप्यते ।
अन्तःप्रसृतदहनो जरन्निव वनस्पतिः ॥४.१

वे सीता के विषय में 'वदनकमलकं शिशोः स्मरामि' के अनुसार सदैव चिन्तित रहे।

चराचर के साथ महानुभावों का प्रेम दिखाना भवभूति के लिए अभीष्ट है। पंचवटी का नाम सुनते ही आत्रेयी को सर्वप्रथम सीता के वृक्षों के साथ बन्धुत्व का स्मरण हो आता है—

स एष ते वल्लभशाखिवर्गः। २.६

राम ने सीता के विषय में कहा है—प्रियारामाहि सर्वथा **वैदेह्यासीत्**। सीता ने भी राम से कहा था—

त्वया सह निवत्स्यामि वनेषु मधुगन्धिषु। २.१८

राम के प्रेम ने प्रकृति को सजीवता प्रदान कर रखी है। वे पंचवटी प्रदेश की इस सजीवता का उपाख्यान करते हैं—

तदत्रैव सा पञ्चवटी यत्र चिरनिवासेन विविधविस्रम्भातिसाक्षिणः प्रदेशाः प्रियायाः प्रियसखी च वासन्ती नाम वनदेवता।

राम के साथ पंचवटी का ही यही सजीवता का भाव आगे भी रहता है। तभी तो राम ने कहा है—

हन्त परिहरन्तमपि मामितः पञ्चवटीस्नेहो बलादाकर्षति।

पंचवटी की सम्भावना करना राम अपना कर्तव्य समझते हैं उसी प्रकार, जैसे अगस्त्यादि ऋषियों का।[1]

प्रकृति के उपर्युक्त सजीवता का विशदीकरण करके भवभूति ने प्रकृति से अपने नाटक के लिए पात्र ढूंढ़ लिये हैं। वे हैं नदियाँ—तमसा, मुरला, गोदावरी, गङ्गा, सरयू। इनके साथ पृथ्वी।

सीता का पशुओं और पक्षियों के साथ प्रेम भी उदात्त है। उन्होंने हाथी के बच्चे को पाल रखा। उसे सल्लकी-पल्लवाग्र खिलाती थीं। एक पालित मोर को वे नचाया करती थीं। प्रकृति के बीच सीता के प्रेम ने सौहार्द का साम्राज्य बना रखा था। हाथी का बच्चा उनका पुत्रक था। भवभूति के अनुसार प्रकृति ने राम और सीता के लिए एक कुटुम्ब बना रखा था। यथा—

---

१. राम ने स्वयं कहा है—

यत्र द्रुमा मृगा अपि बन्धवो मे
यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवात्सम्।
एतानि तानि बहुनिर्झरकन्दराणि
गोदावरी परिसरस्य गिरेस्तटानि॥

येनोद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण
व्याकृष्टस्ते सुतनु लवलीपल्लवः कर्णमूलात् ।
सोऽयं पुत्रस्तव मदमुचां वारणानां विजेता
यत्कल्याणं वयसि तरुणे भाजनं तस्य जातः ॥[१]

प्रकृति का प्रेम-व्यापार उसके मानवीकरण के लिए अभिव्यक्त है। हस्ति-दम्पती में कान्तानुवृत्ति-चातुर्य का परिलक्षण इसी मानवीकरण के उद्देश्य का साधक है। राम ने वत्स हस्तियुवक के विषय में कहा है—

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादिताः
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसंक्रान्तयः ।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामं पुन-
र्यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥३.१६

यह एक नागरक के समान ही प्रियानुवर्तन में निष्णात था।

हाथी के समान ही मयूर भी वधूसखः था। राम ने उसके विषय में कहा है—

सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि ॥३.१९

राम और सीता के प्रकृति-प्रेम ने पशु-पक्षियों से जो मैत्रीभाव स्नेह-सम्बन्ध के द्वारा स्थापित किया था, उसका प्रत्यक्ष और कार्य के माध्यम से परिचय नीचे के श्लोक में मिलता है—

ददतु तरवः पुष्पैरर्घ्यं फलैश्च मधुश्च्युतः
स्फुटितकमलामोदप्रायाः प्रवान्तु वनानिलाः ।
कलमविरलं रज्यत्कण्ठाः क्वणन्तु शकुन्तयः
पुनरिदमयं देवो रामः स्वयं वनमागतः ॥

यह है प्रेमिका प्रकृति के द्वारा राम का अभिनन्दन। यह वही प्रकृति है, जिसके सम्बन्ध में कभी यह सत्य था—

---

१. उत्तररामचरित ३.१५। इसी कौटुम्बिक भाव की प्रतिष्ठा आगे भी की गई है। यथा—

कतिपयकुसुमोद्गमः कदम्बः
प्रियतमया परिवर्धितोऽयमासीत् ।
स्मरति गिरिमयूर एष देव्याः
स्वजन इवात्र यतः प्रमोदमेति ॥ ३.२०

वहीं ३.२१ में हरिणों के कुटुम्बी होने का वृत्त है।

करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै-
स्तरुशकुनिकुरङ्गान्मैथिली यानपुष्यत् ।३.२५

भवभूति ने प्रथम दृष्टि में उत्पन्न स्नेह का वर्णन भी किया है। सुमन्त्र के शब्दों में ऐसे प्रेम की व्याख्या है—

भूयसा जीविधर्म एव यत्प्रसमवी कस्यचित् क्वचित्प्रीतिः, यत्र लौकिकानामुपचार-स्तारामैत्रकं चक्षूराग इति। तमप्रतिसंख्येयमनिबन्धनं प्रेमाणमामनन्ति।

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति ।।५.२०

यह प्रथम दृष्टिगत स्नेह महानुभाव से प्रतिफलित होता है। ऐसे महानुभाव के सम्पर्क में यदि शत्रुभाव से भी भले मानुष आ जायें तो उनकी स्थिति इस प्रकार होगी—

एतस्मिन्मसृणितराजपट्टकान्ते
मोक्तव्याः कथमिव सायकाः शरीरे।
यत्प्राप्तौ मम परिरम्भणाभिलाषा—
दुन्मीलत्पुलककदम्बमङ्गमास्ते ।।५.१८

जीवन-दर्शन

उत्तररामचरित में भवभूति ने मानव-जीवन का दर्शन स्थान-स्थान पर अंकित किया है। इसके अनुसार सबसे बड़ा सत्य है दैव का सर्वोपरि प्रभाव। भागीरथी के शब्दों में—

को नाम पाकाभिमुखस्यजन्तो—
र्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ।।७.४

भवभूति गीता के कर्मयोग को जीवन की सर्वोत्तम सफलता मानते थे। उनके आदर्श राम थे, जिनका व्रत था—लोकाराधन। इस लोकाराधन में सदा प्रशंसा मिलेगी—यह निश्चित नहीं है। राम को ही अनेक स्थलों पर व्यक्त या अव्यक्त विधि से कर्तव्य-पथ पर चलने के लिए खोटी-खरी सुननी पड़ी। तथापि—

सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता ।।१.५

---

१. महानुभाव का वर्णन भवभूति ने किया है—
आवासः स्नेहभक्तीनामेकायतनं महत्।
प्रकृष्टस्येव धर्मस्य प्रसादो मूर्तिसुन्दरः ।।६.१०

जीवन को सफल और सुखी बनाने के लिए आवश्यक है अपने को अच्छा बना लेना और फिर सज्जनों का साथ करना। भवभूति के अनुसार सज्जनों का साथ मिल जाना आकस्मिक नहीं है। इसके लिए पुण्य होना चाहिए।

मनुष्य को अपना चरित्र कैसा बनाना चाहिए? भवभूति का मत है कि मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जो साधारण हैं—घिसे-पिटे मार्ग पर चलने वाले और दूसरे वे जो असाधारण हैं। असाधारण लोगों को भवभूति ने लोकोत्तर कहा है। ऐसे लोकोत्तर मानव की चित्तवृत्ति है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।

आवश्यकता पड़ने पर अति कठोर, अन्यथा कुसुम से भी कोमल। यदि ऐसा न हुआ तो गुड़ को खाने वाले इतने चींटें मिलेंगे कि अस्तित्व ही मिट जाय। तभी तो कहा—

न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विसहते।

अपने व्यवहार से लोक में मधुरता आपादित करना महापुरुषों का काम होना चाहिए। इस उद्देश्य से सत्य और मधुर वाणी का प्रयोग अपेक्षित है। भवभूति के अनुसार ऐसी वाणी—

कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
कीर्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः॥५.३०

चित्र-दर्शन-प्रकरण

उत्तररामचरित का चित्र-दर्शन-प्रकरण भासकृत प्रतिमानाटक में भरत के द्वारा प्रतिमा-दर्शन के समान अंशतः पड़ता है। भास ने भी इस प्रतिमा-दर्शन को महत्त्वपूर्ण मानकर इस नाटक का नाम प्रतिमा दे डाला था।

वीथिका-चित्र दर्शन का सबसे अधिक महत्त्व है परवर्ती अंकों में नाटक की कथावस्तु और पात्रों के चरित्र-चित्रण की भूमिका प्रस्तुत कर देना। किस प्रकार राम, लक्ष्मण आदि के चरित्र पर यह चित्र-दर्शन-प्रकरण प्रकाश डालता है, इसे पात्रोन्मीलन के प्रसङ्ग में देखा जा सकता है। इसमें प्रत्यक्ष ही राम के माहात्म्य की प्रतिष्ठा है और सीता का मनोरंजन होता है।

इस चित्र-दर्शन में सीता और राम के परवर्तिवियोग की व्यञ्जना कलात्मक विधि से की गई है। पंचवटी में शूर्पणखा का चित्र देखते ही सीता चिल्ला पड़ीं—

हा अज्जउत्त, एत्तिग्रं दे दंसणं।

इस अवसर पर राम को कहना पड़ा—

अयि विप्रयोगत्रस्ते, चित्रमेतत्।

इन वाक्यों के अर्थ की गम्भीरता देखिए। पाठक इनको देखकर भावी आशंका की कल्पना कर लेता है। इसी परिस्थिति में आगे चलकर राम कहते हैं—

विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि
प्रत्यावृत्तः पुनरिव स मे जानकीविप्रयोगः ॥१.३३

जैसा अन्य नाटकों में देखा जा सकता है, कवि का उद्देश्य है पात्रों के चरित्र को परिमार्जित रखना। राम को किन्हीं परिस्थितियों में सीता को वनवास देना पड़ा। इस वनवास देने की बात को राम के चरित्र के ऊपर धब्बा न समझा जाये—इसके लिए कवि ने सीता के दोहद का उपन्यास इसी चित्र-दर्शन के माध्यम से सफलतापूर्वक किया है। सीता कहती हैं—

अज्जउत्त एदिणा चित्तदंसणेण पच्चुप्पण्णदोहदाए अत्थि मे विण्णप्पं।... जाणे पुणो वि पसण्णगम्भीरासु वणराइसु विहरिस्सं पवित्तसोम्म सिसिरावगाहां च भअवदीं भाइरहीं अवगाहिस्सं।

अभी दुर्मुख की बात आने ही को है कि राम ने लक्ष्मण से कहा कि सीता को वन-दर्शन कराने की व्यवस्था कर दो।

उत्तररामचरित में सीता के पुत्रों के सरहस्य जृम्भकास्त्र-युक्त होने का विशेष महत्त्व है। आत्रेयी ने वनदेवता से द्वितीय अंक में वाल्मीकि के द्वारा प्राप्त दारकद्वय का प्रभाव बताया—

तयोः किल सरहस्यानि जृम्भकास्त्राण्याजन्मसिद्धानीति।

पञ्चम अंक में लव इस जृम्भकास्त्र का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है। इस प्रसङ्ग की नीचे लिखी उक्तियाँ व्यञ्जक हैं—

लवः—कालहरणप्रतिषेधाय जृम्भकास्त्रेण तावत्सैन्यानि संस्तम्भ यामि।

सुमन्त्रः—वत्स, मन्ये कुमारकेणानेन जृम्भकास्त्रमामन्त्रितम्।
कुतः पुनरस्य जृम्भकाणामागमः स्यात्।

चन्द्रकेतुः—भगवतः प्राचेतसादिति मन्यामहे।

सुमन्त्रः—वत्स नैतदेवमस्त्रेषु विशेषतो जृम्भकेषु। यतः
कृशाश्वतनया ह्येते कृशाश्वात्कौशिकं गताः।
अथ तत्सम्प्रदायेन रामभद्रेऽपिस्थिताः ॥५.१५

इन दोनों प्रकरणों में प्रेक्षकों को यह व्यञ्जना द्वारा प्रकट हो जाता है कि ये राम के पुत्र हैं। इस व्यञ्जना का आधार चित्र-दर्शन-प्रकरण में ही है, जहाँ राम ने सीता से जृम्भकास्त्रों के विषय में कहा है—

राम:—वन्दस्व देवि दिव्यास्त्राणि।

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा परःसहस्राः शरदस्तपांसि।
एतान्यपश्यन् गुरवः पुराणाः स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥१.१५
सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति।

प्रेक्षकों को प्रत्यक्ष ही यह ज्ञात रहता है कि जृम्भकास्त्र राम के पुत्रों के ही हो सकते हैं। इस प्रकार प्रेक्षकों को स्थान-स्थान पर करुण का प्रभाव कम करने की योजना सफल बनाई गई है।

षष्ठ अंक में लव के जृम्भकास्त्र-प्रयोग को देखकर राम ने उससे पूछा कि कैसे मिला तुम्हें जृम्भकास्त्र? राम वही श्लोक प्रयुक्त कर रहे हैं, जो पहले अंक में उन्होंने चित्र-दर्शन-प्रकरण में किया था। इससे पुनः व्यक्त होता है कि राम का पुत्र लव है, जिसे उत्तराधिकार रूप में जृम्भकास्त्र पिता से प्रदत्त होकर सिद्ध है। अन्त में कुश और लव को देखते हुए जब उन्हें प्रायः विश्वास-सा हो चला कि ये दोनों मेरे पुत्र ही हैं तो एक बार और इन जृम्भकास्त्रों के सम्प्रदाय को अकाट्य प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

यद्यपि स्वतः प्रकाशान्यस्त्राणीति तत्र विमृशामि। अपि खलु तच्चित्रदर्शन-प्रासङ्गिकमस्त्रानुज्ञानमुद्भूतं स्यात्। न ह्यसाम्प्रदायिकान्यस्त्राणि पूर्वेषामप्यनुशुश्रुम। अयं च संप्लवमानमात्मानं सुखातिशयो हृदयस्य मे विस्रम्भयते।

सीता की शुद्धि को प्रमाणित करने वाले सर्वप्रथम ये जृम्भकास्त्रादि ही सातवें अङ्क में दिखाये गये हैं। यदि सीता पवित्र न होतीं तो बाबा-प्रदत्त एवं गुरुक्रम से प्राप्तव्य कैसे ये शस्त्र देव लवकुश का उपस्थान करते। गर्भाङ्क में नेपथ्य से यह घोषणा होती है—

देवि सीते नमस्तेऽस्तु गतिर्नः पुत्रकौ हि ते।
आलेख्यदर्शनादेव ययोर्दाता रघूद्वहः ॥७.१०

चित्र-दर्शन प्रकरण में चित्र-लिखित गंगा से राम ने कहा था—

'सा त्वमम्ब स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भव।'

उपर्युक्त प्रसङ्ग में सप्तम अंक में गंगा का नेपथ्य से कहना—

जगत्पते रामचन्द्र स्मर्यतामालेख्यदर्शने मां प्रत्यात्मनो वचनं यथा सा त्वमस्मि स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भवेति तत्रानृणास्मि जाता।

संवाद

भवभूति के संवादों में कहीं-कहीं चरित्र-चित्रण के प्रयोजन से यद्यपि अनपेक्षित प्रकरणों और विशेषणों का प्रयोग मिलता है तथापि इन संवादों में कवि ने प्रायशः वास्तविकता का निदर्शन इस प्रकार कराया है कि इनके द्वारा नाटक का अभिनय-गुण प्रवर्धित होता चलता है। चतुर्थ अङ्क में अरुन्धती, जनक, कौसल्या आदि की औपचारिक वार्ता उनके मिलन-प्रसङ्ग में हो रही है। नाप-तौल कर एक-एक शब्द वक्ता, श्रोता और चर्चित पुरुषों के व्यक्तित्व के अनुरूप हो रहे। साथ ही प्रत्येक वक्तव्य से वक्ता के हृदय की अनुभूति परिलक्षित हो रही है। पूरे वाक्य ही नहीं, एक-एक पद वातावरण और व्यक्तित्व के अनुरूप प्रयुक्त हैं। नीचे के कुछ वाक्य निदर्शन रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं—

जनकः—(उपसृत्य) भगवत्यरुन्धति, वैदेहः सीरध्वजोऽभिवादयते।

अरुन्धती—परं ज्योतिस्ते प्रकाशताम्। अथ त्वां पुनातु देवः परो रजाः य एष तपति।

जनकः—आर्ये गृष्टे अपि कुशलमस्याः प्रजापालकस्य मातुः।

जनकः—(सरोषम्) आः कोऽयमग्निर्नामास्मत्प्रसूति परिशोधने। कष्टमेवंवादिना जनेन रामभद्रपरिभूता अपि वयं पुनः परिभूयामहे।

अरुन्धती—(निःश्वस्य) एवमेतत्। अग्निरिति वत्सां प्रति परिलघून्यक्षराणि। सीतेत्येव पर्याप्तम्। हा वत्से।

जनकः—हन्त हन्त सर्वथा नृशंसोऽस्मि संवृत्तः। यश्चिरस्य दृष्टान् प्रियसुहृदः प्रियदारान्स्निग्धं पश्यामि।

कौसल्या—जादे जाणाइ किं करोमि। दिढवज्जलेवपडिबद्धणिच्चलं हदजीविदं मं मन्दभाइणीं ण पडिच्चअदि।

संवादों में कहीं-कहीं वास्तविकता प्रत्यक्ष दिखलाई देती है। लव सूर्यवंश का शिशु है। उसे राजपुरुष की घोषणा जलाये जा रही है। वह कहता है—

सन्दीपनान्यक्षराणि। तत्किमक्षत्रिया पृथ्वी। अन्त में आदेश देता है—

भो भो बटवः परिवृत्य लोष्ठैश्चाभिघ्नन्तो नयतैनमश्वम्। एष रोहितानां मध्ये वराकश्चरतु।

दूसरी ओर वहीं ब्राह्मण-बटु कहते हैं—

कुमार कृतमनेनाश्वेन । तर्जयन्ति विस्फुरितशास्त्राः कुमारायुधीयश्रेणयः ।
दूरे चाश्रमपदमितस्तदेहि हरिणप्लुतैः पलायामहे ।

शैली

पदावली

भवभूति की शैली भावानुरूप सरल या कठिन है। कोमल भावों की अभिव्यक्ति करते समय सरल-कान्त पदावली का प्रयोग साधारणतः सर्वत्र मिलता है। यथा—

जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे ।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥१.१६

अथवा—

एतानि तानि गिरिनिर्झरिणी तटेषु
वैखानसाश्रिततरूणि तपोवनानि ।
येष्वातिथेयपरमा यमिनो भजन्ते
नीवारमुष्टिपचना गृहिणो गृहाणि[१] ॥१.२७

कठोरीभूत दिवस का वर्णन करने में भाषा कठोर है। यथा—

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणाकम्पेन सम्पातिभि-
र्घर्मस्रंसितबन्धनैः स्वकुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम् ।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः ॥२.६

इस श्लोक में अनुप्रासालङ्कारमात्र है, पर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा उस प्रदेश की चतुर्दिक् सहानुभूति प्रकट होती है।

कवि की भाषा नाटक में साधारणतः बोलचाल की होनी चाहिए किन्तु जहाँ किसी घन-घोर दृश्य का स्मरण करना है, वहाँ भवभूति ने समास बहुला, संयुक्ताक्षर-प्रचुरा और बड़े शब्दों की संघटना प्रस्तुत की है। यथा—जनस्थान के बीच तक जाने वाले पर्वत प्रस्रवण का वर्णन लक्ष्मण के मुख से इस प्रकार है—

अयमविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्धनीलपरिसरारण्यपरिणद्धगोदावरीमुखरकन्दरः सततमभिष्यन्दमानमेघदुरितनीलिमा जनस्थानमध्यगो गिरिः प्रस्रवणो नाम ।

प्रेम की बातों के लिए स्निग्धाक्षरों का प्रयोग किया गया है। यथा—

---

१. एक अन्य उल्लेखनीय उदाहरण ३.२७ है।

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥१.३६

कवि की भाषा समान प्रकरण के लिए भी वक्ता के व्यक्तित्व के अनुरूप सरल या कठोर बनती गई है। वन का वर्णन लीजिये। द्वितीय अङ्क में शम्बूक द्वारा प्रस्तुत वर्णन कठोर भाषा में है और वहीं राम के द्वारा प्रस्तुत वर्णन अतीव सरल और मधुर भाषा में है। यथा—

शम्बूक :—दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि ।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीना-
मिभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः ॥२.२१

राम :— एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ।
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीरनिचुलानि सरित्तटानि ॥२.२३

भवभूति को कुछ ही पदों के प्रयोग द्वारा एक बहुत बड़ी कथा को बिना कुछ छोड़े हुए कह देने में अनुपम लाघव प्राप्त है। उदाहरण के लिए देखिये लव का कहना—

अलीक पौरापवादोद्विग्नेन राज्ञा निर्वासितां देवीं देवयजनसम्भवां सीतामासन्नप्रसव वेदनामेकाकिनीमरण्ये लक्ष्मणः परित्यज्य प्रतिनिवृत्तः।

कभी-कभी किसी महापुरुष या उच्च भाव को प्रकट करने के लिए उसके महत्त्व को मानो व्यक्त करने के उद्देश्य से लम्बे समास का प्रयोग किया गया है। यथा—

महापुरुषमाकारानुभावगाम्भीर्यसम्भाव्यमानविविधलोकोत्तरसुचरितातिशयम् ।

यह लम्बा समास राम के व्यक्तित्व की लम्बाई की कल्पना कराता है।

डा० पी० वी० काने ने भवभूति की शैली का पर्यालोचन करते हुए कहा है—

Bhavabhuti had a great command over language and was a master of style and expression. He often composes verses where the sound is an echo to the sense.[१]

---

१. उत्तररामचरित के १.४०; ४.२९ तथा ५.२६ में उपर्युक्त गुण विशेष स्पष्ट हैं।

The popularity of Bhavabhuti and his power of putting truth in simple, trenchant and attractive language may be guaged from the fact that many of his verses and even some of his prose passages have attained the rank of proverbs and Subhasitas.

अलंकार

भवभूति की शैली को अलङ्कार से बोझिल नहीं कहा जा सकता, यद्यपि प्रायः सभी सुप्रचलित अलङ्कारों का रसोद्बोधक प्रयोग उत्तररामचरित में मिलता है। इन अलङ्कारों के प्रयोग में संयम देखकर यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि कवि अलङ्कारों को काव्य-चमत्कार का प्रमुख साधन नहीं मानते। भाव-गाम्भीर्य की निर्झरिणी के प्रवाह को ही काव्य का प्रमुख उद्देश्य मानते हुए उन्होंने अलङ्कारों के द्वारा भावगाम्भीर्य को गंभीरतर बनाने का उपक्रम किया है। यथा—

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥३.२९

इसमें प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार के द्वारा राम के शोक और क्षोभ को प्रखरतर सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार की भाव प्रखरता नीचे लिखे श्लोक में अलङ्कार-प्रयोग के द्वारा अभिव्यक्त की गई है—

यथातिचरश्चीनमलातशल्यं
प्रत्युप्तमन्तः सविषश्च दन्तः।
तथैव तीव्रो हृदि शोकशङ्कु—
र्मर्माणि कृन्तन्नपि किं न सोढः ॥३.३५

अलंकारों में उपमानों का चयन उच्च स्तर पर किया गया है। यथा—

विद्याकल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि।
ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः ॥६.६

इस श्लोक में उपमालङ्कार में उपमान की खोज ब्रह्मदर्शन से की गई है। उपर्युक्त उच्चता का प्रभावपूर्ण उदाहरण नीचे के श्लोक में देखिये—

त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै।
सामर्थ्यनामिव समुदयः सञ्चयो वा गुणाना—
माविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥६.९

उपमान के संचयन में कहीं-कहीं भवभूति ने भाव-सामञ्जस्य और रूप-साम्य का ध्यान रखा है। यथा—

वाष्पवर्षेण नीतं वो जगन्मंगलमाननम्।
अवश्यायावसिक्तस्य पुण्डरीकस्य चारुताम्॥६.२६

भवभूति ने अलंकारों के प्रयोग द्वारा प्रायः अपनी आख्यानात्मक उक्तियों और वक्तव्यों में बल ला दिया है। नीचे के श्लोक में प्रथम पद में आख्यान है। इस आख्यान की प्रामाणिकता तृतीय और चतुर्थ पाद के दृष्टान्तालङ्कार से प्रत्यक्ष सिद्ध है—

कष्टो जनः कुलधनैरनुरञ्जनीय—
स्तन्नो यदुक्तमशिवं न हि तत्क्षमं ते।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि॥१.१४

उपर्युक्त श्लोक में राम का सीता के प्रति पूज्य भाव अभिव्यक्त है ही।

भवभूति ने अर्थान्तरन्यास के द्वारा सुभाषितों और सूक्तिरत्नों को यथास्थान जड़ दिया है। यथा—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः। ४.११
पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति।४.१२
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः॥६.११
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।६.१२
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति।६.१४
को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तो—
र्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे।७.४

भाषा

जहाँ तक भाषा-प्रयोग का सम्बन्ध है, नाटक में स्त्री आदि पात्रों को प्राकृत बोलना ही चाहिए। ऐसा लगता है कि भवभूति को यह नियम बहुत प्रिय नहीं था। उत्तर-रामचरित में तो बहुत सी स्त्रियों को देवीरूप में प्रस्तुत करके उनसे संस्कृत का प्रयोग कराया गया है। प्रायः प्राकृत भाषा के वक्तव्य छोटे रखे गये हैं। भवभूति की दृष्टि में प्राकृत भाषा का स्थान बहुत उच्च नहीं था। वह इस बात से प्रकट है कि जिन स्त्रियों को संस्कृत बोलने की सुविधा थी, वे तो श्लोकों के माध्यम से अपने भाव प्रायशः व्यक्त

करती हैं, पर प्राकृत के पद्य किसी स्त्री के मुख से निस्सृत नहीं हुए। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि भवभूति प्राकृत को पद्यात्मक भाषा मानने में हिचकते थे।

भवभूति के उत्तररामचरित की उत्कृष्टता पर प्राचीन काल से ही आलोचक मुग्ध रहे हैं। कला की जिस उदात्त पृष्ठभूमि पर भवभूति ने इस नाटक का निर्वाह किया है, वह संस्कृत नाट्य साहित्य में विरले ही दृष्टिगोचर होती है।

आधुनिक आलोचकों के मत

प्रोफेसर विल्सन—Brilliant thoughts occur—the justice and beauty of which are not surpassed in any literature.

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर—Noble and lofty sentiments abound in his work in a measure not to be seen in those of other poets.

भण्डारकर—He shows a just appreciation of the awful beauty and grandeur of Nature, enthroned in the solitudes of dense forests, cataracts and lofty mountains. He has an equally strong perception of stern grandeur in human character and is very successful in bringing out deep pathos and tenderness. He is skilful in detecting beauty even in ordinary things or actions and in distinguishing the nicer shades of feeling. He is a master of style and his cleverness in adapting his words to the sentiment is unsurpassed.

एस॰ के॰ डे—If he is a poet of human passion, having a strong perception of the nobility of human character and its deeply felt impulses and emotions, he is no less a lover of the overwhelming grandeur of nature, enthroned in the solitude of dense forests, sounding cataracts and lofty mountains. If he expresses his sensations with a painful and disturbing intensity and often strays into the rugged and formless, he thereby drinks deep at the very fountain of life; he realises the man's joy, even if he loses the artists' serenity. His unevenness and inequality, even his verbosity and slovenliness, are thus explicable. Bhavabhuti suffers from the excess of his qualities, but the qualities are those of a great, but powerfully sensitive, poetic mind.

प्राचीन आलोचकों के मत—

स्पष्टभावरसा चित्रैः पादन्यासैः प्रवर्तिता ।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ।।[१]

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी ।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ।।[२]

भवभूतेः सम्बन्धाद्भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ।।[३]

सुकविद्वितयं मन्ये निखिलेऽपि महीतले ।
भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्त्रितयोऽन्ययोः ।।[४]

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ।।[५]

रत्नावलीपूर्वकमन्यदास्तामसीमभोगस्य वचोमयस्य ।
पयोधरस्येव हिमाद्रिजायाः परं विभूषा भवभूतिरेव ।।[६]

भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया ।
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः ।।[७]

मान्यो जगत्यां भवभूतिरार्यः सारस्वते वर्त्मनि सार्थवाहः ।
वाचं पताकामिव यस्य दृष्ट्वा जनः कवीनामनुपृष्ठमेति ।।[८]

छन्द-योजना

भवभूति ने उत्तररामचरित में भी विविध प्रकार के बड़े-छोटे छन्दों में बहुसंख्यक श्लोकों को भरा है। पूरे श्लोकों की संख्या २५५ है, जिनमें १६ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं। संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक प्रयुक्त अनुष्टुभ् है, जो ८६ श्लोकों में मिलता है। इनके अतिरिक्त शिखरिणी ३० श्लोकों में, वसन्ततिलका २६ श्लोकों में, शार्दूलविक्री-

---

१. धनपाल—तिलकमञ्जरी—प्रारम्भिक श्लोक ३०
२. क्षेमेन्द्र—सुवृत्ततिलक ३.३३
३. गोवर्धनाचार्य—आर्यासप्तशती १.३६
४. भोजप्रबन्ध श्लोक १६१
५. विक्रमार्क
६–७. जल्हण—सूक्तिमुक्तावली
८. उदयसुन्दरी चम्पू

डित २५ में, मालिनी १६, मन्दाक्रान्ता १३ और हारिणी ९ श्लोकों में प्रयुक्त हैं। छन्दःशास्त्र के मर्मज्ञ जानते हैं कि इन छन्दों के प्रयोग से कवि की प्रौढ़ कवित्व-शक्ति अभिव्यक्त होती है। शिखरिणी और हारिणी छन्द करुण के लिए विशेष प्रभावशाली हैं।

रस

भवभूति की इस रचना में हास्यादि अगम्भीर रसों को स्थान नहीं मिलना साधारण सी बात होती किन्तु हास्य के बिना रामचरित को न पूरा करने ही के लिए मानो कवि ने वसिष्ठ की धार्मिकता से विषण्ण सौधातकि के द्वारा उनका ईषत् परिहास कराया है। बात यह थी कि सौधातकि जिस प्यारी बछिया को चराता था, उसी को दाढ़ीबाबा (वसिष्ठ) महर्षि ने अर्घ-विधि के अनन्तर खा डाला। बस देखिए सौधातकि को क्या कहना है। बछिया मरी तो उसको चराने से छुट्टी मिली और दूसरी छुट्टी मिली शिष्टानध्याय की। सौधातकि कहता है अपने साथी से—

सौधातकि— पढ़ाई से छुट्टी दिलाने वाले इन अनेक प्रकार के दढ़ियल लोगों का भला हो।

दाण्डायन— सौधातके, गुरुओं का यह घोर आदर प्रदर्शित करने का कोई बड़ा कारण अवश्य ही है।

सौधातकि— भो दाण्डायन, इस बड़े सठियाये हुए लोगों के झुण्ड का धुरन्धर नेता अतिथि कौन आया है?

दाण्डायन— धिक्कार है तुम्हारे प्रहसन को। ये वसिष्ठ हैं।

सौधातकि— मैंने तो समझा था कि यह कोई बाघ या भेड़िया आ गया।

दाण्डायन— क्या बकते हो?

सौधातकि— आते ही तो बिचारी कपिला कल्याणी को मड़मड़ा गये।

यह प्रसङ्ग भवभूति के इस नाटक में आवश्यक नहीं था। सम्भवतः हास्य के लिए ही इसे स्थान दिया गया है।

इस नाटक में रस की दृष्टि से करुण का सर्वाधिक महत्त्व है। प्रस्तुत अंक में करुण का प्रवाह अन्य अंकों की अपेक्षा विशेष प्रखर है। भवभूति के शब्दों में—

पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः।

और—

करुणस्य भूतिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी ॥३.४

भवभूति के अनुसार करुण ही सर्वोपरि रस है। उन्होंने वेदान्त दर्शन की पृष्ठभूमि लेकर इस अंक में कहा है कि करुण ही विभिन्न रसों का रूप ग्रहण करता है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा—
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुद्तरङ्गमयान्विकारा—
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ।।३.४७

भवभूति का इस अंक का करुण लौकिक दृष्टि से निर्वासित पत्नी के मानसिक विक्षोभ को प्रशान्ति प्रदान करने के लिए है । सीता ने स्वयं कहा है—

जाणं पच्चएण णिक्कालणपरिच्चाअसल्लिवो वि बहुमवो मह जम्मलाहो ।

तृतीय अंक में करुण की निर्झरिणी को वेग प्रदान करने के लिए कहा गया है कि राम सीता को मरी हुई मानते हैं ।

इस अंक में वात्सल्य रस की निर्झरिणी भी प्रवाहित की गई है । करिकलभक, गिरिमयूर आदि के प्रकरण में इस रस का मनोरम निर्वाह किया गया है । इनके साथ ही लव-कुश का प्रकरण भी व्यञ्जना से अनुबद्ध है । इनके विषय में सीता कहती हैं—मेरे पुत्रों के कुछ-कुछ विरल-कोमल-धवल दर्शन के कारण उज्ज्वल कपोल वाले, सतत मुग्ध काकली और हास्य वाले, बँधे हुए काक शिखण्डक वाले, अमल मुख-कमलों के युग्म आर्यपुत्र के द्वारा नहीं चुम्बित हुए ।

शृंगार और वीर रस का परिपोष भी इस अंक में यत्र तत्र हुआ है । मूर्च्छित राम का स्पर्श करती हुई सीता कहती हैं—

'पर यह मेरा हाथ चिर सद्भाव से सौम्य और शीतल आर्यपुत्र के स्पर्श से दीर्घ-कालीन दारुण सन्ताप को शीघ्र ही दूर करते हुए मानो वज्रलेप से उपनिबद्ध किया हुआ पसीने से लथपथ निःसह और विपर्यस्त वेपनशील और अवश जैसा हो गया है । इसी अंक में अदृश्य सीता ने राम का जो स्पर्श किया तो—

सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी
जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा ।
मरुन्नवाम्भः प्रविधूतसिक्ता
कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ।।३.४२

शृंगाररस का दूसरा उत्कृष्ट उदाहरण है—

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद्गोदावरी सैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ।।३.३७

श्रृंगाररस की निष्पत्ति प्रासङ्गिक वृत्त के करिकलभक के कान्तानुवृत्तिचातुर्य में भी स्पष्ट है—

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादिताः
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूष सङ्क्रान्तयः।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुन-
र्यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥३.१६

वीररस की निष्पत्ति करिकलभक के द्विरदपति से भिड़न्त के प्रकरण में होती है

वध्वा सार्धं पयसि विहरन् सोऽयमन्येन दर्पा—
दुद्दामेनद्विरदपतिना सन्निपत्याभियुक्तः ॥३.६

रौद्र रस की निष्पत्ति जटायु और रावण के युद्धसम्बन्धी संस्मरणों में है। यथा—

पौलस्त्यस्य जटायुषा विघटितः कार्ष्णायसोऽयं रथ—
स्ते चैते पुनः पिशाचवदनाः कङ्कालशेषाः खराः।
खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिरितः सीतांचलन्तीं वह—
न्नन्तर्व्याकुलविद्युदम्बुद इव द्यामभ्युदस्थादरिः ॥३.४३

ऊपर के निदर्शन से स्पष्ट है कि इस तृतीय अंक में यद्यपि करुण का ही एकमात्र क्षेत्र है, तथापि पूर्वानुस्मृति के प्रकर्ष से श्रृंगार, वात्सल्य, वीर, रौद्र आदि रसों की सहचारिता सम्भव हुई है। यही देखकर भवभूति ने तमसा के मुख से कहलवाया है—

अहो संविधानकम्
एको रस करुण एव निमित्तभेदात् आदि।

दोष

भवभूति के दोष विदेशी आलोचकों ने प्रायः गिनाये हैं। उनके इस सम्बन्ध के मतों के तथ्यातथ्य का निरूपण किया जा चुका है। हम यहाँ कुछ ऐसे दोषों की चर्चा करेंगे, जो पात्रों की स्थिति और अवस्था के अनुकूल नहीं लगते। पंचम अंक के अन्त में लव के द्वारा चन्द्रकेतु के चाचा राम की निन्दा करवाना ठीक नहीं है।

षष्ठ अंक में बारह वर्ष के ब्रह्मचारी कुश का राम से यह कहना कि

विना सीता देव्या किमिव हि न दुःखं रघुपतेः
प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति ॥६.३०

वास्तव में पाँचवें अंक के चतुर्थ और पंचम श्लोक के अनुसार कुश शिशु था। उस शिशु से यह कहलवाना कि पत्नी के मर जाने पर संसार अरण्य हो जाता है—अनुचित सा लगता है।

राम का शिशु और ब्रह्मचारी कुश से सीता की शरीरसौष्ठवोन्मादि उत्कृष्टता का निदर्शन करना नितान्त भ्रान्ति है। बाप-बेटे की बातचीत का स्तर तो दूसरा होना चाहिए था ही—एक शिशु ब्रह्मचारी से मर्यादा पुरुषोत्तम राम का इस कामुकता के स्तर पर चर्चायें करना सापवाद है।

भवभूति के अन्य दोष यूरोपीय आलोचना-सरणि पर गिनाये जाते हैं। कथावस्तु विन्यास के विषय में भवभूति निपुण नहीं थे। नाटकीय वस्तु-विन्यास में काल-सीमा का ध्यान नहीं रखा गया है। पहले और दूसरे अङ्क में १२ वर्ष का सुदीर्घ अन्तराल है। भवभूति ने विशेषतः गद्य भाग को लम्बे समासों से सजाया है। ऐसी समास-मालिका नाट्योचित नहीं है। गद्य और पद्य भागों को एक ही नाटक में भी पुनः पुनः प्रयोग करने में भवभूति को कोई हिचक नहीं दिखाई देती। करुण रस की धारा कहीं-कहीं इतनी गहरी हो गई है, प्रेक्षक या पाठक उसमें डूब-सा जाता है। भवभूति पत्थर को भले रुलाते, पर राम को इतना रुलाना कहाँ तक उचित है।[1]

उत्तररामचरित की प्रस्तावना में जो कथावस्तु का अंश आ गया है, वह वास्तव में एक शुद्ध विष्कम्भक में अलग से रखा जाना चाहिए था। प्रस्तावना में कथावस्तु का ईषत्प्रपञ्च भी शास्त्र की दृष्टि से समीचीन नहीं है।

भवभूति ने सीता के निर्वासन के समय कौसल्या और वसिष्ठ आदि को ऋष्यशृङ्ग के आश्रम में जाने का जो कल्पित कथा-संयोजन किया है, वह पूर्णतया अस्वाभाविक प्रतीत होता है। सीता का जिस दिन निर्वासन हुआ, उसी दिन कौसल्या और वसिष्ठ आदि गये और उसी दिन लक्ष्मण के द्वारा गंगा तट पर छोड़ी जाने पर उसे पुत्र-प्रसव हुआ। भला जिस दिन किसी बहू को पुत्र होने को हो, उसी दिन सास १२ वर्ष के लिए यज्ञ में भाग लेने बाहर चली जायेगी? इस सम्बन्ध में एक और विडम्बना है दोहद की। जिस दिन प्रसव होने को होता है, उस दिन प्रसव पीड़ा होती है न कि दोहद। उपर्युक्त दोष का परिहार यही कह कर किया जा सकता है कि वन में छोड़ी जाने पर असहायावस्था में संभ्रम के कारण सीता को उचित समय से दो-तीन मास पहले ही प्रसव हुआ। पर भवभूति ने इस प्रकार की कोई बात कही नहीं है।

दोहद के अनुसार सीता राम के साथ वन में जाना चाहती थी, किन्तु लक्ष्मण उसे अकेले ही ले गये। सीता ने राम को साथ चलने के लिए क्यों नहीं रथ पर बैठते समय बुलाया? यह प्रश्न है तो पर कुछ बहुत सटीक नहीं। नाटककार को सभी सन्देहों और वितर्कों को दूर करते हुए अपनी कृति को समाप्त कर लेना और उसे कलात्मक रूप भी दे लेना असम्भव होता है।

---

१. एषोऽस्मि कार्यवशादायोध्यकस्तदानीं संवृतः आदि से।

सातवें अंक के अन्त में शत्रुघ्न का लवणेश्वर को मार कर लौटने में भी कुछ लोगों को असामञ्जस्य दिखाई देता है। क्या वह युद्ध १२ वर्ष तक होता रहा? इस आक्षेप के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि शत्रुघ्न ने १२ वर्षों तक युद्ध नहीं किया, अपितु लवण को मार कर मथुरा में १२ वर्षों तक राज्य किया। भवभूति ने तो केवल इतना ही कहा है उत्खात लवणो मधुरेश्वरः प्राप्तः। इसमें 'मधुरेश्वर' पद से स्पष्ट व्यक्त है कि १२ वर्ष युद्ध-काल मानना भ्रान्ति मात्र है।[१]

---

१. उपर्युक्त कतिपय आक्षेपों के विवरण के लिए देखिये शारदारंजन राय के उत्तर-रामचरित की भूमिका।

अध्याय १३

वेणीसंहार

भट्टनारायण के काल के विषय में हमारा प्रधान अवलम्बन है काव्यालंकारसूत्र में वामन का उल्लेख। वामन काश्मीर के राजा जयापीड के मन्त्री थे और राजतरंगिणी के अनुसार जयापीड का राज्यकाल है ७७६-८१३ ई०। वामन इसी के समकालीन हैं। इनके उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि ८०० ई० के पूर्व ही भट्टनारायण प्रसिद्ध हो चुके थे।

समय-निर्धारण

बंगाल के ठाकुर-परिवार में संरक्षित परम्परा के अनुसार भट्टनारायण आदिशूर नाम के नरेश के द्वारा वैदिक धर्म के प्रचारार्थ बंगाल में बुलाये जाने वाले पाँच ब्राह्मणों में से एक हैं। स्टेनकोनो के कथन के अनुसार आदिशूर मगध के गुप्तवंशीय राजकुल में उत्पन्न हुआ था और इसके अनसार आदिशूर को आदित्यसेन माना गया, जिसका काल ६७१ ई० है। रमेशचन्द्र मजूमदार का कथन है कि ६७५ ई० के लगभग माधव गुप्त का पुत्र आदित्यसेन शक्तिशाली होकर स्वतन्त्र बन गया था। यदि भट्टनारायण का सम्बन्ध इस आदिशूर से माना जाय तो उनका काल सातवीं शती के उत्तरार्ध में ठहरता है।

विलसन महोदय का कथन है कि वेणीसंहार की रचना आठवीं या नवीं शती के लगभग हुई।

प्राचीन परम्परा में एक श्लोक मिलता है :—

> वेदबाणाङ्कशाके तु नृपोऽभूच्चादिशूरकः।
> वसुकर्माङ्कके शाके गौडे विप्राः समागताः॥

इसके अनुसार आदिसूर ६५४ शताब्द यानी ७३२ ईसवी में राजा हुआ और उसी ने विप्रों को बंगाल में बुलाया। भट्टनारायण उन्हीं में से एक थे।

इस प्रकार सभी मतों की छानबीन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदिशूर और आदित्यसेन एक नहीं हैं। बंगाल में पालवंश के अभ्युदय के पूर्व आदिशूर हुए। पालवंश का अभ्युदय ७५०-६० ई० के लगभग हुआ। इसके पहले होने वाले आदिशूर भट्टनारायण के आश्रयदाता थे। उनके समकालीन होने से भट्टनारायण का

काल भी लगभग अष्टम शती का पूर्वार्द्ध निश्चित होता है। ७५० ई० तक इनकी प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वामन के उल्लेखानुसार भी भट्टनारायण का यही काल सिद्ध होता है।

कवि-परिचय

वेणीसंहार के रचयिता भट्टनारायण का दूसरा नाम या उपाधि मृगराजलक्ष्म थी। बङ्गाल के ब्राह्मणवंशीय अनुश्रुतियों के अनुसार भट्टनारायण उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों में से थे, जिन्हें बङ्गराज आदिशूर ने उस प्रदेश में आर्य धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए बुलाया था। पर इस आदिशूर राजा का भी कोई इतिहास नहीं मिलता।

वेणीसंहार के देखने से स्पष्ट है कि भट्टनारायण वैष्णव सम्प्रदाय के रसिक भक्त कवि थे। वेणीसंहार के भरत वाक्य से ज्ञात होता है कि उनको किसी सहृदय राजा का आश्रय प्राप्त था। मृगराज की उपाधि से उनकी अपनी निजी शूरता अभिव्यक्त होती है।

वेणीसंहार

वेणीसंहार की कथा में महाभारत का युद्ध वर्ण्य विषय है। युद्ध के पहले सन्धि-प्रस्ताव लेकर श्रीकृष्ण का दुर्योधन के पास जाना भीम को असह्य हो उठा था, पर सन्धि नहीं हुई। दुर्योधन कृष्ण को ही बाँधना चाहता था। कृष्ण तो विराट् स्वरूप दिखा कर सबको मूर्च्छित करके निकल आये। भीमसेन द्रौपदी से युद्ध के लिए छुट्टी लेते हैं। इधर दुर्योधन अपनी पत्नी भानुमती से विदाई लेते हैं। युद्ध में असंख्य वीर मारे गये। दुर्योधन घायल हुआ और द्रौपदी का चीर-हरण करने वाले दुःशासन को तो भीम ने मार ही डाला। कर्ण की मृत्यु का लम्बा संवाद है। धृतराष्ट्र के समक्ष भीम अपने अल्हड़पन से भरी वीरता का वर्णन करता है। अन्त में दुर्योधन भी लड़ते-लड़ते मारा जाता है। उसका पक्ष लेकर चार्वाक नामक कौरव पक्षपाती युधिष्ठिर के पास आकर भीम और अर्जुन के मारे जाने की झूठी खबर देता है। युधिष्ठिर और द्रौपदी मरने को तैयार हैं। उसी समय भीम आ जाता है।

कथा-परिचय

प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में भीम सन्धि-प्रस्ताव को सुनकर क्रोधित हो जाता है। वह कौरवों के द्वारा किए गये अपराधों को सुनकर उनसे युद्ध करना चाहता है और प्रतिज्ञा करता है कि द्रौपदी के केश का प्रसाधन सुयोधन के रक्त से होगा। इसी समय द्रौपदी आ जाती है और भीम का क्रोध बढ़ जाता है। नेपथ्य से सन्धि-प्रस्ताव की असफलता सुनकर भीम प्रसन्न होता है और रण-दुन्दुभि बज उठती है।

द्वितीय अङ्क में दुर्योधन की पत्नी भयंकर और अमंगलसूचक स्वप्न देखती है और उसके परिहारार्थ सूर्य की उपासना करती है। प्रारम्भ में दुर्योधन भानुमती के स्वप्न

को सुनकर विचलित हो जाता है, परन्तु यथार्थ जानकर प्रसन्न होकर प्रेमालाप करता है। जयद्रथ की माता प्राकर अर्जुन की प्रतिज्ञा बतलाती है। दुर्योधन युद्ध के लिए चला जाता है।

तृतीय अंक के प्रारम्भ में प्रवेशक है, जिसमें मारे गये कौरवों की सूचना है। साथ ही द्रोणाचार्य पर किए गये अत्याचार का परिचय कराया गया है। द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा अपने पिता की धोखा-धड़ी से की हुई नृशंस हत्या को नहीं सह सका और क्रोधित होकर अपनी गर्जनाएँ सुनाता है, पृथ्वी को अकेशव और 'अपाण्डव' कर देने की सोचता है। फिर कर्ण और अश्वत्थामा का विवाद है। इसी बीच दु:शासन का समाचार मिलता है और सब चले आते हैं।

चतुर्थ अंक में एक आख्यान है, जिसमें कर्ण-पुत्र वृषसेन और अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। वृषसेन मारा जाता है। कर्ण अपने रक्त से एक पत्र दुर्योधन को लिखता है, जिसमें वह सहायता माँगता है। दुर्योधन युद्ध-भूमि में जाने ही वाला था कि उसे समाचार मिलता है कि उसके माता-पिता और सञ्जय उसे देखने आये हैं।

पाँचवें अङ्क में धृतराष्ट्र, गान्धारी और संजय दुर्योधन को सन्धि करने के लिए प्ररित करते हैं, किन्तु वह नहीं मानता। इधर अर्जुन और भीम वहीं आ जाते हैं। भीम और दुर्योधन में वाक्कलह हो उठता है। अर्जुन उन्हें शान्त करता है और युधिष्ठिर के बुला भेजने पर वे चले जाते हैं। इसी समय अश्वत्थामा आकर दुर्योधन को सान्त्वना प्रदान करता है।

छठें अङ्क में रण-स्थल से दुर्योधन भागकर सरोवर में छिप जाता है। भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण उसकी खोज करते हैं। पाञ्चालक सुनाता है कि भीम की प्रतिज्ञा पूरी हो गयी। परन्तु कथानक एक नया मोड़ ले लेता है। दुर्योधन का मित्र राक्षस-मुनि युधिष्ठिर को सूचना देता है कि गदायुद्ध में भीम मारा गया। बन्धु-मरण सुन कर युधिष्ठिर और द्रौपदी जल-मरने को उद्यत थे। तभी भीम आता है। परन्तु उसे दुर्योधन समझकर युधिष्ठिर शस्त्र धारण करते हैं। अन्त में सन्देह दूर हो जाता है। भीम दुर्योधन के रक्त से द्रौपदी की वेणी सँवारता है। श्रीकृष्ण और अर्जुन आ जाते हैं और भरतवाक्य के साथ यह नाटक समाप्त हो जाता है। प्रथम अङ्क में भीम की गर्जना है, द्वितीय में दुर्योधन का प्रेम-व्यापार। तृतीय से युद्ध-भूमि की विभीषिका, वध, रक्तपात, कलह, वाग्युद्ध मिलना प्रारम्भ हो जाता है। तृतीय अंक दो महारथियों की वीरता का परिचायक है। चतुर्थ अंक युद्ध-स्थल का वर्णन है। पञ्चम अंक में निराशा का वातावरण है और छठें में विजयश्री का वर्णन है।

नाटकीय संविधान

नाटकीय संविधान के नियमों के अनुसार वेणीसंहार सफल कृति है। सन्धियों, अर्थ-प्रकृतियों आदि का निरूपण हुआ है। पताका-स्थानकों का भी सफल प्रयोग हुआ

है। वेणी संहार नाटक की कथावस्तु द्रौपदी की वेणी के संहार से सम्बन्धित है। अतः नाटक का फल द्रौपदी का केश संयमन-कार्य है। युधिष्ठिर का क्रोध बीज नामक अर्थप्रकृति है। युधिष्ठिर का क्रोध ही वेणीसंहार रूपी कार्य का सम्पादन करने में समर्थ हुआ है। प्रथम अङ्क के कतिपय श्लोकों में "क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते" यह बीज उपन्यस्त किया गया है। प्रथम अंक में मुख्य संधि है। द्वितीय अङ्क से यह बीज फैलने लगता है और विन्दु तक प्रसारित है। द्वितीय अङ्क में 'प्रतिमुख' सन्धि की योजना है। यहीं से कौरवों के विनाश की सूचनाएँ मिलती हैं। तृतीय अङ्क से 'गर्भसन्धि' प्रारम्भ होकर पाँचवें अङ्क तक चलती है। भीम को यथार्थ रूप में पहचानने के पूर्व तक 'अवमर्श' सन्धि चलती है, क्योंकि युधिष्ठिर का सन्देह पहचानने से दूर हो जाता है। यहाँ से निर्वहण सन्धि प्रारम्भ होकर अन्त तक चलती है। इस प्रकार प्रथम अङ्क में मुख, द्वितीय में प्रतिमुख, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम में 'गर्भ' और षष्ठ अङ्क में अवमर्श और निर्वहण सन्धियाँ प्रयुक्त हुई हैं।

पताका स्थानकों के द्वारा भविष्य में होने वाली घटनाओं की सूचना दी गई है। यथा, दुर्योधन अपनी जाँघों में भानुमती को बैठने के लिए कह रहा है। उसी समय ही कञ्चुकी आकर कहता है 'भग्नं भग्नम्'। दर्शक 'भग्न' का सम्बन्ध उसके 'ऊरुयुग्म' से जोड़ लेता है।

यथा—

राजा—तत्किमित्यनास्तीर्णकठिनशिलातलमध्यास्ते देवी यतः

'लोलांशुकस्य पवनाकुलितांशुकान्तं
त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य।
अध्यासितुं तव चिरं जघनस्थलस्य
पर्याप्तमेव करभोरु! ममोरुयुग्मम् ॥२.२३

(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तः)

कञ्चुकी—देव! भग्नम् भग्नम्

राजा—केन?

कञ्चुकी—देव! भीमेन।

राजा—कस्य?

कञ्चुकी—भवतः

राजा—आः! किं प्रलपसि?

भानुमती—आर्य, किमनर्थं मन्त्रयसे!

राजा—धिक्प्रलापिन्! वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः।

यहाँ प्रेक्षक तुरन्त 'भग्नम्' का अन्वय 'ऊरुयुग्मम्' से कर लेता है। यह तो आगे चलकर ज्ञात होता है कि रथकेतन भग्न हुआ है। इस प्रकार की योजना से कौतूहल जागरित होता है। भावी घटनाओं की सूचना करने के लिए भानुमती के स्वप्न की योजना है। सौ सर्प ही कौरव हैं और नकुल भीम है। भट्टनारायण को नाटकीय संविधान में पूर्ण सफलता मिली है। कथानक को रोचक बनाया गया है, परन्तु नाटकीय कला शिथिल पड़ गई है।

रसोन्मेष

'वेणीसंहार' वीर रस प्रधान नाटक है। संस्कृत के नाट्य-साहित्य में इसके समान वीर रस का परिपाक अन्यत्र नहीं मिलता। प्रथम अंक से ही वीर रस की धारा प्रवाहित होने लगती है जो अजस्र गति से अन्त तक प्रवाहित होती है। इस नाटक की सर्वाधिक लोकप्रियता वीर रस के कारण ही है। प्रथम अङ्क में भीम की उक्तियों में वीररस की उत्कृष्टता का पूर्ण परिचय मिलता है। यथा—

> चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
> सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
> स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
> रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥१.२१

'हे देवि! यह भीम शीघ्र ही अपनी फड़कती हुई भुजाओं से घुमाई गई कठोर गदा के आघात से दुर्योधन की जाँघों को चूर्ण करके, उसकी दोनों जाँघों को तोड़कर उसके गाढ़े चिकने खून से रँगे हाथों से तुम्हारे बालों को सँवारेगा'।

द्वितीय अङ्क में दुर्योधन ने अपनी बलशाली सेना का वीर रस पूर्ण (२-२७) वर्णन किया है। यहाँ भी वीर रस की वृत्ति दर्शनीय है। दुर्योधन का पराक्रम साकार हो उठा है। तृतीय अङ्क में वीर रस का पूर्ण परिपाक अश्वत्थामा और कर्ण की उक्तियों में हुआ है। अश्वत्थामा अपने पिता के मरण के प्रतिशोध की भावना से वीरोत्साह को प्रकट करता हुआ कहता है—

> 'तातं शस्त्रग्रहणविमुखं निश्चयेनोपलभ्य
> त्यक्त्वा शंकां खलु विदधतः पाणिमस्योत्तमाङ्गे।
> अश्वत्थामा करधृतधनुः पाण्डुपाञ्चालसेना
> तूलोत्क्षेपप्रलयपवनः किं न यातः स्मृतिं ते॥२.२३

'पिता शस्त्र रहित हैं' इस बात को भली भाँति जानकर भी निःशङ्क भाव से उनके शरीर पर हाथ लगाते हुए तुझे क्या हाथ में धनुष धारण किए हुए अश्वत्थामा,

जो पाण्डव और तुम्हारी सेनारूपी रुई की राशि को उड़ा देने में प्रलयकालीन झञ्झावात के समान है, तुझे स्मरण नहीं आया क्या ? इसी प्रकार अन्यत्र भी अश्वत्थामा और कर्ण की गर्वोक्तियों में भी वीर रस अभिव्यक्त हुआ है।

चतुर्थ अङ्क में गद्य का वीर रस दर्शनीय है। वास्तव में इस अङ्क में कर्ण के पुत्र कुमार वृषसेन और अर्जुन के पराक्रमों का वर्णन वीर रस की अत्यधिक अनुभूति के लिये है। पञ्चम और षष्ठ अङ्कों में वीर रस की उक्तियाँ हैं। वेणीसंहार में वीर रस की अजस्र धारा प्रवाहित होती है।

रौद्र-रस वीर-रस का सहयोगी है। रौद्र-रस की भी नाटक में अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। भीम, दुर्योधन, कर्ण और अश्वत्थामा आदि की उक्तियों में रौद्र-रस की झलक मिलती है। तृतीय अङ्क रौद्र-रस से भरा है। अश्वत्थामा कहता है—

> यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां
> यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
> यो यस्तत्कर्म साक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
> क्रोधान्धस्य तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥३.३२

"पाण्डवों की सेना में जिसे अपने बाहुबल का अभिमान है, जो शस्त्रधारण में वीर है, पाञ्चाल वंश में जो शिशु, युवा और बूढ़े अथवा गर्भस्थ बालक हैं, मेरे युद्ध-स्थल में रहने पर जो मेरा विरोधी है और जो मेरे पिता पर किये गये कर्म का साक्षी है, उन सबके लिए मैं क्रोधान्ध अश्वत्थामा काल का भी काल हूँ।"

कितनी सुन्दर पदावली प्रयुक्त हुई है ? संग्राम-वर्णनों में बीभत्स रस का संचार हुआ है। वर्णनात्मक बीभत्स रस की चरम सीमा तृतीय अङ्क में राक्षस और राक्षसी के संवाद में है। यह वर्णन अत्यधिक कुरुचिपूर्ण हो गया है।

द्वितीय अंक में शृंगार रस का समावेश किया गया है। वास्तव में इस शृंगार रस का स्थान वीर रस के नाटक में 'अकाण्डे प्रथमम्' है। शृंगार के सम्भोग पक्ष (२.१८) का वर्णन अधिक है। करुण रस का वर्णन द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ अंक में हुआ है। भानुमती की दशा, अश्वत्थामा का रुदन, दुर्योधन का विलाप आदि में करुण रस की पूर्ण परिणति हुई है। धृतराष्ट्र के कथन (५.५) में अत्यधिक निराशा और वेदना है, जिससे सहज में ही करुण रस की अनुभूति हो जाती है।

सेना-पलायन और भीम में दुर्योधन की भ्रान्ति के समय भयानक रस और कुछ स्थलों में शान्त रस (१.२३) की अभिव्यक्ति हुई है। हास्य रस का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार वीर रस-प्रधान नाटक में अन्य रसों का परिपाक यथोचित हुआ है।

प्रकृति-चित्रण

प्रस्तावना में कवि ने प्रकृति के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की है। द्वितीय अङ्क में प्रकृति का चित्रण महत्त्वपूर्ण है। बालोद्यान में प्रभातकाल की शोभा रमणीय है—

प्रालेयमिश्रमकरन्दमरालकोशैः
पुष्पैः समं निपतिता रजनीप्रबुद्धैः।
अर्कांशुभिन्नमुकुलोदरसान्द्रगन्ध-
संसूचितानि कमलान्यलयः पतन्ति ॥ २.७

"विभावरी में विकसित होने वाले तथा नीहारकण मिश्रित पुष्परस के कारण अधखुले कोषशाली कुमुदपुष्पों की पतन-दशा के साथ-साथ भ्रमर उनका परित्याग कर सूर्य की किरणों से विकसित कमल-कलिका के भीतर से निकलते हुए गन्ध से परिचेय कमलों पर टूट रहे हैं।"

प्रकृति का मानवरूप कतिपय स्थलों पर निरूपित है। प्रचण्ड प्रकृति का वर्णन युद्ध स्थलों में विशेषकर चतुर्थ अङ्क में है। इस प्रकार भट्टनारायण प्रकृति के दोनों पक्षों—कोमल और प्रचण्ड के वर्णन में सिद्ध-हस्त हैं।

पात्रोन्मीलन

पात्रोन्मीलन में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। उसने महाभारत के पात्रों को अनेक गुणों से मण्डित किया है। प्रत्येक पात्र के कथनों और संवादों में उसके व्यक्तित्व की झलक मिलती है। वह अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ही सभी कार्य-कलाप एवं संभाषण करता है। नाटककार ने अपनी तूलिका से प्रत्येक पात्र में उसके गुणों का समावेश किया है।

भीम

भीम का चरित्र सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है। वह अत्यधिक वीर है परन्तु उसकी वीरता की गम्भीरता कई स्थलों पर गरिमा से रहित प्रतीत होती है। वहाँ पर उसकी उद्दण्डता और उच्छृङ्खलता का ज्ञान होता है। वह अपने पुत्रों के वध से व्याकुल और निराश धृतराष्ट्र और गान्धारी से कहता है—

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति ॥ ५.२८

इसमें भीम का औद्धत्य स्पष्ट है। सर्वत्र भीम की भीषणता ही दिखलाई गई है। प्रत्येक अंक में भीम की गर्जना सुनाई पड़ती है। उसमें दृढ़ता है। वह समर्थ, उत्साही

एवं पराक्रमी है। वह द्रौपदी का अपमान नहीं सहन कर सकता। वह समय आने पर अपने गुरुओं की आज्ञाओं का भी उल्लंघन कर सकता है।

कुछ आलोचक भीम को नाटक का नायक मानते हैं, परन्तु जिन गुणों की आवश्यकता एक नाटक के नायक में होनी चाहिए, उनका भीम में सर्वथा अभाव दिखाई देता है। वेणीसंहार की प्रधान घटना वेणीसंयमन भीम से अवश्य सम्बद्ध है। भीम प्रतिज्ञा भी करता है और उसके लिए आदि से अन्त तक जागरूक रहता है। तृतीय और चतुर्थ अंकों में वह प्रेक्षकों के सामने नहीं रहता, फिर भी उसकी सूचना मिलती है। उसका क्रोध ही ऐसा है कि वह सब कुछ कर सकता है। नाटक में भीम प्रधान पात्र होते हुए भी नायक नहीं है। भीम दर्पोन्मत्त एवं अशिष्ट है। वह व्यवहार से अनभिज्ञ है। उसमें शालीनता नहीं। वह भाई की आज्ञाओं का उल्लंघन और धृतराष्ट्र का अपमान कर सकता है। भीम में गुरुता नहीं। वह धीरोदात्त नहीं। वह अत्यधिक भीषण है। प्रक्षकों के सामने रक्त-पान करने वाला श्रद्धा का पात्र नहीं बनता। उसमें स्वस्थ चिन्तन का अभाव है। समय आने के पूर्व ही वह क्रोधपूर्वक प्रतिज्ञा कर बैठता है। भीम स्वयं अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में असमर्थ है। गुरुजनों का अपमान करने में उसे तनिक भी कष्ट नहीं हो सकता। ऐसी बातें उसे नाटक के नायक बनने के योग्य नहीं रहने देतीं। उसमें महासत्त्व, गम्भीरता, क्षमा, अविकत्थन आदि गुणों का अभाव है। फल की अप्राप्ति भीम के नायक न होने का प्रधान लक्षण है।

दुर्योधन

दुर्योधन का चरित्र स्वार्थपरायणता और विलासप्रियता से पूर्ण है। शत्रु-द्वेष उसमें कूट-कूट कर भरा है। उसे अपने सैन्य पर भरोसा है। वीरता उसका प्रधान गुण है। अचेत अवस्था में भी वह युद्धस्थल में ही रहने का अभिलाषी है। आत्म-विश्वास की अतिशयता उसकी प्रधान विशेषता है। महाभारत की अपेक्षा दुर्योधन का चरित्र वेणीसंहार में अधिक अच्छा चित्रित किया गया है। कुछ आलोचक दुर्योधन को नायक मानते हैं परन्तु भीम के समान ही उसमें नायकोचित गुण नहीं है। कंचुकी की उसके सम्बन्ध में उक्ति है—

स्त्री-स्वभावेऽपि वर्तमाना वरं भवती, न पुनर्महाराजो योऽप्यमुद्यतेषु बलवत्सु...... अद्याप्यन्तःपुरविहारसुखमनुभवति।

ऐसे वक्तव्य उसे उच्च स्थान से गिरा देते हैं।

द्वितीय अङ्क में एक ओर युद्ध चल रहा है और दूसरी ओर दुर्योधन काम-क्रीड़ा में आसक्त है। प्रेक्षकों के मन में बालक अभिमन्यु के मारे जाने पर दुर्योधन की प्रसन्नता उसके ति घृणा-सर्जन करती है। वह अपनी कामुकता का परिचय अपनी व्रतशीला

पत्नी के व्रत को भङ्ग करके देता है। दुर्योधन विकत्थन अधिक है। उसकी वीरता का मौखिक रूप से ही प्रदर्शन हुआ है। उसकी हेकड़ी भीष्म, द्रोण और कर्ण पर अवलंबित है। एक वीर युद्ध-स्थल से भागकर जल में छिपकर अपना प्राण नहीं बचाना जानता। अन्त में वह डरपोक अधिक है—

अपि नाम भवेन्मृत्युर्न च हन्ता वृकोदरः। ४·६

'यदि मेरी मृत्यु हो भी तो भीम के हाथ न हो।'

यह कथन दुर्योधन को वीरों की पंक्ति से गिरा देता है।

उसमें स्वस्थ गुणों का अभाव-सा है। कर्ण की बातों पर बिना सोचे विश्वास कर वह अश्वत्थामा का अपमान करता है। निराश होने पर दुर्योधन भीरु बन गया, अन्यथा सरोवर में छिपकर अपना प्राण न बचाता। वह अपने माता-पिता एवं गुरु की अवज्ञा करने लगा :—

(सक्रोधं) शृणुमस्तावद् भवत एव प्रज्ञावतोऽस्मान् प्रति प्रतिरूपमुपदेशम्।

दुर्योधन मारा गया, नाट्यशास्त्र के अनुसार नायक का वध किसी प्रकार भी नहीं होना चाहिए। यदि दुर्योधन को नायक मानें तो यह सबसे बड़ी आपत्ति आ जाती है। उसे फल की प्राप्ति नहीं होती। अतः दुर्योधन नायक नहीं है, प्रतिनायक है।

दुर्योधन में कतिपय गुण हैं, जो वास्तव में उसे ऊँचा उठा देते हैं। वह प्रसन्नचेता है (२.८)। उसे अपनी वीरता पर गर्व है। अपराध करने पर गुरुओं के सामने जाने में लज्जा का अनुभव करता है (४·१५)। अपने को छोटा समझता है (५.२)। राजनीति जानता है (५.६) और पराक्रमी है। क्षत्रियधर्म की मर्यादा का वह उल्लंघन नहीं करता। उसमें मित्रता कूट-कूट कर भरी है। कर्ण का दुःखद समाचार सुनकर वह कहता है—

मामुद्दिश्य त्यजन्प्राणान् केनचिन्न निवारितः।
तत्कृते त्यजतो बाष्पं किं मे दीनस्य वार्यते ॥५.१७

"मेरे लिए प्राणोत्सर्ग करते हुए (कर्ण को) किसी ने नहीं रोका। उसके लिए अश्रुपात करते हुए मुझ बेचारे को क्यों रोका जाता है"।

युधिष्ठिर

युधिष्ठिर नाटक के नायक हैं। यद्यपि नायक के सभी गुणों का पूर्ण विकास युधिष्ठिर में नहीं पाया जाता, परन्तु उनका बीज-रूप अवश्य मिलता है। वे गम्भीर,

अविकत्थन, स्थिर, दृढ़व्रत, अहंकारहीन आदि विशेषणों से युक्त हैं। सत्य की रक्षा, शान्ति की स्थापना, विश्व-मैत्री का सन्देश उनके सिद्धान्त हैं। फल की प्राप्ति युधिष्ठिर को होती है। वे निःसन्दिग्ध नायक हैं।

नाटक में युधिष्ठिर की क्रोधाग्नि ही कथावस्तु का बीज है। भीम का क्रोध युधिष्ठिर के क्रोध की अपेक्षा रखता है।(१.२४) भीम चाहता है कि युधिष्ठिर का क्रोध प्रज्वलित हो।

युधिष्ठिर की प्रशंसा शत्रु भी करते हैं। वे भी अश्वत्थामा के प्रशंसक हैं। वे अजातशत्रु हैं। (३·१५) धृतराष्ट्र को विश्वास है कि युधिष्ठिर क्षमा के अगाध सागर हैं—

वत्स एवं गतेऽपि मत्प्रार्थनया किन्न करोति युधिष्ठिरः?
अन्यच्च सर्वमेवापकृतं नानुमन्यते?

युधिष्ठिर के हृदय में भाइयों के प्रति अगाध प्रेम है। उनकी प्रतिज्ञा है—**नाहमेकस्यापि भ्रातुर्विपत्तौ प्राणान् धारयामि**। इतना ही नहीं, वे भीम के निधन को सुनकर मरने के लिए उद्यत हो जाते हैं। इससे उनका भ्रातृ-प्रेम चरम सीमा पर प्रतीत होता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार साधारणतः अधिकारी फल का भोक्ता होता है और फल का भोक्ता ही नाटक का नायक होता है। वेणीसंहार नाटक के दो फल हैं—शत्रु-संहार और राज्यप्राप्ति। इन दोनों के भोक्ता युधिष्ठिर हैं। नाटकों की एक परिपाटी है कि नायक ही प्रायः भरतवाक्य कहता है। इस नाटक में भरतवाक्य के वक्ता युधिष्ठिर हैं। अतः युधिष्ठिर को नायक मानना समीचीन है। युधिष्ठिर को काव्यशास्त्रमर्मज्ञ विश्वनाथ नायक मानते हैं।

षष्ठ अंक में युधिष्ठिर के अनेक गुणों का संकेत किया गया है। उनमें राजनीति-निपुणता है। वे परिजनों तक को प्रसन्न रखते हैं। 'गच्छ प्रियाख्यापकं पाञ्चालकं पारितोषिकेण परितोषय'। यह वाक्य उनकी परिजन-प्रियता प्रकट करता है। युधिष्ठिर कम पराक्रमी नहीं हैं। इनका यह कथन इस बात का प्रमाण है—

पाञ्चालि, न भेतव्यम्, । न भेतव्यम् (ससंभ्रमम्) कः कोऽत्र भोः! सनिषङ्गं मे धनुरुपनय!

दुरात्मन्! दुर्योधन, हतक आगच्छागच्छ! अपनयामि ते गदाकौशलसंभृतं भुजदर्पं शिलीमुखसारेण। अथवा बाहुयुद्धेनैव दुरात्मानं गाढमालिङ्ग्य ज्वलनमभिपातयामि।

युधिष्ठिर की नम्रता है—'अहं तु पुरुषसाधारणया बुद्ध्या संतुष्यामि' । वे क्षत्रियत्व की रक्षा करते हैं ।(६.२८)भाई के लिए प्राण त्याग कर ही वे सुखी रहना चाहते हैं । (६.१४) । अतः युधिष्ठिर का चरित्र प्रभावशाली और आकर्षक है ।

कर्ण और अश्वत्थामा अन्य प्रमुख पात्र हैं । कर्ण में वीरता, सहनशीलता और स्वामिभावना भरी है । अश्वत्थामा में पितृभक्ति की प्रधानता है । कर्ण का चरित्र विशेष अच्छा नहीं बन पड़ा है । दोनों के अतुलनीय पराक्रम का वर्णन है । दोनों अभिमानी हैं ।

स्त्री-पात्रों में भानुमती कोमल है और द्रौपदी कठोर । द्वितीय अंक में भानुमती के कतिपय गुणों का दर्शन होता है । द्रौपदी प्रथम और षष्ठ अंक में आती है । उसका स्वरूप एक क्षत्राणी के योग्य है । वह पतिव्रता और निडर है ।

भट्टनारायण पात्रोन्मीलन में साधारणतः सफल कहे जा सकते हैं ।

दोष दर्शन

रस, भाव, शैली, चरित्र-चित्रण, संवाद आदि प्रधान गुण वेणीसंहार नाटक में हैं । इन सभी का परिपाक हुआ है । गुणों के साथ ही साथ दोषों की सम्भावना रहती है । वेणीसंहार में दोषों का अभाव नहीं है ।

वेणीसंहार की कथा-वस्तु सुगठित और सुसंयत नहीं है । इसकी कथा महाभारत की भीम-प्रतिज्ञा पर केन्द्रित है । प्रयोजन के बिना ही इसमें समस्त महाभारत की कथा को कवि ने गूँथ दिया है । द्वितीय अङ्क का दुर्योधन और भानुमती का प्रेमव्यापार वीररस के नाटक में उचित नहीं हैं । यह प्रेमव्यापार-योजना व्यर्थ ही की गई है । वीर रस की जो धारा प्रथम अङ्क में प्रवाहित की गई, उसकी गति को यह रोकता है । साथ ही दुर्योधन के चरित्र-दौर्बल्य का बोधक है । तीसरे अङ्क में अश्वत्थामा और कर्ण का वाग्युद्ध अत्यधिक प्रभावपूर्ण है परन्तु इसमें भी गति का अवरोध है । नाटकीय फल में इससे सहायता नहीं मिलती । चतुर्थ अङ्क में सम्भाषण के नाम पर कोरी कहानी सुनाने का व्यापार है । सुन्दरक दुर्योधन को समर-वृत्त सुनाता है और दुर्योधन केवल २६ बार "ततस्ततः" कहकर सुनता जाता है । वास्तव में यहाँ नाटकीयता बिलकुल शिथिल हो गई है । यद्यपि यह वर्णन कवित्व-पूर्ण है तथापि प्रभावहीन और कथानक की गति में बाधक है । इस प्रकार छठे अङ्क में चार्वाक की उपस्थिति अनावश्यक है । कथानक को एकाएक मोड़ दिया गया है । यह अस्वाभाविक है । करुण रस की अनुभूति नहीं हो पाती । इस प्रकार कहीं-कहीं कथानक में सन्तुलन नहीं है, यद्यपि व्यष्टि रूप में घटनाएँ अत्यन्त प्रभावपूर्ण, रस-संयुत और मार्मिक हैं, किन्तु उनकी समष्टिगत कोई

विशेषता नहीं। कहीं-कहीं वर्णन भी अधिक लम्बा हो गया है, जैसे भानुमती का स्वप्न-वर्णन।

घटनाओं की अधिकता के कारण उनकी प्रभावहीनता स्पष्ट है। घटनाएँ अस्त-व्यस्त हैं। नाटककार उन्हें एक सूत्र में पिरोने में असफल है।

नाटकीय व्यापार फल से अनुस्यूत नहीं। कथानक को व्यापार की अपेक्षा आख्यान प्रस्तुत किया गया है। मुद्राराक्षस के समान इस नाटक में अभिनय नहीं है। अनावश्यक विस्तार पाया जाता है, जो फल की गत्यात्मकता में बाधक है।

वेणीसंहार में कहीं-कहीं मात्रातीत वर्णन उपलब्ध होते हैं। भाषा अत्यधिक जटिल और कठिन है। समासान्त पदावली का आधिक्य होने के कारण शैली दुरूह है। अपरिष्कृत शैली में नाटक लिखा गया है। फिर भी संस्कृत नाट्य साहित्य में वेणीसंहार अपने ढंग का अकेला नाटक है। यह अनुपम कृति है। नाटक का विशेष प्रयोजन है युद्ध की विभीषिकाओं को प्रभावोत्पादक ढंग से पाठक के समक्ष रखना। वेणीसंहार में नाटक की सन्धि, उनके अंग आदि का सफल विन्यास मिलता है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में यह विशेष उदाहरणीय है।

शैली

वास्तव में यदि दृश्यकाव्य की कसौटी पर वेणीसंहार को कसा जाय तो यह नाटक उच्चकोटि का नहीं प्रतीत होता। तो भी इस नाटक में कलापक्ष प्रधान है और यह काव्य की दृष्टि से अधिक सफल है। इसमें रमणीय और कवित्व शक्ति के परिचायक पद्यों की अधिकता है।

नाटक में गौड़ी रीति और तदनुरूप ओज गुण है। गम्भीर ध्वन्यात्मक पदावली और शब्द की टंकार से कवि ओज गुण को व्यञ्जित करने में सफल हुआ है। ओज गुण और विकट वर्णना-चातुर्य से वीर रस की अभिव्यक्ति होती है। वीररस के अनुकूल वातावरण बनाने के प्रयास में ही कठिन वर्णों से युक्त गौड़ी रीति का आश्रय सम्भवतः कवि ने लिया हो। वीर और रौद्ररस की अभिव्यञ्जना गौड़ी रीति में हुई है। संवादों में कठिन भाषा प्रयुक्त हुई है। इस प्रकार स्वाभाविकता, प्रवाह और प्रासादिकता का ह्रास स्पष्ट है।

काव्यात्मक दृष्टि से कवि अवश्य ही नितांत कुशल है। भाषा प्रवाहपूर्ण, प्राञ्जल और अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ है। भीष्म और कर्ण तथा द्रोण के निधन से धृतराष्ट्र के हृदय में अपार निराशा दिखलाई गई है। कितना मार्मिक स्वर और दयनीय दशा का चित्रण है—

दायादा न ययोर्बलेन गणितास्तौ भीष्मद्रोणौ हतौ
कर्णस्यात्मजमग्रतः शमयतो भीतं जगत्फाल्गुनात् ।
वत्सानां निधनेन मे त्वयि रिपुः शेषप्रतिज्ञोऽधुना
मानं वैरिषु मुञ्च तात पितरावन्धाविमौ पालय ।। ५.५

"जिनके पराक्रम पर भरोसा करके युधिष्ठिरादि बान्धवों को गिना तक नहीं, वे भीष्म और द्रोण मारे गये । अर्जुन से सारा संसार भयभीत हो रहा है तथा कर्ण के सामने ही कर्ण-पुत्र को उसने मार डाला । हमारे सभी पुत्र मारे गये, केवल तुम्हारे अव-शेष रहने से शत्रुओं की प्रतिज्ञा भी अवशेष है । अतः हे पुत्र शत्रुओं के प्रति अभिमान छोड़ो और अपने इन अन्धे माता-पिता का पालन करो ।"

शृंगार-वर्णन में कवि सफल है—

प्रेमाबद्धस्तिमितनयनापीयमानाब्जशोभं
लज्जायोगादविशदकथं मन्दमन्दस्मितं वा ।
वक्त्रेन्दुं ते नियममुषितालक्तकाग्राधरं वा
पातुं वाञ्छा परमसुलभं किं न दुर्योधनस्य ।। २.१८

"आपके मुख-चन्द्र ने स्नेहाधिक्य से निश्चल नेत्रों के द्वारा कमल को पराजित कर दिया है और लज्जा के कारण स्पष्ट शब्द नहीं निकल रहे हैं और अधरपुट से व्रत पालन के कारण लाक्षारस के चिह्न दूर हो गये हैं । इस प्रकार मन्द-हासकारी आपके मुख-चन्द्र के पान की ही दुर्योधन की उत्कट अभिलाषा है । उसके लिए और कौन पदार्थ है, जो अलभ्य है ?"

नाटक में मार्मिक तथा चुभती हुई उक्तियों की अधिकता है । अश्वत्थामा के प्रति कर्ण की यह उक्ति कितनी तीखी है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ।। ३.३७

"मैं चाहे सूत हूँ या सूतपुत्र हूँ, मैं कोई भी हूँ इससे क्या ? कुल में जन्म दैवाधीन है पर पौरुष तो मेरे अधीन है ।"

कहीं-कहीं अतिशयोक्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गई है ।

मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ।। १.२२

"इस दुन्दुभि को किसने बजाया ? इसकी ध्वनि समुद्र-मन्थन के समय मन्थन-दण्ड से प्रक्षिप्त जल से परिपूरित कन्दरायुत, मन्दराचल के भ्रमण-कालीन गम्भीर ध्वनि की भाँति है, प्रलयकालीन गर्जते हुए मेघमालाओं के परस्पर प्रताड़ित होने पर निकलने वाले भीषण गर्जन के समान, द्रौपदी के क्रोध का सूचक, सुयोधन के नाश के लिए उत्पातकालीन झञ्झावात के समान और हम लोगों के सिंहनाद की भाँति इससे भीषण ध्वनि निकल रही है।"

समासपूर्ण गौड़ी शैली का इसमें चरम निदर्शन है। कहीं-कहीं सरल गद्य-लेखन में भी कवि ने अपना कौशल दिखाया है।

अलंकारों की योजना प्रायः पाई जाती है। शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक अधिक प्रयुक्त हुए हैं। अर्थालंकारों में रूपक, उपमा, परिकर, संकर आदि विशेष प्रयुक्त हुए हैं। उपमा का चमत्कार देखिए—

यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽद्य संभृतम्।
तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नूनं संवर्धयिष्यति॥ १.१४

"आर्य भीमसेन के क्रुद्ध होने पर विद्युत्प्रकाश के सदृश जो ज्योति बढ़ी, अब उसे वर्षा ऋतु की भाँति कृष्णा अवश्य ही बढ़ायेगी।"

भट्टनारायण ने विविध छन्दों के प्रयोग में अपनी विदग्धता दिखलाई है। शिखरिणी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित और वसन्ततिलका आदि छन्दों की वेणीसंहार में प्रचुरता है।

वेणीसंहार नाटक की शैली भाषा और भाव की दृष्टि से बलशालिनी है। डा० डे का मत है—

"यह कहा जा सकता है कि यद्यपि भट्टनारायण की कृति 'वेणीसंहार' निम्नकोटि का नाटक है, तथापि इस रचना में सुन्दर कविता विद्यमान है, किन्तु कविता में भी, ठीक नाटक की ही भाँति भट्टनारायण की सशक्त कृति को विकृत बनाने वाला तत्त्व यह है कि उसकी शैली अत्यधिक कृत्रिम तथा अलंकृत है और अधिक अलंकृत होना उदात्त काव्य या नाटक के योग्य नहीं है।"

भारतीय आलोचनात्मक पद्धति उनकी गौड़ी रीति और ओज गुण की प्रशंसा करती है—

ओजः संसूचकैः शब्दैः युद्धोत्साहप्रकाशकैः।
वेण्यामुज्जृम्भयन् गौडीं भट्टनारायणो बभौ॥

अध्याय १४

मुद्राराक्षस

कवि-परिचय

मुद्राराक्षस के लेखक विशाखदत्त के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। नाट्यकार ने स्वयं जो आत्मपरिचय दिया, वह उसके कालनिर्णय के लिए सर्वथा पर्याप्त नहीं है। तदनुसार विशाखदत्त के पितामह वटेश्वर दत्त सामन्त थे और उनके पिता का नाम महाराज पृथु था।

कवि का यह परिचय नगण्य सा है। इसमें उल्लिखित एक भी व्यक्ति का इतिहास में या अन्यत्र नाम नहीं मिलता। अतः इस नाटक के भरतवाक्य के आधार पर इनके काल-निर्णय का प्रयास किया गया है। इसके भरतवाक्य में चन्द्रगुप्त या उसके स्थान पर कुछ ग्रन्थों में दन्तिवर्मा, रन्तिवर्मा या अवन्तिवर्मा नाम भी मिलते हैं। अवन्तिवर्मा नाम को यथार्थ मान कर इनका काल दो प्रकार से निश्चित होता है। इतिहास में दो अवन्तिवर्मा हुए। एक मौखरिराज अवन्तिवर्मा हुए, जिनके पुत्र ग्रहवर्मा से हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री का विवाह हुआ। इस अवन्तिवर्मा का सम-कालीन मानने पर विशाखदत्त का काल ५५०-५६० ई० होता है।

दूसरे अवन्तिवर्मा काश्मीर के राजा थे, जिनका काल ८५५-८८३ ई० है। याकोबी के अनुसार इस नाटक में उल्लिखित चन्द्रग्रहण का दिन २ दिसम्बर ८६० ई० है, जिसके उपलक्ष में राजमन्त्री शूर के निर्देश से मुद्राराक्षस नाटक का अभिनय हुआ। इस मत में भी कल्पना का अभाव नहीं है। कीथ का कथन है कि इस नाट्यकार को नवम शतक में रखना असंगत नहीं है।

स्टेनकोनो तथा डा० जायसवाल के अनुसार भरतवाक्य के चन्द्रगुप्त गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय हैं और इस प्रकार कोनो के मत से विशाखदत्त कालिदास के वयःकनिष्ठ समकालीन हैं। नायक के नाम का उल्लेख प्रायः भरतवाक्यों में नहीं होता। अतः उसमें चन्द्रगुप्त का उल्लेख ही युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि कुछ विद्वान् अवन्तिवर्मा को मौखरिवंश का नरेश मानकर विशाख-दत्त को छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रखते हैं और कीथ आदि प्रमुख विद्वान् इनको नवम शतक के प्रारम्भ में प्रादुर्भूत मानते हैं।

विशाखदत्त की अन्य रचना देवीचन्द्रगुप्त नाटक में चन्द्रगुप्त द्वितीय ध्रुवदेवी बनकर शक राजा को मारता है।[1] इस नाटक की ऐतिहासिकता महत्त्वपूर्ण है। विशाखदत्त ने रामचरित से सम्बद्ध किसी कथानक को लेकर सम्भवतः एक अन्य नाटक की भी रचना की थी।

मुद्राराक्षस नाटक से विशाखदत्त की उच्च काव्य-साधना प्रतीत होती है। उन्हें भाषा पर अधिकार और नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का पूरा ज्ञान था। राजनीति सम्बन्धी सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में वे सिद्धहस्त थे। गौतम के न्यायसूत्र, संहिता सम्बन्धी ज्योतिष आदि उनके प्रिय विषय थे। बौद्ध धर्म के प्रति उनकी अभिरुचि थी, पर जैन धर्म के प्रति अनुराग नहीं था। उस युग के साधारण महाकवियों की भाँति विशाखदत्त पूर्ववर्ती प्रमुख काव्य-ग्रन्थों में निष्णात थे।

कथासार

नन्दवंश का अन्त हो जाने पर चन्द्रगुप्त मौर्य के राजा बन जाने के पश्चात् नाटकीय कथा आरम्भ होती है। नन्दवंश के राजमंत्री राक्षस की योग्यता और चरित्र से प्रभावित होकर चन्द्रगुप्त मौर्य की राजशक्ति को संवर्धित करने के लिए चाणक्य राक्षस को उसका मन्त्री बना देना चाहता है। उधर राक्षस नन्द वंश का विनाश होने से शोकाभिभूत होकर पर्वतक के मारे जाने से दुःखी उसके पुत्र मलयकेतु से मिलकर उसे ही नन्दवंश का राज्य देने की इच्छा से म्लेच्छ राजाओं के साथ चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करना चाहता है।

कुटिल चाणक्य अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मलयकेतु और राक्षस के वैर का सर्जन करने के लिए प्रवाद फैलाता है कि राक्षस ने मलयकेतु के पिता पर्वतक को विष-कन्या से मरवाया है। वह चुपके से मलयकेतु को समाचार भेजता है कि तुम्हारे पिता को राक्षस ने मरवाया है। ऐसी स्थिति में चाणक्य का विश्वास था कि यदि राक्षस मलयकेतु के साथ आक्रमण करवाता है तब भी मलयकेतु को पकड़ा जा सकता है और मलयकेतु को बन्दी बनाने से उसके पिता की हत्या का सन्देह मुझ पर लगेगा। कुसुमपुर में अपने पक्ष-विपक्ष के लोगों की सूची प्रस्तुत करने के लिए चाणक्य ने बहुत से गुप्तचरों को नियुक्त किया है। फिर नन्दवंश के मन्त्रियों की सूचना पाने के लिए इंदु-

१. इस कथा के अनुसार गिरिपुर का शक राजा गुप्तवंश के रामगुप्त को पकड़ लेने में समर्थ हुआ। आत्मरक्षा के लिए रामगुप्त को कहना पड़ा कि मेरी रानी ध्रुवदेवी तुम्हारी हो जायेगी। फिर तो उसके भाई चन्द्रगुप्त ने यह काण्ड रचा।

शर्मा नियुक्त किया गया है। चाणक्य का एक चर आकर सूचना देता है—जीवसिद्धि क्षपणक, कायस्थ शकटदास और मणिकार चन्दनदास राक्षस के सहायक हैं। इनमें से जीवसिद्धि तो चाणक्य का ही आदमी था। उसी ने तो पर्वतक के लिए विषकन्या को प्रवृत्त कराया था। कायस्थ शकटदास की क्या शक्ति थी? फिर भी उनकी सूचना देने के लिए मित्र-रूप में सिद्धार्थक को चाणक्य ने नियुक्त किया था। मणिकार चन्दनदास के पास राक्षस अपना कुटुम्ब छोड़कर भाग गया था। चर ने राक्षस की एक अंगुलिमुद्रा भी चाणक्य को दी, जो उसे चन्दनदास के घर पर मिली थी। चाणक्य ने उसे देखते ही भावी कार्य-क्रम में उस मुद्रा की सर्वाधिक उपयोगिता का आकलन कर लिया। उसने शकटदास से अपने अभिप्राय का एक पत्र सिद्धार्थक के माध्यम से लिखवाया। पत्र पर राक्षस की अंगुलिमुद्रा की छाप डाली गई।

उसी समय चाणक्य ने दो आज्ञाएँ निकालीं—जीवसिद्धि क्षपणक का निर्वासन, क्योंकि उसने पर्वतेश्वर को विषकन्या से मरवाया था और शकटदास को फाँसी, क्योंकि वह चंद्रगुप्त से द्रोह रखता था। आज्ञानुसार शकटदास के कुटुम्ब को कारावास भोगना था। चाणक्य ने सिद्धार्थक से कहा कि वध्यस्थान पर उपस्थित होकर अपनी तलवार से घातकों को डरा कर शकटदास को बचाकर उसे राक्षस के पास ले जाओ। वहीं राक्षस की सेवा में रहो और मेरा काम बनाओ। तत्पश्चात् चन्दनदास की खबर ली गई। उसने राक्षस के कुटुम्बी जनों की खोज-खबर न दी तो चाणक्य ने उसके कुटुम्ब के सब लोगों को बन्दी बना लेने का आदेश दिया।

राक्षस ने चन्द्रगुप्त की हत्या के लिए अनेक उपाय रचे थे। वे सभी चाणक्य की चतुरता से विफल हुए। उन उपायों के आयोजक मारे गये। इधर शकटदास भाग कर राक्षस के पास पहुँचा और सिद्धार्थक को राक्षस की सेवा का काम मिल गया। उसी समय चाणक्य के द्वारा गुप्त रीति से भेजे हुए कुछ आभरण राक्षस के पास भेजे गये, जिनके क्रय के लिए उसने शकटदास को नियुक्त कर दिया। चन्द्रगुप्त और चाणक्य पारस्परिक वैमनस्य का अभिनय करते हुए वासन्तिक उत्सव के प्रसङ्ग में झगड़ पड़ते हैं। इसे राक्षस सफलता की कुंजी मान लेता है। तभी चाणक्य के दूत भागुरायणादि मलयकेतु के मन में राक्षस के प्रति अविश्वास उत्पन्न करते हैं। इधर चाणक्य का वह पत्र काम कर जाता है, जिसे उसने राक्षस की अंगुलिमुद्रा से सम्पुटित करके सिद्धार्थक को दिया था। इस पत्र में राक्षस के चन्द्रगुप्त के साथ गुप्त रीति से मिलने की वार्ता थी। उसी समय मलयकेतु देखता है कि राक्षस वह रत्नावली पहने हुए है, जो उसके पिता पर्वतक की थी। राक्षस किसी प्रकार अपने प्राण बचा कर चन्दनदास की रक्षा के लिये चल पड़ता है। अन्तिम अंक में वध्यस्थान पर चन्दनदास की रक्षा के लिए राक्षस

पहुँचता है। वहीं चन्द्रगुप्त और चाणक्य मिलते हैं। उसे अपने मित्र का प्राण बचाने के लिए चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार करना पड़ता है।

कथा-विश्लेषण

मुद्राराक्षस की कथा राजनीति के दाव-पेच से सम्बद्ध होने के कारण गम्भीर है। प्रस्तावना में चाणक्य का क्रोधपूर्ण ओजस्वर सुनाई पड़ता है। प्रथम अङ्क में चाणक्य की यह घोर गर्जना महत्त्वपूर्ण है कि वह अपने बुद्धि-कौशल और नीति-रज्जु से मद-मस्त गज-राक्षस को आधीन करना चाहता है। इस अङ्क के आधार पर नाटक का नामकरण 'मुद्राराक्षस' हुआ है, क्योंकि जब निपुणक से चाणक्य को राक्षस-नामाङ्कित मुद्रा प्राप्त होती है, तब वह अत्यधिक प्रसन्न होकर कहता है 'ननु राक्षस एव अस्मदङ्गुलि-प्रणयी संवृत्त इति।' इस अङ्क में चाणक्य की नीतिज्ञता का ज्ञान होता है।

द्वितीय अङ्क में राक्षस की कूटनीति का परिचय मिलता है। इस अङ्क में राक्षस की चालें दिखाई गई हैं, जिससे राक्षस की नीति-निपुणता का ज्ञान होता है, परन्तु चाणक्य उसे असफल बना देता है। इस अङ्क में चाणक्य और राक्षस एक दूसरे को परास्त करने के लिए अपनी-अपनी चालें चल रहे हैं। राक्षस की राजनीति की पराजय इसी अङ्क से प्रारम्भ हो जाती है। यद्यपि जिस समय राक्षस यह सुनता है कि चाणक्य चन्द्रगुप्त से रूठ गया है, वह अत्यधिक प्रसन्न होता है तथापि इसमें भी उसकी हार हुई, क्योंकि चाणक्य और चन्द्रगुप्त का कलह कपटपूर्ण था।

तृतीय अङ्क में चाणक्य की सफलता का सोपान सामने आता है। इस अङ्क में चाणक्य चन्द्रगुप्त से बनावटी बैर कर लेता है और चन्द्रगुप्त समस्त कार्याधिकार अपने अधीन करता है। चाणक्य का अभिनय इतना स्वाभाविक है कि चन्द्रगुप्त उसे यथार्थ समझ लेता है। चाणक्य की कूटनीति फलवती दिखाई देने लगती है। इस कपट-कलह से राक्षस को अपनी सफलता की आशा उत्पन्न होती है।

चतुर्थ अङ्क में भागुरायण मलयकेतु के मन में राक्षस के प्रति अविश्वास उत्पन्न करने में सफल होता है। इस अङ्क से राक्षस की राजनीति पंगु होने लगती है, क्योंकि उसके पक्ष के ही लोग चाणक्य की चालों के कारण विपक्षी होने लगते हैं।

पञ्चम अङ्क में मलयकेतु को यह विश्वास कुछ घटनाओं के कारण हो जाता है कि पर्वतेश्वर को राक्षस ने ही मारा है। अतः मलयकेतु और राक्षस में फूट हो जाती है। यहाँ गर्भ-सन्धि प्रयुक्त हुई है। षष्ठ अङ्क में राक्षस को चाणक्य के समीप लाने की चाल है।

सप्तम अङ्क में नाटक प्रयोजन-प्राप्ति की अवस्था में है। चन्दनदास को शूली पर चढ़ाया जा रहा है। उसकी पत्नी और पुत्र विलाप करते हैं। राक्षस आता है

और चाणक्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना देता है। यही नाटक का प्रयोजन था।

मुद्राराक्षस में राजधानी के विलासपूर्ण जीवन को न लेकर राजकीय जीवन की सूक्ष्म, कुटिल नीति के व्यावहारिक स्वरूप का चित्रण किया गया है। इसमें अकेले चाणक्य की एक ऐसी सत्ता है, जिसके हाथ में त्राण, निर्माण और प्रमाण की शक्ति है। उसने राक्षस के चक्रों से चन्द्रगुप्त के प्राणों की रक्षा की, मौर्यवंश की नींव को राक्षस के मन्त्रित्व से सुदृढ़ बना दिया और पदे-पदे मुद्राराक्षस में दिन को रात और रात को दिन प्रमाणित किया। इस नाटक में एक आन्तरिक अभिनय होता है। इसका सर्वोच्च रूप है चन्द्रगुप्त और चाणक्य का झगड़ा। वैसे ही शूली पर चढ़ाने का भी अन्यत्र आन्तरिक अभिनय-मात्र है। अनेक पात्र चर-रूप में, क्षपणक-रूप में अथवा वधिक-रूप में अभिनय करते हैं। राजनीति की विषमताओं का भी घृणास्पद चित्रण किया गया है। वहाँ तो निर्दोष के प्राणों का हरण क्षणमात्र में संभव होता है। नाटक में कार्य-व्यापार का अभाव कुछ खटकता है।

नाट्यकला

मुद्राराक्षस राजनीतिक नाटक है। इसमें शृंगार आदि रसों का स्वभावतः समावेश नहीं है। नाटककार का कथन है कि एक राजनीतिज्ञ के लिए स्त्री-पुत्र आदि सुख-दुःख दोनों भारस्वरूप हैं। राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाना नाटक का बीज है। राक्षस की मुद्रा बिन्दु का कार्य करती है। राक्षस द्वारा मन्त्रित्व स्वीकार करना 'कार्य' है। नाटक की वस्तुयोजना सुगठित है। आदि से अन्त तक गम्भीर वातावरण प्रस्तुत किया गया है। प्रेम और हास्य नितान्त दूर है। विदूषक और स्त्री पात्रों का अभाव-सा है। यह घटना-प्रधान नाटक है। नाटककार ने नाटकीयता पर अधिक ध्यान दिया है। रस-परिपाक अपेक्षाकृत गौड़ है। इतिवृत्त की योजना इतने सुन्दर ढंग से की गई है कि प्रेक्षक घटनाओं के समुचित प्रवाह में अपने को खो देता है। यद्यपि उसे रसानुभूति कम होती है तथापि वह ऊबता नहीं और आदि से लेकर अन्त तक उत्सुकता बनी रहती है। यही नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है। घटनायें क्रम-बद्ध और फलवती हैं। कथा का विभाजन समीचीन है। यह विशाखदत्त की अपनी मौलिकता है। एक ही अङ्क में दो-तीन दृश्य प्रयुक्त हुए हैं। यथा द्वितीय अङ्क में एक मार्ग का और दूसरा राक्षस के घर का। तृतीय अङ्क में पहला दृश्य सुगांगप्रासाद का, दूसरा चाणक्य की कुटी का और तीसरा दृश्य पुनः सुगांगप्रासाद का है। कई पताकास्थानक प्रयुक्त हुए हैं। कथानक, वस्तु-योजना, वर्णन, चरित्र-चित्रण, नाटकीय नियमों की उपेक्षा, वीररसाधिक्य, घटनाओं में सन्तुलन और अभिनेयता की कमी आदि इसकी कतिपय विशेषताएँ हैं, जो इस नाटक को संस्कृत साहित्य के रूपकों में

विशेष स्थान प्रदान करती हैं। घटनाओं की एकता का जितना सुन्दर प्रदर्शन इसमें हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। आदि से लेकर अन्त तक सभी घटनाएँ राक्षस के वशीकरण के लिए प्रवृत्त हो रही हैं। यद्यपि घटनाएँ कहीं-कहीं पर विच्छिन्न हैं, तथापि उनका समन्वय एक ही प्रयोजन की सिद्धि में अनुस्यूत है।

रसोन्मेष

मुद्राराक्षस नाटक में वीर-रस-प्रधान है। इसमें अन्य रसों का परिपाक अधिक नहीं हुआ है। यह राजनीति का नाटक है। इस में वीर रस होते हुए भी रक्त-पात का दृश्य नहीं है। यही चाणक्य की राजनीति की सर्वाधिक विशेषता है। कहीं भी तलवारों की झनझनाहट नहीं सुनाई देती। इसमें तो शब्दों के उत्साहपूर्ण अनुरणन से ही वीररस की अनुभूति होती है।

यथा—

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥१.८

"वह कौन व्यक्ति है, जो जँभाई के कारण खुले हुए मुँह वाले सिंह के मुख की उस दाढ़ को बलात् उखाड़ लेना चाहता है, जो हाथी के रक्त का स्वाद लेने के कारण अरुण कान्ति से युक्त, ठीक उसी प्रकार लग रही है जिस प्रकार सन्ध्याकालीन चन्द्रमा की लाल कान्ति।"

इसमें चाणक्य का अदम्य उत्साह अभिव्यक्त हो रहा है। यह नाटक अभिनय की दृष्टि से निःसन्देह बहुत लम्बा है। श्लोकों की अधिकता और गद्य भागों की विशालता भी इसे रंगमंच के लिए प्रयत्नसाध्य बनाती है। वास्तव में मुद्राराक्षस का वीर रस युद्ध-स्थल का वीर रस नहीं है, अपितु इसमें एक ऐसे वीर रस की अभिव्यञ्जना सर्वत्र मिलती है, जो नितान्त निस्पृह होते हुए भी जनहित की भावना से प्रेरित होकर नूतन साम्राज्य की स्थापना करता है। जितना उत्साह वीर रस में नहीं होता, उससे कहीं अधिक उत्साह की स्फुलिंगें चाणक्य में हैं। चाणक्य की उक्तियों में वीर रस छलक रहा है।

अन्यत्र भी वीर रस का परिपाक हुआ है। राक्षस और मलयकेतु के कथन में वीर रस मिलता है। कहीं-कहीं पर युद्धोचित वर्णन मिलता है। यथा—

गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहुलान् धूम्रयन्तः कपोलान्
क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य।

पांशुस्तम्बा बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमाङ्गे गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः पतन्तु ।।५.२३

"सेना के घोड़ों के खुरपुटों से चूर्णित और लोध्रधूलि के परिमल से घनीभूत धूल, गौड़ देश की स्त्रियों के सुगन्धित कपोलों को धूमिल बनाती हुई, उनके भ्रमर के समान काले बालों की कृष्णिमा को मलिन करती हुई, हाथियों के मदजल से मलिन कीचड़ उछलाती हुई, शत्रुओं के मस्तकों पर जा गिरे"। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि युद्ध का चित्र उपस्थित करने में कवि समर्थ था।

नाटक में भयानक और बीभत्स रस नहीं हैं। विदूषक का अभाव हास्य रस के अभाव को सूचित करता है। शृंगार रस का अभाव होते हुए भी एक-दो श्लोक शृंगार के अच्छे उदाहरण हैं।

करुण रस सातवें अङ्क में अभिव्यक्त हुआ है। चन्दनदास की पत्नी और पुत्र का मार्मिक और करुण विलाप हृदय को हिला देता है।

यद्यपि मुद्राराक्षस में स्वभावतः प्रकृति-वर्णन का स्थान विशेष नहीं है, फिर भी कहीं-कहीं उच्च कोटि के प्रकृति-वर्णन मिलते हैं। तृतीय अङ्क में कौमुदी-महोत्सव का वर्णन है। इस समय—

आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लिन्दती कृत्तिमैभीम्।
कापालीमुद्वहन्ती स्रजमिव धवलां कौमुदीत्यपूर्वां
हासश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः।। ३.२०

"काशकुसुम के समान आकाश को भस्म से श्वेत बनाती हुई तथा चन्द्रमा के किरण-समूह से मेघ के समान कृष्णवर्ण गजचर्म को गीला करती हुई एवं कौमुदी के समान श्वेत मुण्डों की माला धारण करती हुई, अट्टहास से युक्त शंकर की मूर्ति की भाँति काशपुष्प की शोभा से आकाश को शोभित करने वाली, कृष्णगजचर्म के समान मेघों को दूर करने वाली, कपालों की श्वेत माला के समान चन्द्रिका को धारण करने वाली और राजहंसों से सुशोभित शरद् ऋतु आप के कष्ट का निवारण करे।"

कवि ने उजड़े हुए संसार का भी अनुपम वर्णन किया है (६.११)। इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन रस के परिपोष के लिए हैं। ये वर्णन कथा-प्रवाह में बाधक नहीं हैं।

कवि प्रतिभा

विशाखदत्त की भाषा अत्यधिक सरल है, साथ ही अतिशय प्रभावशालिनी और अवसर के अनुकूल है। विशाखदत्त ने अपनी भाषा को कालिदास के समान उपमाओं से अलंकृत

किया है, न भवभूति के समान सामासिकता को अपनाया है और न भट्टनारायण के समान उसे कृत्रिमता प्रदान की है, अपितु उसने नाटकीय स्वाभाविकता के अनुकूल भाषा को अपनाया है। भाव के अनुकूल शब्दों का चयन किया गया है। भावों के अनुकूल भाषा प्रयुक्त हुई है। भाषा ओजोगुण-मण्डित है। रीति वैदर्भी है। भाषा के प्रवाह और भावों की अभिव्यक्ति का सरसता लाने में सामञ्जस्य है, यथा—

केनोत्तुङ्गशिखाकलापकपिलो बद्धः पटान्ते शिखी ?
पाशैः केन सदागतेरगतिता सद्यः समासादिता ?
केनानेकपदानवासितसटः सिंहोऽर्पितः पञ्जरे ?
भीमः केन चलैकनक्रमकरो दोर्भ्यां प्रतीर्णोऽर्णवः ? ७.६

"किसने वस्त्र के छोर में ऊँची शिखा वाली अग्नि को बाँध लिया ? किसने तुरन्त ही अपने जाल से पवन को भी गतिहीन कर लिया ? किसने अनेक हाथियों के मदजल से गीली सटाओं वाले सिंह को पिंजड़े में बन्द कर दिया ? किसने नक्र और मगर से विलोड़ित भयंकर महासमुद्र को हाथों से ही तैर कर पार कर लिया ?" इससे चाणक्य की राजनीति का आभास मिल रहा है। नपे-तुले शब्दों से भाषा सप्राण है।

उनकी सूक्तियाँ असीम भावोत्कर्ष प्रस्तुत कर देती हैं। उदाहरण के लिए—

कीदृशस्तृणानामग्निना विरोधः,
शिरसि फणी दूरे तत्प्रतीकारः।
निर्वाहः प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम्।
दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति।
विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति।

चाणक्य की राजनीति का परिचय कवि कितने सरल शब्दों में कराता है—

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावसहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्नश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले-
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥ ५.३

"भाग्य-चक्र की भाँति राजनीतिज्ञ की नीति कैसी विचित्र होती है ? कार्यवश कभी वह अपने लक्ष्य को स्पष्ट कर देती है, कभी उसे अधिक गहन बना देती है, कभी वह पूर्णतया विकसित हो जाती है, कभी पूर्णतः अदृष्ट हो जाती है, कभी उसका कारण नष्ट होता दिखाई देता है और कभी वह प्रभूत इष्ट फल को प्रदान करती है।"

नाटककार के गहन काव्य-पथ का निदर्शन उसके निजी उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता को व्यक्त करता है। यथा—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभविता क्लेशमस्मद्विधो वा ॥ ४.३

अलंकार

कवि की रुचि अलंकार की ओर विशेष नहीं प्रतीत होती है। स्वाभाविक रूप से जिन अलंकारों का समावेश किया गया है वे प्रायः उपयुक्त हैं। उपमा अलंकार का प्रयोग सुन्दर चित्र के साथ-साथ नीचे के श्लोक में है—

विरुद्धयोर्भृशमिह मन्त्रिमुख्ययो-
र्महावने वनगजयोरिवान्तरे।
अनिश्चयाद् गजवशयेव भीतया
गतागतैर्भृशमिव खिद्यते श्रिया ॥ २.३

"इस साम्राज्य में राजलक्ष्मी दोनों महामन्त्रियों के मध्य जय-पराजय का निश्चय न होने से भयभीत होती हुई कभी एक के पास और कभी दूसरे के पास जाकर उसी प्रकार खिन्नता का अनुभव कर रही है, जिस प्रकार वन में दो गजराजों के मध्य में जय-पराजय का निश्चय न होने से कोई हथिनी कभी एक कभी दूसरे के पास जाकर खिन्न होती है।"

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों का सफल प्रयोग किया गया है।

छन्द

नाटक का वातावरण गम्भीर है। कवि ने स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित छन्दों को अधिक अपनाया है। अन्य छन्दों का प्रयोग विषयानुकूल किया गया है। नाटककार ने सर्वत्र औचित्य का ध्यान रखा है।

विशाखदत्त का एक दोष प्रत्यक्ष है। मुद्राराक्षस में चाणक्य जो शार्ङ्गरव नामक विद्यार्थी-शिष्य से चपरासी का काम लेता है। वह उसके उपाध्याय-पद के गौरव को हीन कर देता है।

विशाखदत्त ने गद्य का अधिक प्रयोग किया है और पद्यों के कम प्रयोग से शैली को कृत्रिमता से बचाया है। वाक्य छोटे और सरल हैं। शब्द-विन्यास सशक्त है। कहीं-कहीं गद्य में नाटकीय अस्वाभाविकता है। प्रारम्भ में चाणक्य एक लम्बा भाषण

प्रस्तुत करता है। मुद्राराक्षस में अन्य नाटकों की भाँति ही संस्कृत के अतिरिक्त अनेक प्राकृतों का प्रयोग किया गया है। सभी पात्र अपने योग्य प्राकृतों का उपयोग करते हैं—शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी। कवि नाट्यशास्त्र के नियमों से परिचित होते हुए भी नवीन परिपाटी अपनाता है। उसने इस दिशा में एक नया प्रयोग किया है। रस, नायक, इतिवृत्त आदि सभी में उसका प्रयोग सफल है। इसमें कालिदास और शूद्रक के नाटकों के समान श्रृंगार-स्निग्धता और हर्ष की नाटिकाओं की विलासिता नहीं है। वेणीसंहार के समान भयानक दृश्यों की योजना और भवभूति के नाटकों की गीतिमत्ता भी इसमें नहीं है, फिर भी मुद्राराक्षस में अपनी निजी विशेषता विद्यमान है, जो अन्य किसी संस्कृत नाटक में नहीं पाई जाती।

पात्रोन्मीलन

पात्रोन्मीलन में विशाखदत्त की तूलिका सफल है। उन्होंने प्रत्येक पात्र की विशेषताओं का समुचित चित्रण किया है। चाणक्य, राक्षस आदि का चरित्र-चित्रण विशेष उदात्त कोटि का है।

चाणक्य

नाट्य साहित्य में चाणक्य अपनी कोटि का अद्वितीय नायक है। वह अत्यधिक प्रभावोत्पादक और महान् शक्तिशाली है। चाणक्य निष्काम कर्म करता है। वह अपने लिए नहीं, वरं साम्राज्य के लिए जीवन को सार्थक बनाता है। वह निरीह, निस्स्वार्थ और दृढ़प्रतिज्ञ है। लोकसंग्रह की भावना ही उसे सर्वाधिक महान् बनाती है। वह मौर्य-राष्ट्र का मन्त्री होते हुए भी अपने वैयक्तिक सुखों से दूर है।

> **उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां**
> **वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।**
> **शरणमपि समिद्भिश्शुष्यमाणाभिराभि-**
> **र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥३.१५**

"एक ओर कण्डों को तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा पड़ा है, दूसरी ओर शिष्यों द्वारा लाये गये कुश का ढेर लगा है। सुखाने के लिए रखी गई समिधाओं से छप्पर झुका जा रहा है। जीर्ण-शीर्ण झुकी हुई भित्तिवाली कुटी दिखाई दे रही है।"

वह असाधारण और महान् है। उसका चरित्र आदर्श है। उसे अपने पौरुष पर अदम्य विश्वास है। वह धैर्यशाली है और यही उसे विजय-श्री प्राप्त कराने

में समर्थ है । चाणक्य भाग्यवादी नहीं, पौरुषवादी है । वह कहता है—**दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति ।**

चाणक्य में आत्मविश्वास अधिक है और वह किसी की चिन्ता नहीं करता । उसकी बुद्धि ही पर्याप्त है—

> **एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका ।**
> **नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ।। १.२६**

उसमें दूरदर्शिता है । वह प्रत्येक कार्य पूर्वापर सोचकर करता है । उसका कथन है कि मेरी नीति तभी सफल होगी, जब राक्षस चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार कर लेगा । (अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य) । वह अपनी गुणवती नीति से राक्षस को वश में करना चाहता है, उसका विनाश नहीं । उसका आदेश है कि प्रत्येक परिस्थिति में राक्षस के प्राणों की रक्षा करना है ।

चाणक्य पत्थर से भी अधिक कठोर और असंभव का साधक है । यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है । उसे विश्वास है कि राक्षस की मेधा और चन्द्रगुप्त की शक्ति का समन्वय ही जनकल्याण करने में समर्थ है । चाणक्य में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क का प्राबल्य है ।

चाणक्य अहंवादी भी है । वह दूसरों की तनिक चिन्ता तक कभी नहीं करता । वह क्रोधी भी है । उसके नाम को ही सुनकर आतंक सा छा जाता है । उसे अस्वाभाविक अभिनय भी करना आता है । वह निरन्तर विचार-निमग्न और सावधान है । कायस्थ लघुजन है, तथापि शत्रु होने से उसकी अपेक्षा नहीं करता । **कायस्थ इति लघ्वी मात्रा, तथापि न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम्** । वह निरन्तर कार्यभारवाहकों को प्रोत्साहन देता रहता है । **अचिरमेव फलं प्राप्स्यसि** वह श्लेषयुक्त वचनों को पहचानता है । उसकी बुद्धि प्रखर है । उसकी बुद्धि की प्रशंसा की गई है ।

चाणक्य में एक गुण विशेष रूप से है और वह है उसकी प्रसन्नता । चन्द्रगुप्त को सिंहासनारूढ़ देखकर अत्यधिक प्रसन्न होता है **प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममैते ।**

चाणक्य का प्रत्येक कार्य सप्रयोजन होता है । **नहि प्रयोजनमनपेक्ष्य स्वप्नेऽपि चाणक्यश्चेष्टते** । वास्तव में चाणक्य राक्षस के अनुसार रत्नों का सागर है—

> **आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः ।**
> **गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम् ।। ७.७**

चाणक्य महान् राजनीतिज्ञ, कूटनीति-विशारद, दृढ़प्रतिज्ञ और निस्पृह है। उसकी यही विशेषता है कि मित्र और शत्रु दोनों उसकी प्रशंसा करते हैं।

राक्षस

"प्रतिनायक राक्षस में मानवोचित गुण और उदात्तता भरी है, जो उसकी पराजय का कारण बनती है। राक्षस चाणक्य की भाँति दृढ़ बुद्धिवादी न होकर भावुक है। वह अपने हृदय को पूर्णतः वश में नहीं कर सका। फलतः प्रत्येक व्यक्ति पर विश्वास कर बैठता है। यद्यपि नाटक के निर्वहण में राक्षस की हार होती है, पर उसकी पराजय भी इतनी भव्य और उदात्त है कि सामाजिक उसके आगे श्रद्धानत हो जाता है। राक्षस हार कर भी जीतता है। प्रतिनायक के प्रति जैसी भावनायें दर्शकों की होती हैं, वैसी कदापि राक्षस के प्रति जागृत नहीं हो सकतीं।"

राक्षस उच्चकोटि का मानव है। उसकी सहृदयता श्लाघनीय है। उसमें बुद्धि की अपेक्षा हृदयतत्त्व की प्रधानता है। वह चाणक्य की भाँति ही महान् राजनीति-विशारद है। वह भावुक है। उसमें स्वामिभक्ति की भावना अधिक है। वह भी स्वामी के लिए ही कार्य करता है। वह चाहता है कि शत्रुओं के वध से स्वामी की आराधना हो—

नेदं विस्मृतभक्तिना न विषयव्यापारमूढात्मना,
प्राणप्रच्युतभीरुणा न च मया नात्मप्रतिष्ठार्थिना।
अत्यर्थं परदास्यमेत्यनिपुणं नीतौ मनो दीयते
देवः स्वर्गगतोऽपि शात्रववधे नाराधितः स्यादिति॥ २.५

राक्षस भाग्यवादी है। वह लक्ष्मी को कोसता है, क्योंकि वह गुणपरीक्षणरहिता है। वह विराधगुप्त की दयनीय दशा देखकर आँसू बहाता है। वह अत्यधिक निडर है। तत्काल युद्धस्थल में जा सकता है। (२.१३) उसे किसी के मरने पर दुःख होता है। (अहह! महान् विज्ञानराशिरुपरतः) । वह सोचकर कार्य नहीं करता। यही उसकी दुर्बलता है और इसका कारण उसकी भावुकता है। कभी-कभी कार्याधिक्य के कारण भूल भी जाता है। उसमें स्मरण-शक्ति कम है। राक्षस में प्रेम है। भाग्य-वादी होने पर भी वह अकर्मण्य नहीं है। उसे निराशा अवश्य हताश करती है, परन्तु वह अन्त तक अपने प्रयत्नों को शिथिल नहीं करता। आत्मसमर्पण के समय तक वह प्रयत्न-विमुख नहीं होता। राक्षस युद्ध-कला में दक्ष है। उसकी इस शक्ति से चाणक्य भी आतंकित रहता है। (७.१५) उसमें मैत्री की भावना प्रधान है। वह अपने प्राणों की रक्षा न कर अपने अभिन्न मित्र चन्दनदास के प्राणों की रक्षा को अधिक श्रेयस्कर समझता है।

राक्षस उदार है। वह शत्रु की भी प्रशंसा करता है। (७.७) वह वीर और उत्साही है। उसके चरित्र में गुण और दोषों का समन्वय मणि और काञ्चन का संयोग है। योग्य मंत्री के सभी गुण उसमें विराजमान हैं। चाणक्य और राक्षस की तुलना करने में एक दूसरे की विशेषतायें स्पष्टतः भिन्न प्रतीत होती हैं। चाणक्य कठोर, पौरुषवादी, आत्मविश्वासी है और राक्षस नम्र, भाग्यवादी और विश्वासपरायण है। एक में बुद्धि-पक्ष प्रबल है और दूसरे में हृदय-पक्ष। दोनों महान् हैं।

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त मौर्य-साम्राज्य का प्रथम राजा है। उसकी समस्त शक्ति चाणक्य पर अवलम्बित है तथापि कतिपय विशेषताओं के कारण वह महान् है। चन्द्रगुप्त गुरुभक्त एवं आज्ञाकारी है। उसे चाणक्य पर विश्वास है। वह युद्धवीर है। मलयकेतु यदि राक्षस से संचालित है तो चन्द्रगुप्त चाणक्य से। मलयकेतु अविश्वासी है। उसे राक्षस पर उतना भरोसा नहीं, जितना चाणक्य पर-चन्द्रगुप्त का। उसमें अहंकार है।

चन्दनदास

चन्दनदास मणिकार सेठ है। वह चतुर और प्राज्ञ है। वह राक्षस का अभिन्न मित्र है। उसे अपनी नहीं राक्षस और उसके परिवार की चिन्ता रहती है। वह जानता है कि आचार्य चाणक्य के साथ विरोध अग्नि से तृण का विरोध है। फिर भी मित्र की चिन्ता करता है। चाणक्य के बारंबार डराने पर चन्दनदास अपने कथन पर अटल रहता है और कहता है—**आर्य ! किं मे भयं दर्शयसि ? सन्तमपि गेहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि किं पुनरसन्तम्**। उसे गर्व है कि मित्र के कारण उसे प्राणदण्ड दिया जा रहा है **दिष्टया मित्रकार्येण मे विनाशो जनितः न पुनः पुरुषदोषेण**। उसे गर्व है। पत्नी और पुत्र से कहता है कि **हर्षस्थानेऽपि रोदिति**। वह अपने पुत्र को चाणक्य-रहित देश में रहने के लिए कहता है **जात ! पुत्रक ! चाणक्यविरहिते देशे वस्तव्यम्**। इस प्रकार चन्दनदास का चरित्र-चित्रण सफलतापूर्वक किया गया है।

नायकत्व

चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है क्योंकि नाटक का फल चन्द्रगुप्त को ही प्राप्त होता है तथा वह राजा है। परन्तु कुछ विद्वान् चाणक्य को ही नाटक का नायक मानने के पक्ष में हैं। यह मत अपवादात्मक है तथापि अंशतः साधार है। वास्तव में समस्त संस्कृत नाट्य-साहित्य में केवल विशाखदत्त एक ऐसा नाटककार है, जिसने परम्परागत रूढ़ियों का सम्मान नहीं किया। उसने समस्त सैद्धान्तिक परम्परागत रूढ़ियों

के नियमों का उल्लंघन किया है। वह चरित-नायक की एक अभिनव कोटि की प्रतिष्ठा करके अपनी मौलिकता का परिचय देता है। यही विशाखदत्त की सबसे बड़ी विशेषता है।

विशाखदत्त को सैद्धान्तिक नियमों की चिन्ता नहीं थी, वरं चिन्ता थी दर्शकों की। अतः उसे अपना नाटक सैद्धान्तिक नियमों के निकष में खरा उतारने का ध्यान न रहा, उसने नाटक को दर्शकों के लिए सफल बनाने का यत्न किया है। वास्तव में मुद्राराक्षस नाटक अभिनय के लिए सफल कृति है। नाटक के नायक को चुनने तथा उसके चरित्र में गहरा रंग भरने में भी विशाखदत्त की तूलिका ने क्रान्तिकारिता का परिचय दिया है। उसके नाटक का नायक 'धीरोदात्त' है, निस्सन्देह, किन्तु उसे रूढ़िवादी 'धीरोदात्त' नहीं मानेंगे ?

परम्परावादी आलोचक चन्द्रगुप्त को नायक कहते हैं, किन्तु विशाखदत्त चन्द्रगुप्त को कभी भी नाटक के नायक के रूप में देखना नहीं चाहते। उनका नायक वस्तुतः चाणक्य प्रतीत होता है।

अध्याय १५

राजतरङ्गिणी

राजतरङ्गिणी का अर्थ है राजाओं की नदी। यह वह पुस्तक-रूपी नदी है, जिसमें राजाओं का उत्थान-पतन वैसे ही देखा जा सकता है, जैसे नदी में तरङ्गों का। राजा ही तरङ्ग हैं, कभी उठते हैं और कभी गिरते हैं। राजाओं का पद साधारण जनमानस में स्पृहणीय है—यह क्या? राजाओं का उत्थान और पतन—यह वृत्त मानव की दृष्टि को खोलने के लिए है।

कवि कल्हण

कवि कल्हण कुछ विरागी-सा है[1] और वह प्रत्येक चिन्तक को अपना राग सुनाता है—

> वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः।
> येनायाति यशःकायः स्थैर्यं स्वस्य परस्य च ॥ १.३

वह राजगुण को वन्दनीय नहीं मानता। उसके लिए तो सुकवि का गुण वन्द्य है। भले ही इससे श्रीविलास की सृति न होती हो, किन्तु सुधास्यन्द तो विच्छुरित होता ही है। तभी तो इसके द्वारा अपना और पराया यशःशरीर अमर बनाया जाता है।[2] कवि को भौतिक वैभव और परिग्रह की आवश्यकता नहीं। वह तो यशःकाय को स्थिर (अमर) बनाने की इच्छा करता है। इसमें उसे सफलता मिली है।

कल्हण परिपक्व अनुसन्धायक था। वह प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा का शोध करके विशुद्ध और सच्चा इतिहास प्रस्तुत करना चाहता था। इस महान् उपक्रम में

---

१. कवि ने राजतरंगिणी में शान्त रस की सर्वोपरि प्रतिष्ठा करते हुए कहा है—
क्षणभङ्गिनि जन्तूनां स्फुरिते परिचिन्तिते
मूर्धाभिषेकः शान्तस्य रसस्यात्र विचार्यताम् ॥ १.२३

२. कालिदास की प्रासङ्गिक उक्ति है—
किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं
यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥

उसे सफलता मिली है। शोधक के सभी गुण कल्हण में थे—निष्पक्ष दृष्टि, अविकल अध्ययन; परिभ्रमण और सार्वत्रिक सुरुचि। इन्हीं के बल पर जो इतिहास लिखा गया वह—

इयं नृपाणामुल्लासे ह्रासे वा देशकालयोः।

भैषज्यभूतसंवादिकथा युक्तोपयुज्यते ॥ राज० १.२१

कल्हण स्वतन्त्रता का परम पुजारी था। उसने लिखा है—**परायत्ततया चित्तं पशोरप्युपतप्यते**—अर्थात् पराधीनता से पशुओं का भी चित्त उद्विग्न हो उठता है।

कल्हण कवि के महान् उत्तरदायित्व को समझता था। तभी तो उसने कहा है—

भ्रातः सत्कविकृत्य किं स्तुतिशतैरन्धं जगत्त्वां विना ॥ १.४७

अर्थात् तुम्हारे बिना तो संसार अन्धा ही है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कल्हण की दृष्टि में सुकवि समाज का नेत्र ही है।

कल्हण स्वभावतः शिक्षक था। उसके कवि के व्यक्तित्व में उपदेशक की गहरी छाप थी। अपने समय के राजाओं को शिक्षा देते हुए वह कहता है—

ये प्रजापीडनपरास्ते विनश्यन्ति सान्वयाः।

नष्टं तु ये योजयेयुस्तेषां वंशानुगाः श्रियः ॥ १.१८

समाज को कष्ट देने वालों के प्रति विद्रोह की भावना उत्पन्न कराने में वह अग्रसर था। उसने राजनीति के उस सिद्धान्त की पुनरुत्थानिका की है, जिसके अनुसार—

जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनश्च ताः।
रक्षांस्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ ८.८६

अर्थात् दूसरों का विनाश करने वाले, पापी और दूसरों का धन हड़पने वाले लोग राक्षस-रूप हैं। उनसे प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। संसार को देखते-देखते कल्हण स्त्री-पुत्रादि के लिए धन संग्रह करने वालों की अन्धता का उपहास करते हुए कहता है—

अन्विष्यन्ति दृढत्य एव तरला गत्यन्तरं योषितो।
योगक्षेमकथां चितान्तिकगता एवात्मजाः कुर्वते।
अन्येषां शतशोऽवसानसमये चर्चा विचार्येदृशीं।
स्त्रीपुत्राविकृते कुकर्मभिरहो संचिन्वतेऽर्थं जडाः ॥ ७.७२४

यद्यपि उपकारियों का लोग उपकार नहीं मानते,[1] फिर भी मानवता में उदारता की सरिता प्रवाहित करना ही कल्हण का उद्देश्य है। कल्हण ने एक हलवाहे की दानवृत्ति की प्रशंसा के प्रसंग में बताया है—

१. राजत० ३.३०२

सत्क्षेत्रप्रतिपादितः प्रियवचो बद्धालवालावलिः।
निर्दोषेण मनःप्रसादपयसा निष्पन्नसेकक्रियः ॥
दातुस्तत्तदभीप्सितं किल फलन्कालेऽतिबालोऽप्यसौ।
राजन्दानमहीरुहो विजयते कल्पद्रुमादीनपि ॥ ४.२३४

स्वाभिमानी कल्हण ही राजसेवकों की उदात्तवृत्ति का इन शब्दों में पर्यालोचन कर सकता था—

पिण्डस्पृहां परित्यज्याहंकृता शिक्षिताः क्वचित्।
तावन्न वीततमसः श्ववृत्तिमनुजीविनः ॥ ५.१३३

वह राजसेवकों की पूँछ डुलाने वाली प्रवृत्ति के विरुद्ध था।

कल्हण की हास-प्रियता इतिहास जैसे ग्रन्थ में भी झलकती है। पर्वगुप्त नामक मन्त्री के दाढ़ी रँगने पर क्या सुन्दर चुटकी ली है—

करभाङ्गरुहापिङ्गे श्मश्रुणि क्षितिपालवत्।
स ददौ कुङ्कुमालेपं वर्षः शाद्वलविस्तृते ॥ ६.१२०

सेना के आक्रान्त होने पर वस्त्र रहित लोग पशुओं की भाँति भागते हैं—यह वर्णन परिहास-प्रिय कल्हण की लेखनी से ही प्रसूत हो सकता था। कोई बानर, तो कोई हाथी की भाँति भाग रहा था। कल्हण ने उनकी पशुता (शत्रुओं के द्वारा हाँके जाने पर) पर छींटा कसा है—

किं नामोदीर्यतेऽमन्त्री स नासीत्तत्र कश्चन।
तिरश्चेव विपर्यस्तधैर्येर्न पलायितम् ॥ ८.१८.८६

वह शिव का उपासक होते हुए भी शैवतन्त्र की कुरीतियों के प्रति अनास्था रखता था और बौद्ध संस्कृति की अहिंसा का समर्थक था।

कल्हण का जन्म ११०० ई० के लगभग काश्मीर में हुआ था।

कथावस्तु

राजतरंगिणी में काश्मीर के राजाओं का वास्तविक इतिहास प्रस्तुत करना कवि का उद्देश्य रहा है।[१] कल्हण के शब्दों में राजतरंगिणी का वर्ण्य-विषय है—

इयं नृपाणामुल्लासे ह्रासे वा देशकालयोः।
भैषज्यभूतसंवादिकथा युक्तोपयुज्यते ॥ १.२१

"राजाओं का उल्लास अथवा देश-काल का ह्रास हो, इन दोनों के सम्बन्ध में प्रचलित पूर्वकालीन समान कथाओं को राजतरंगिणी परिशोधित करेगी।"

१. राजत० १.९

कल्हण का उद्देश्य केवल राजाओं का नीरस वृत्तान्त ही प्रस्तुत करना नहीं है, अपितु प्रजा के विषय में समसामयिक चर्चा करना भी कवि का प्रमुख मन्तव्य रहा है। इस राजतरंगिणी में केवल कुछ दिनों की या किसी छोटे प्रदेश की अथवा कुछ व्यक्तियों की ही चरित-गाथा नहीं है, अपितु इसमें एक पूरे समाज का सहस्रों वर्षों का चित्रात्मक वर्णन है।

शैली

सरल भाषा

राजतरंगिणी के आरम्भ में ही कल्हण ने बता दिया है कि इतिहास-ग्रन्थ को चिरस्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे सरल शैली में उपनिबद्ध किया जाय। कल्हण के समक्ष एक अच्छे इतिहास-लेखक सुव्रत का उदाहरण था। सुव्रत ने अनेक विस्तीर्ण ग्रन्थों का संक्षेप करते हुए जो इतिहास लिखा, उसके कारण पूर्वकालीन ग्रन्थ तो मिट गये पर सुव्रत की रचना भी कठोर होने के कारण अमरता न प्राप्त कर सकी।[1] वास्तव में कल्हण की कृति अतिशय सरल और विषयानुरूप पदावली से समायुक्त है। सरल पदावली का ऐसा गुम्फन केवल महाभारत में ही दृष्टिगोचर होता है। अपनी वाणी के माधुर्य का निदर्शन कवि ने किया है—

आलोक्य शारदां देवीं यत्र सम्प्राप्यते क्षणात्।
तरङ्गिणी मधुमती वाणी च कविसेविता॥ १.३७

"शारदा देवी का दर्शन करके वह मधुमती वाणी मिलती है, जो कवि के लिए उचित है।"

शान्त रस

राजतरंगिणी में शान्त रस का प्रवाह निर्झरित हुआ है। शान्त रस को कल्हण रसराज मानते हुए कहते हैं—

क्षणभङ्गिनि जन्तूनां स्फुरिते परिचिन्तिते।
मूर्धाभिषेकः शान्तस्य रसस्यात्र विचार्यताम्॥ १.२३

रस का निर्वाह इस ग्रन्थ में सर्वत्र हुआ है, चाहे जहाँ चाहिए तरंगिणी में श्रोत्रशुक्तिपुट से रसपान करें।[2]

अलंकार

अलङ्कारों का प्रयोग करने में कल्हण को अनुपम कौशल प्राप्त था। उसके उपमान नये-नये हैं और ऐसे क्षेत्रों से संगृहीत हैं, जहाँ अन्य कवियों की दृष्टि साधारणतः

१. राजत० १.११–१२। २. राजत० १.२४

आती ही नहीं। अलङ्कारों के क्षेत्र में कल्हण की यह कान्ति अनुकरणीय रही है। अलंकारों के द्वारा प्रभावशाली चित्रों को उपस्थित करने में कवि निपुण है। अलंकार के लिए कवि प्रकृति से मनोरमतम संचयन करता है। उदाहरण के लिये देखिये—

उदये संविभजे स भृत्यान् काराविनिर्गतान्।
मधौ प्रफुल्लः शाखीव भृंगान् भूविवरोत्थितान्॥ ७.८६३

"राजा हर्ष ने अभिषेक होने पर भृत्यों पर वैसे ही अनुग्रह किया, जैसे वसन्त ऋतु में कुसुमित वृक्ष पृथिवी के छिद्रों से निकले हुए भृङ्गों का।"

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति आदि अलंकार कवि को प्रिय थे।

वर्णन

राजतरंगिणी में प्रेरणा-प्रद वर्णनों की प्रचुरता है। इनमें कवि ने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षिणी दृष्टि का स्पष्ट परिचय दिया है। उदाहरण के लिए कश्मीर का वर्णन लें—

विजीयते पुण्यबलैर्बलैर्यन्नु न शस्त्रिणाम्।
परलोकात्ततो भीतिर्यस्मिन्निवसतां परम्॥ १.३९
विद्यावेश्मानि तुङ्गानि कुङ्कुमं सहिमं पयः।
द्राक्षेति यत्र सामान्यमस्ति त्रिदिवदुर्लभम्॥ १.४२
त्रिलोक्यां रत्नसूः श्लाघ्या तस्यां धनपतेर्हरित्
तत्र गौरीगुरुः शैलो यत्तस्मिन्नपि मण्डलम्॥ १.४३

अनोखा वर्णन है दरिद्रता का। कश्मीर के देश की जाड़े की रात है। दरिद्रता के कारण भोजन भी नहीं मिला है। रात लम्बी है। काटते नहीं कटती। इसी बात को कल्हण के शब्दों में सुनिये—

शीतेनोद्धुषितस्य माषशिमिवच्चिंतार्णवे मज्जतः
शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता सन्त्यज्य दूरं गता
सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥ ३.१८१

प्राणसंशयग्रस्त हर्ष का वर्णन करते हुए कवि ने उसके दो भाइयों को बाज के समान और हर्ष को उनके बीच पंखहीन पक्षी बताते हुए कहा है—

स्वदेहमामिषीभूतं स भ्रात्रोः श्येनयोरिव ।
निष्पत्रवल्लिप्रतिमो ररक्षावंगतश्चरन् ।। ७.८२३

उपर्युक्त सालङ्कार वर्णन चित्रात्मक कोटि के अन्तर्गत आते हैं । इसमें न केवल शब्दों के द्वारा शारीरिक परिणामों का ज्ञान कराया गया है, अपितु मानसिक वृत्तियों का चित्र अङ्कित कर दिया गया है ।

अन्य कवियों ने राजा के राजोचित वैभव को सर्वोपरि वर्णनीय मानकर उसके परिच्छदों का वर्णन करने में अपनी सफलता मानी, पर कल्हण का राजा चन्द्रापीड तो ऐसा है[1], जिसके विषय में कहा जाय—नाभिमानः शुभाथिनाम् । बस इसी प्रसंग में इस राजा के सत्व की परीक्षा चर्मकार के दन्तांशु-सूत्रों से कवि करा देता है ।[2] राजा को यदि महान् देखना चाहते हैं तो उसकी मुठभेड़ एक चमार से कराइये, जो उस राजा से कह सके—

कङ्कणाङ्गदहारादिशोभिनां भवतां यथा ।
निष्किञ्चनानामस्माकं स्वदेहेऽहंक्रिया तथा ।। ४.६६
देवस्य राजजान्येषा यादृशी सौधहासिनी ।
कुटी घटमुखानद्धतमोऽरिस्तादृशी मम ।। ४.७०

वही राजा चन्द्रापीड कल्हण की दृष्टि में 'राज-चूडामणि' है । 'स्तूयमानः त्रपां दधे' ऐसा चन्द्रापीड जैसा राजा पूर्ववर्ती कवियों ने न तो ढूंढा और न उनको मिला ही ।

पूर्ववर्ती कवियों ने जहाँ ऋतु-वर्णन के प्रसङ्ग में बहुविध नायिकाओं की कामुकता-पूर्ण और अवर्णनीय चेष्टाओं का निदर्शन किया है, वहाँ कश्मीरवासी कल्हण शिशिर का वर्णन करते हुए कहता है—

ततः प्रावर्तत स्फारनीहारलववाहिभिः ।
दहन्निवाङ्गं प्रालेयपवमानैर्हिमागमः ।। ३.१६८
सन्ततध्वान्तमिषतस्तीव्रशीतवशीकृताः ।
आशाश्चकाशिरे नीलनिचोलाच्छादिता इव ।।३.१६६
शीतार्त्या द्युमणावौर्वदहनोष्माभिलाषतः ।
द्रुतं यातीव जलधिं दिनानि लघुतां ययुः ।।३.१७०

घने कुहरे के कणों की धारा वाली बर्फीली वायु से अङ्गों को जलाती हुई शिशिर ऋतु आ पहुँची । सर्वत्र फैले हुए अन्धकार के बहाने मानो नील कम्बल से आच्छादित

१. राजत० ४.७४ । २. वही ४.६५

हुई-सी दिशायें शीत से वशीभूत हुई-ही प्रकट होती थीं। शीत से आर्त होकर सूर्य शीघ्र ही बडवानल की उष्णता प्राप्त करने के लिए मानो समुद्रोन्मुख होता है—ऐसी परिस्थिति में दिन भी छोटा हो गया।)

इस प्रकार का सात्त्विक वर्णन आर्ष-परम्परा का परिचायक है। कल्हण इस आर्ष पद्धति का अनुयायी था।[1]

सन्देश

यदि आप देखना चाहते हैं कि राजपद की तुच्छता क्या है, यदि आपकी समझ में नहीं आया है कि पतन का सर्वोपरि द्वार राजा होता है तो आपको किसी विरक्त भर्तृहरि के पास नहीं जाना है। आप कवि कल्हण के पास जाइये। वह कल्हण आपसे कहेगा—राजाओं का समय बालकों की भाँति व्यतीत होता है। धूर्त और विट विचारशून्य राजाओं को परिहास करते हुए कुत्तों के समान छू-छू करके प्रोत्साहित एवं संघर्षों के लिए उत्तेजित करते हैं।[2] राजपद को धिक्कार है।[3]

राजतरंगिणी में प्रायशः राजाओं का उदाहरण लेकर असंख्य स्थानों पर बतलाया गया है कि सम्पत् और विपत् का प्रधान निर्माता दैव हो सकता है, जिसकी अनुकूलता का कोई ठिकाना नहीं है—

दैवस्याम्बुमुचश्च नास्ति नियमःकोप्यानुकूल्यं प्रति।
व्यञ्जन्यः प्रियमुत्कटं घटयते जन्तोः क्षणादप्रियम्॥
क्षिप्रं दीर्घनिदाघवासरविपत्सन्तापनिर्वापणम्।
प्रावृष्कृत्य वनस्पतेः प्रकुरुते विद्युद्विसर्गं च यः॥ ४.५४५

(दैव और बादल का अनुकूल ही बने रहने का कोई नियम नहीं है। दैव बहुत अधिक प्रिय दिखाते हुए प्राणी का अनर्थ क्षण भर में ही कर देता है। बादल भी चिरकालीन ग्रीष्म के दिनों की विपत्तिपूर्ण गर्मी को मिटाते हुए ही वनस्पति के ऊपर बिजली गिरा देता है।)

---

१. राजशेखर ने इसे आर्ष वर्त्म बतलाते हुए कहा है—
'प्रस्थिता नानुरुन्धन्ति श्रोतृचित्तानुवर्तनम्' अर्थात् सत्य का उद्घाटन करते हुए यह नहीं सोचना है कि पाठक का मनोरञ्जन करा रहा हूँ कि नहीं।

२. राजतरंगिणी ११.९—११२०

३. धिग्राज्यं यत्कृते पुत्राः पितरश्चेतरेतरम्।
शङ्कमाना न कुत्रापि सुखं रात्रिषु शेरते॥८.
इसी आशय का अन्य श्लोक ८.११४६ है।

कल्हण का कहना है कि तुम्हारे अभिमान के कारण स्थायी नहीं हैं। जिनपर तुम इतराते हो, वे क्षण-भंगुर हैं। काल-चक्र ही प्रबल है। तभी तो—

ह्यः पश्यद्भिरकारणस्मितसितं पाथोजकोशाकृति।
श्मश्रूद्भेदकठोरमद्य रभसादुत्तप्ततास्रप्रभम्॥
प्रातर्जीर्णविलक्षकेशविकृतं वृद्धाजशीर्षोपमम्।
वक्त्रं नः परिहस्यते ध्रुवमिदं भूतैश्चिरस्थायिभिः॥ ३.३८६

"कल तो अकारण हास्य से प्रसन्न और कमल-कोश की आकृति वाला मुख था आज सहसा तपाये हुए ताँबे के समान कठोर दाढ़ी उस पर निकल पड़ी। कल सवेरे ही बूढ़े, कुरूप, केश के विकार से विकृत बूढ़े बकरे के सिर के समान उस मुख को देखते हुए स्थविर विद्वानों के द्वारा अवश्य ही हँसी नहीं रोकी जाती।"

मनुष्य के पास जो कुछ है—धन, शरीर और शक्तियाँ इन सबका यथाशीघ्र लोक-कल्याण के लिए नियोजन ही सर्वोपरि कर्तव्य है। कल्हण का कहना है—कहीं ये सब क्षीण हो गये तो परोपकार का अवसर ही नहीं मिलेगा—

अयमवसर उपकृतये प्रकृतिचला यावदस्ति सम्पदियम्।
विपदि सदाभ्युदयिन्यां पुनरुपकर्तुं कुतोऽवसरः॥ ५.२६

(यह उपकार का अवसर है, जब तक स्वभावतः चञ्चल सम्पत्ति तेरे पास है। विपत्ति के सदा बढ़ते रहने पर फिर उपकार का कहाँ अवसर?) क्योंकि स्थिराः कस्य विभूतयः[1]। धन को दबाये बैठे रहना साँप की भाँति धन रखना है। अपने भी न खाना और दूसरों को भी न देना यह सर्पता नहीं तो और क्या है? प्राण छोड़ कर भी उपकार करो।[2]

मूर्खता है किसी को छोटा समझकर उसका अनादर करना और किसी को बड़ा समझकर उसके पीछे पूँछ डुलाना। सत्य तो है कि—

कालेन याति क्रिमितां महेन्द्रो महेन्द्रभावं क्रिमिरभ्युपैति।
अयं प्रतीयानयमप्रतिष्ठ इत्येव निष्ठाऽनुचितोऽभिमानः॥ ७.१२६६

कल्हण ने शान्तिमय और उदात्त जीवन बिताने के लिए सुशील बने रहने का सन्देश दिया है। स्वार्थपूर्ण जीवन की हाय-हाय का उसने सर्वत्र विरोध किया है।

१. राजत० ७.८३३
२. वही ८.६६१

कल्हण की प्रशंसा पाश्चात्य विद्वानों ने विशेष रूप से की है, तथा कल्हण इतिहास-प्रणयन में पूर्ण सफल है। उन्होंने भारतीय इतिहास की अभिनव शृंखलाओं को सामने रखा है। वे मनोविज्ञान के निपुण पारखी थे। सत्य के सर्वोच्च पुजारी थे कल्हण और इतिहास की घटनाओं से मानव को चेतना प्रदान करने की लालसा उनके मानस में अदम्य थी।

राजतरंगिणी के अध्ययन से मानवजीवन की रहस्यात्मक प्रवृत्तियों को समझा जा सकता है।

अध्याय १६

श्रीहर्ष

कवि-परिचय

श्रीहर्ष नैषधीय चरित के रचयिता हैं। वे कान्यकुब्जेश्वर के सभापण्डित थे और उन्हें राजा ताम्बूलद्वय और आसन देकर नित्य समादृत करता था।[1]

सर्ग के प्रत्येक अन्तिम श्लोक में श्रीहर्ष ने अपने पिता का नाम श्रीहीर और माता का नाम मामल्लदेवी बतलाया है—

> **श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतम्।**
> **श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्॥**

श्रीहर्ष के समय कान्यकुब्ज का नरेश विजयचन्द्र या जयचन्द था। जयचन्द का समय ११६९–११९५ ई० था। अतः श्रीहर्ष का समय बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

किंवदन्तियों के अनुसार श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर का प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें इनके पिता हार गये थे। मरते समय तक उदयनाचार्य से प्रतिशोध की भावना होने पर भी वे कुछ कर न सके। पुत्र को यह बतला कर वे मर गये। श्री हर्ष ने तपस्या से अपराजेय पाण्डित्य पाया और विजयचन्द्र की सभा में जाकर राजा की स्तुति की—

> **गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च**
> **मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।**
> **अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-**
> **रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्रीः॥**

"गोविन्द का पुत्र होने के कारण, शरीर सुन्दर होने से तरुणियाँ इस राजा को कामदेव न समझ लें। कामदेव तो संसार को जीतने के लिये स्त्रियों को अस्त्र बनाता है और यह राजा युद्ध में लड़ने आये हुए अस्त्रधारी शत्रु-वीरों को पराजित कर स्त्री के समान पुरुषत्वरहित बना देता है।"

नैषधीयचरित

बारहवीं शती के उत्तरार्ध में नैषधीयचरित की रचना श्रीहर्ष ने की। नैषधीय चरित अनेक दृष्टियों से संस्कृत का अनुपम महाकाव्य है। यह महाकाव्य रसों

---

१. "ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्"। नैषध० २२.१५३

के परिपाक से पूर्णरूपेण समुन्नत है, काव्य के बहुविध उपादान—अलंकार, व्यंजना, गुण, रीति आदि इसमें प्रकाम सौष्ठव से विराजमान हैं और काव्योचित कल्पनाओं का इसमें विशेष उत्कर्ष विद्यमान है। यही कारण है कि इस महाकाव्य को अमर प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी। फिर भी नैषधीयचरित को भारत के सर्वोच्च काव्य-ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया गया है। इसका कारण श्रीहर्ष में प्रतिभा की कमी नहीं है, अपितु प्रतिभा का दुरुपयोग है। युग की प्रवृत्तियाँ—कम-से-कम राजधानी के रसिकों के सम्बन्ध में तो यह नितान्त सत्य है—कामुकतापूर्ण थीं। श्रीहर्ष ने कन्नौज के राजा का आश्रय पाया था। बस, राजधानी का प्रभाव था कि रसराज को उनकी रचना में सतत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। कवि ने इस काव्य को शृंगाररूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है।

नैषधीयचरित अपनी रचना के युग में ही रसिक समाज में प्रायः समस्त उत्तर भारत में समादृत हुआ। सर्वविदित किंवदन्ती है कि काव्य-मर्मज्ञ मम्मट ने इस ग्रन्थ को देखकर व्याजस्तुति की कि 'इसमें काव्य के सभी दोष विद्यमान हैं, जिनके उदाहरण मुझे असंख्य ग्रन्थों से ढूँढ़ने पड़े हैं।' इस उक्ति से इतना तो सिद्ध ही होता है कि मम्मट ने इसे इस योग्य तो समझा था कि भविष्य के सैकड़ों वर्षों तक यह ग्रन्थ रसिकों के बीच अपने गुणों से समादृत होकर मम्मट के बताये हुए दोषों का उदाहरण प्रस्तुत करता रहेगा। वास्तव में दोषों की स्थिति गुणों के बीच ही तो होती है।

कथासार

नैषधीयचरित की कथावस्तु महाभारत के नलोपाख्यान से ली गई है। इसके अनुसार विदर्भ के राजा भीम की कन्या निषध के राजा नल के रूप और गुण की ख्याति सुन कर उसके प्रति अनुरक्त हो गई। नल भी दमयन्ती का परिचय पाकर उससे प्रेम करने लगा था। दमयन्ती के अनुराग से विह्वल होकर नल अपना मनोरंजन करने के लिए वन-विहार के लिए गया तो उसने वहाँ सुनहला हंस क्रीड़ा करने के लिए पकड़ लिया। हंस ने नल को योग्य पात्र समझ कर दमयन्ती का वर्णन किया और फिर दमयन्ती के पास जाकर उसके सामने नल का वर्णन किया। दमयन्ती का स्वयंवर हुआ। उसमें नल जा रहा था, पर उसको मार्ग में अग्नि, वरुण, यम और इन्द्र भी स्वयंवर में दमयन्ती को प्राप्त करने के लिए आते हुए मिले। नल को उन्होंने अपना काम बनाने के लिए दूत बनाया। नल ने इस दुष्कर कर्म को सफलतापूर्वक करने का अपना निश्चय कार्यान्वित किया, पर अब अन्त में दमयन्ती नल के अतिरिक्त देवताओं का नाम सुनते-सुनते मूर्च्छित होने वाली ही थी तो नल को प्रकट होना पड़ा।

स्वयंवर में सरस्वती ने स्वयं राजाओं का परिचय देने का काम किया। इधर देवताओं ने नल का रूप अपना लिया। दमयन्ती के लिए समस्या थी कि नल को

चाहते हुए भी वहाँ चार अन्य नल-रूपधारी देवता थे। दमयन्ती ने अन्त में नल को देवलक्षणों से विरहित देख कर पहचान लिया और विवाह हुआ।

देवताओं को अपनी पराजय से भारी ग्लानि हुई। उन्हें मार्ग में कलि मिला। कलि को उन्होंने नल की दुर्दशा करने के लिए नियुक्त कर दिया।

इधर नल विवाह के पश्चात् भोग-विलास में डूबा हुआ था, उधर कलि उसे परास्त करने का अवसर ढूँढ़ रहा था। बस, यहीं कथा समाप्त होती है।

उपर्युक्त कथानक के माध्यम से वर्णनों का कलात्मक संयोजन श्रीहर्ष ने किया है। वर्णन के प्रमुख विषय हैं—नल, दमयन्ती, उपवन-विहार, हंस, संवाद, दमयन्ती की विरहातुर अवस्था, स्वर्ग-गमन, देवताओं का अनुराग, दमयन्ती-विलाप, स्वयंवर, देव-पूजन, नल-दमयन्ती का शृंगार, बारात, परिहास, कलि, प्रभात, नल के साथ सखियों का परिहास और नल-दमयन्ती का चन्द्र-बिम्ब-वर्णन।

कवि का व्यक्तित्व

श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर काशी के राजा विजयचन्द्र की राजसभा के पण्डित थे। उनकी माता मामल्लदेवी शुद्ध सात्त्विक वृत्ति की आराधनीय विदुषी थीं। अपनी विद्वता के प्रकाम रूप से विकसित होने पर श्रीहर्ष ने कान्यकुब्ज प्रदेश की राजसभा को अलंकृत किया। श्रीहर्ष का कश्मीर देश में विशेष सम्मान था। इससे प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष ने उस देश को भी अपनी काव्य-रचना की प्रेरणा को स्फुरित करने के लिए कभी-न-कभी अवश्य ही चुना था।

श्रीहर्ष कोरे कवि न थे, अपितु सर्वशास्त्राचार्य थे और सबसे बढ़कर दार्शनिक आचार्य थे। उनका खण्डन-खण्ड-खाद्य आज भी अपनी कोटि की सर्वोच्च रचना है। दर्शन और काव्य-रचना की प्रवृत्तियों का एक ही व्यक्ति में सामंजस्य भारतीय काव्येतिहास में अनुपम ही है। श्रीहर्ष ने स्वयं कहा है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले।
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती॥

श्रीहर्ष कोरे दार्शनिक भी नहीं थे। वे तो सच्चे योगी थे, जिन्हें समाधि की अवस्था में ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती थी, जैसा कवि ने स्वयं कहा है—

यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्॥ २२.१५५

नैषध में कवि का व्यक्तित्व पूर्णरूपेण झलकता है। कवि कुछ स्थलों पर अपना विचार स्वयं प्रकट करता है—

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा
सानौचिती चेतसि नश्चकास्तु ।। ३.६७

कहीं-कहीं पर तो कवि उत्तमपुरुष के माध्यम से अपनी रुचि कहने में संकोच नहीं करता।

अन्यानुरागविरसेन विलोकनाद्वा
जानामि सम्यगविलोकनमेव रम्यम् ।।११.६३

किसी अन्य में अनुराग होने के कारण किसी दूसरे व्यक्ति को नीरस दृष्टि से देखने की अपेक्षा, मेरी समझ में, उसे न देखना ही उचित होता है।

कवि की दार्शनिकता

श्रीहर्ष को सभी दर्शनों का ज्ञान था। उनका दार्शनिक ज्ञान नितान्त प्रौढ़ था। वे अद्वैतवादी दार्शनिक थे। 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नामक विशाल ग्रन्थ में उन्होंने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। 'नैषध' का सम्पूर्ण सत्रहवाँ सर्ग दार्शनिकता से ओत-प्रोत है। इसमें एक मात्र दर्शन की ही चर्चा की गई है। यह सर्ग दर्शन का एक अलग ही छोटा-सा ग्रन्थ प्रतीत होता है। इसमें चार्वाक दर्शन का खण्डन सफलतापूर्वक मिलता है। श्रीहर्ष किसी दूसरे के मत को खण्डन करते समय अपने प्रौढ़ पाण्डित्य का प्रदर्शन करते हैं।

नैषध में न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है।[1] हर्ष अत्यधिक मनोरम कल्पना के माध्यम से नल-दमयन्ती के दो परमाणु-रूप मनों के मिलने से एक नयी सृष्टि का निर्माण कर सकते हैं। हंस दमयन्ती से कहता है—

अन्योन्यसंगमवशादधुना विभातां
तस्यापि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे ।।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनु प्रवृत्त-
मादाविवद्वयणुककृत्परमाणुयुग्मम् ।। ३.१२५

"इस समय परस्पर मिलकर नल के और तुम्हारे दोनों के मन अपनी विलास-कलाओं को व्यक्त करते हुए सुशोभित हों। मानो कामदेव के शरीर का पुनः निर्माण करने के लिए द्वयणुक बनाने में दो परमाणु प्रवृत्त हुए हैं"।

वैशेषिक दर्शन को उलूक-दर्शन कहते हैं। उलूक को अन्धकार—निरूपक मानकर नल प्रिया दमयन्ती से कहते हैं—

१. नैषध० २·३२, ३·१७, ३·३६।

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां
वैशेषिकं चारुमतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्
क्षमं तमस्तत्त्व-निरूपणाय ।। नै० २२.३५

"हे सुन्दरि ! इस तमः (अन्धकार)के विषय में मुझे वैशेषिकों का सिद्धान्त अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है, क्योंकि वे ही तम के निरूपण में समर्थ हैं और यही उचित भी है क्योंकि वैशेषिक दर्शन को उलूक-दर्शन कहते भी हैं। उलूक के बिना तम का उचित निरूपण कर ही कौन सकता है।"

महाकाव्य में पूर्व-मीमांसा[1] सांख्ययोग[2], वेदान्त[3] आदि दर्शनों के सम्बन्ध में विचार किया गया है। प्रो० हैन्दिक्वी के अनुसार—

"नैषध में प्रायः सभी दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है, जिससे कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है, मानो श्रीहर्ष नैषध को विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों का एक परिचय-ग्रन्थ बनाना चाहते थे।[4]"

श्रीहर्ष अद्वैत दर्शन को मानने वाले थे, जिसका प्रतिपादन उन्होंने इस प्रकार किया है—

साप्तुं प्रयच्छति न पक्षचतुष्टये तां
तल्लाभशंसिनि न पञ्चमकोटिमात्रे ।
श्रद्धां दधे निषधराड् विमतौ मताना-
मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः ।। १३.३६

काव्य-कला

श्रीहर्ष के प्रशंसकों ने माघ और भारवि की परस्पर तुलना से ऊबकर मानो उनके पक्षपातियों को शान्त करने के लिए ही कहा था—"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।" अर्थात् तुम लोग माघ और भारवि को छोड़ो और श्रीहर्ष की रचनाओं का पाठ करो। वास्तव में जिस काव्य-विधान को भारवि ने औचित्यपूर्ण रूप दिया और माघ ने जिसे अतिशयता प्रदान की, उसको श्रीहर्ष ने चरमोत्कर्ष प्रदान किया है। कथावस्तु को गौणतम स्थान देना और कई सर्गों में आद्यन्त वर्णन देते हुए उनमें कथानक

१. नैषध० १०·८१, १७·१६,
२. ३·१४, ६·४६
३. ३·३-४, ५·८, ६·१२१,
४. नैषध० प्र० ३६३.

की घटनाओं की चर्चा तक न करना—यह महाकाव्य का परम लक्षण ही मान लिया गया था।

श्रीहर्ष का काव्य-जगत् असीम है। उनके शब्दों और भावों का भण्डार कल्पना और अनुमान की परिधि से भी परे हैं। कवि के अलंकार-विन्यासों से प्रतीत होता है कि उन्होंने वास्तविक और कल्पित जगत् का पर्यवेक्षण दैवी नेत्रों से किया था।

जगत् में जो कुछ पेशल और मार्दव गुणों से सम्पन्न है, उसके असाधारण और मनोरम पक्षों का प्रत्यक्ष निदर्शन करा देन के लिए कवि मानो शब्दों का इन्द्रजाल रचता है। यही उसकी विशिष्ट कला है। जिस प्रकार नदी की धारा में बहने वाला प्राणी अपनी गति खो देता है, उसी प्रकार श्रीहर्ष की काव्य-निर्झरिणी के प्रखर प्रवाह में सहृदय पाठक का अपना तत्त्वालोचन विलुप्त हो जाता है। उसे श्रीहर्ष की आँखों से ही देखना है।

श्रीहर्ष ने अपनी रचनाओं को ज्ञानलवदुर्विदग्ध लोगों के लिए नहीं लिखा है। उनका काव्यस्तर इतना ऊँचा है कि वहाँ तक पहुँचने के लिए पाठक को पहले से ही विशेष साधना कर लेनी चाहिए।

नैषधीयचरित के कथानक को काव्यमय बनाने के लिए श्रीहर्ष ने महाभारत के नल-दमयन्ती के प्रकरण में पर्याप्त परिवर्तन किया है। महाभारत के अनुसार देवता का सन्देश लेकर जब नल दमयन्ती के पास पहुँचे तो उन्होंने आरम्भ में ही अपना परिचय दे दिया। नैषधीयचरित के अनुसार नल ने अपने को तब तक निगूढ़ रखा, जब तक उन्हें दौत्य करना था। कवि ने जिस सफलता से नल के द्वारा दौत्य कराया है, वह अन्यथा असम्भव होता।

शैली

श्रीहर्ष की शैली का परिचय उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—'कविकुलादृष्टाध्वपान्थ' अर्थात् प्राचीन कवियों के द्वारा न देखे गये हुए मार्ग का पथिक इससे भी बढ़कर 'अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणिति' अर्थात् रसानुभूति की नई पद्धति का आविष्कार करने वाली वाणी। काव्य की रसात्मकता का परिचय श्रीहर्ष ने स्वयं कराते हुए लिखा है—

'यत्काव्यं मधुवर्षि' अर्थात् जो काव्य मधुरता की वर्षा कराने वाला है और 'शृङ्गारामृतशीतगुः' अर्थात् जो काव्य शृङ्गार-रूपी अमृत की वर्षा करने के लिए चन्द्रमा है। प्राचीन आलोचकों के मत से 'नैषधं विद्वदौषधम्' है अर्थात् विद्वानों को भी इसका काव्य-रहस्य ढूँढ़ना ही होगा।

श्रीहर्ष की शैली की जितनी भी प्रशंसा, शास्त्रीय दृष्टि से की जाय, कम है। कवि का अप्रतिम अधिकार प्रत्येक शब्द के पूर्ण रूप के ही ऊपर नहीं था, अपितु उसके अंग-प्रत्यङ्ग पर भी था। किसी एक ही श्लोक में शब्द-गुम्फन इस प्रकार कर देना कि

उसके पाँच अर्थ निकलें—मानवीय कला नहीं, अपितु अलौकिक विज्ञान है। श्लेष और यमक तो पद-पद पर श्रीहर्ष के काव्य का चरण-चुम्बन करते हैं। वास्तव में कविता हृदय के उद्गार-रूप में प्रकट होनी चाहिए। प्राचीन युग के कवियों ने कदाचित् देखा कि सरस काव्य के द्वारा हृदयावर्जन करने वाले ऐसे असंख्य कवि हैं, जिनकी कोमलकान्त पदावली प्राचीन युग में गली-गली में सुनी जा सकती थी। फिर तो ऐसी कविता की ओर महाकवियों की पूछ हुई, जिनमें हृदय के भावस्फुरण के अतिरिक्त सभी शास्त्रों के पाण्डित्य का निदर्शन हो। कालिदास की रचना में इस प्रवृत्ति का बीजारोपण हुआ, भारवि और माघ ने इसे संवर्धित किया और श्रीहर्ष ने इसका चूडान्त परिपाक किया। सम्भव है, आज के पाठकों को श्रीहर्ष की इस अद्वितीय सफलता के प्रति अपने ही ज्ञान और प्राचीन परिपाटी के प्रति प्रेम की उत्कृष्टता की कमी होने के कारण विराग हो जाय, पर अपने युग का तो श्रीहर्ष सभी पण्डितों के लिए मूर्तिमान् हर्ष ही था।

काव्य के शाश्वत मानदण्डों की दृष्टि से देखा जाय तो यह निर्विवाद है कि श्रीहर्ष का काव्य विषय के प्रतिपादन और शैली की क्लिष्टता के कारण कभी भी सर्वोच्च समादर के लिए नहीं हो सकता। श्रीहर्ष की कविता-कामिनी अलंकारों से इतनी लदी और प्रच्छन्न है कि उसका वास्तविक स्वरूप अद्वितीय रस-नायक को ही आनन्द की परिधि में प्राप्तव्य है। पर काव्य तो गिने-चुने विद्वानों की वस्तु नहीं है। श्रीहर्ष ने अपने प्रगाढ़ पाण्डित्य के गर्व में इसी सत्य को कभी भी अपनी आडम्बरपूर्ण शैली की जन्मदात्री विद्वता के ऊपर अंकुश नहीं लगाने दिया। इस प्रकार श्रीहर्ष की शैली में प्रकृति के स्वरूप को स्थान नहीं मिला और न कवि को प्राकृत जन की ओर दृष्टिपात करने का अवसर मिला।

अलंकार

श्रीहर्ष की कल्पनाओं से प्रायः सभी युगों के कवि बनने के इच्छुक युवक लाभ उठा सकते हैं। कल्पनाशक्ति का सर्वोच्च व्यायाम संस्कृत साहित्य में यदि कहीं है तो वह श्रीहर्ष की रचना में। इसी कल्पना से प्रायः सभी अर्थालंकारों का आविर्भाव होता है। उदाहरण के लिए चन्द्र के विषय में कवि की उक्ति देखिये—

निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिः,
मुधाविधुर्वाञ्छति लाञ्छनोन्मृजाम्।
त्वदास्यतां यास्यति तावतापि किं
वधूवधेनैव पुनः कलङ्कितः॥ ९.१४६

"चन्द्रमा अपनी किरणों से मेरे अंगों को जलाकर उसकी भस्म से अपने कलंक को मिटाना चाहता है। वह ऐसा करने पर भी क्या तुम्हारी समानता प्राप्त कर सकेगा? हाँ, उसके ऊपर वधू-वध का एक नया कलंक और लग जायेगा।"

चन्द्र की दशा देखकर ही मानो सूर्य ने संन्यास ले लिया था। कवि की उक्ति है—

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्॥

"यह सूर्य दण्डी स्वामी है। दण्ड लेकर सभी दिशाओं में घूमता रहता है। अब सन्ध्या के समय मानो समुद्र में स्नान करके सन्ध्याकालीन आकाश के काषाय को धारण कर रहा है।"

अलङ्कारों के प्रयोग में श्रीहर्ष ने सर्वत्र अपनी क्षमता दिखलाई है। उनकी अलंकार-सम्बन्धी कल्पनायें चामत्कारिक हैं। यथा उत्प्रेक्षा अलङ्कार—

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं,
श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे,
कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे॥ ३.३३

हंस दमयन्ती से नल की प्रशंसा करता हुआ कहता है "मेरे मुख से अपने मुख को जीतने वाले उस नल के मुख का वर्णन सुनकर चन्द्रमा अत्यधिक लज्जित हुआ और इसी कारण कभी सूर्य-मण्डल में प्रवेश करता है और कभी समुद्र में डूब जाता है और कभी भ्रमण करती हुई मेघ-माला में छिप जाता है।"

इस श्लोक में प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यञ्जना हो रही है। नल का मुख चन्द्रमा से अधिक सुन्दर है। इसी कारण चन्द्रमा नल के सामने नहीं आना चाहता।

श्लेष का आधार लेकर कवि ने दमयन्ती के विरह की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है।

निविशते यदि शूकशिखा पदे,
सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम्।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न ताम्,
अवनिभृत्तु प्रविश्य हृदि स्थितः॥ ४.११

"किसी के पैर में यदि ठूँठ घुस जाता है तो, वह कितना दर्द करता? फिर कोमल शरीर वाली दमयन्ती के हृदय में तो पृथ्वी को धारण करने वाला राजा नल, पर्वत घुस गया तो उसे भला क्यों न व्यथा हो?"

इस श्लोक में जो चमत्कार अभिव्यक्त है, वह 'अवनिभृत्' शब्द के कारण उत्पन्न हुआ है। अवनिभृत् के पर्वत और राजा दो अर्थ होते हैं।

दृष्टान्त का उदाहरण—

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्या-
स्स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहो दोहदसेकशक्ते-
राकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥३.२१

"देवगण ईष्टापूर्त के पुण्य से वशीभूत होकर इस भूलोक में भी स्वर्गीय भोग की रचना करते हैं, क्योंकि वृक्ष भी दोहद-सेक के प्रभाव से असमय में कलिका को उत्पन्न करते हैं"।

वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी,
न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्ली-
माला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥ ३.४६

"परम रमणीय तुम नल के अतिरिक्त किसी के भी समागम के योग्य नहीं हो, क्योंकि अत्यन्त कड़ी कुश की रस्सी से कोमलमल्लिका की माला नहीं गुथी जाती।"

रूपक अलङ्कार का उदाहरण—

संग्रामभूमीषु भवत्यरीणाम्,
अस्त्रैर्नदीमातृकतां गतासु ।
तद्बाणधारापवनाशनानां,
राजव्रजीयैरसुभिस्सुभिक्षम् ॥ ३.२८

"शत्रुओं के रक्त से नदीमातृकत्व को प्राप्त युद्धभूमि में राज-समूह के प्राणों से उस नल की बाणधारा रूपी सर्पों के लिए सुभिक्ष होता है।"

चतुर्थ सर्ग के अन्तिम श्लोकों में आधा श्लोक सखी कहती है और आधा दमयन्ती। वक्रोक्ति की अतिरञ्जना रमणीय है। यथा—

अमृतदीधितिरेष विदर्भजे !
भजसि तापममुष्य किमंशुभिः ?
यदि भवन्ति मृताः सखि चन्द्रिकाः !
शशभृतः क्व तदा परितप्यते ॥ ४.१०४

सखी—हे विदर्भकुमारी दमयन्ती ! यह अमृतकिरण वाला है, इसकी किरणों से क्यों सन्तप्त होती हो ?

दमयन्ती—हे सखि ! यदि चन्द्र की किरणें मृत (नष्ट) हो जातीं, तब कहाँ सन्ताप होता ? अर्थात् चन्द्रमा के अभाव में सन्ताप भी न होता।

अर्थान्तरन्यास, दीपक, उपमा, संकर, अपह्नुति, निदर्शना, अतिशयोक्ति, अनुमान, प्रतीप आदि अलङ्कारों का समीचीन प्रयोग हुआ है। श्रीहर्ष ने जिस प्रकार अर्थालंकारों के प्रयोग में अपनी विशेषता दिखलाई है, उसी प्रकार शब्दालङ्कारों के प्रयोग में भी। अनुप्रास स्वाभाविक रूप में आ गये हैं। कोमल पदावली अनुप्रास से श्रवण-सुखद हो गई है। यथा यमक--

लोकेशकेशवशिवानपि यश्चकार
शृङ्गारसान्तरभृशान्तरशान्तभावान्।
पञ्चेन्द्रियाणि जगतामिषुपञ्चकेन
संक्षोभयन् वितनुतां वितनुर्मुदं वः ॥ ११.२५

"जिस कामदेव ने अपनी शृङ्गारिक लीलाओं से ब्रह्मा, विष्णु और शिव के भी शान्त भाव को जर्जर कर दिया और अपने पाँचों बाणों से जिसने संसारी जीवों की पाँचों इन्द्रियों को क्षुब्ध किया है, वे पंचसायक कामदेव आपको प्रमुदित करें"

श्लोकों की उत्कृष्टता उस समय विशेष रूप से अभिव्यक्त होती है, जब दमयन्ती को वरण करने की इच्छा से उपस्थित देवताओं और नल दोनों के लिए पाँच अर्थ प्रत्येक श्लोक से निकलते हैं। इसे नैषध की पञ्चनली कहते हैं। नल के सामने दमयन्ती खड़ी है। सरस्वती परिचय करा रही हैं—

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या
निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो
यद्येनमुज्झसि वरः कतरः पुनस्ते ॥ १३.३४

"हे विदुषि! राजा नल के वेष में यह देवता है, पृथ्वीपति नहीं! क्या तुझे विश्वास नहीं हो रहा है? तू क्यों वरण नहीं करती! यह नल नहीं है! उसकी आभा मात्र है। यदि तू इसे छोड़ देगी तो फिर तेरा कौन पति होगा?" नल के सम्बन्ध में इस प्रकार अर्थ होगा--

हे विदुषि! नैषधराज के वेष में अपने पति इस राजा को तू क्यों नहीं पहचानती और क्या तेरा विचार इसे जयमाला पहनाने का नहीं है? यदि तू इसे त्याग देगी, तो फिर तेरा कौन पति होगा?

रीति

श्रीहर्ष वैदर्भी रीति की प्रशंसा करते हैं—

धन्याऽसि वैदर्भि! गुणैरुदारै-
र्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ॥ ३.११६

इससे प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष अपनी रीति वैदर्भी बतलाते हैं। नैषध महाकाव्य के कतिपय सर्गों में वैदर्भी रीति प्रयुक्त हुई है तथापि इस काव्य में वैदर्भी की प्रधानता किसी प्रकार भी नहीं कही जा सकती है। वैदर्भी रीति अपनी सरस कोमलता के लिए प्रसिद्ध है। श्रीहर्ष कलावादी कवि हैं। कलात्मक स्थलों की प्रधानता है, जिसके फलस्वरूप भाषा, भाव आदि में कोमलता या सुबोधता नहीं है। अतः श्रीहर्ष की रीति प्रायशः पाञ्चाली ही कही जा सकती है।

रस

रसों में शृंगार के प्रति श्रीहर्ष की अत्यधिक रुचि थी। नैषध में कामशास्त्र सम्बन्धी ऐसे विषयों का भी वर्णन है, जिन्हें स्वयं वात्स्यायन ने भी सुरुचि की परिधि से बहिर्गत होने के कारण छोड़ दिया था। सारे जगत का शृङ्गारपरायणस्वरूप देखने में श्रीहर्ष अनूठे ही हैं। अन्य रसों का तो स्पर्शमात्र करना ही कवि ने पर्याप्त समझा है। शृङ्गाररस के दोनों पक्ष—संभोग और विप्रलम्भ का सांगोपांग वर्णन किया गया है। कहीं-कहीं अश्लील वर्णनों की प्रचुरता है।

नैषध के प्रथम सर्ग के अन्त में कहा गया है कि यह रचना शृङ्गार-रस की है—

शृङ्गारभंग्या महाकाव्ये ॥ १·१४५

आगे चलकर मध्य में भी फिर एक बार इस काव्य को शृङ्गार-रस रूपी अमृत का सुधाकर कहा गया है—

शृङ्गारामृतशीतगौ ॥ ११·१२०

अन्त में भी कवि ने **यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी** के द्वारा इस बात की स्पष्ट व्यञ्जना की है कि नैषध काव्य शृङ्गार प्रधान है। दमयन्ती-विवाह तक शृङ्गार रस की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

सप्तम सर्ग में दमयन्ती के नख-शिख का वर्णन किया गया है। एक-एक अङ्ग के लिए अनेक श्लोक हैं, जो अत्यधिक विलासपूर्ण हैं। नारी के स्वरूप-वर्णन में श्रीहर्ष दक्ष हैं। उसमें शृङ्गार-रस की मधुर व्यञ्जना के साथ ही साथ एक विलक्षण सहृदयता है। यथा—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥ २·२५

"प्रतीत होता है, दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिए ब्रह्मा ने चन्द्रमा को निचोड़ कर उसका सार भाग खींच लिया है। इसी कारण बीच में छिद्र हो जाने के कारण उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखाई पड़ती है।"

चतुर्दश सर्ग में शृङ्गारमयी लीलाओं का वर्णन विशेष रमणीय है—

रोमाणि सर्वाण्यपि बालभावाद्
वरश्रियं वीक्षितुमुत्सुकानि ।
तस्यास्तदा कण्टकिताङ्गयष्टे-
रुद्ग्रीविकादानमिवान्वभूवन् ।। १४.५३

"उस समय दमयन्ती का सारा शरीर पुलकित हो रहा था, मानो उसके समस्त रोम शिशु होने के कारण वर की शोभा देखने के लिए उत्सुक होकर अपनी गर्दन उठाए हुए थे ।"

बीसवें सर्ग में नल-दमयन्ती का सखियों के साथ हास-परिहास रोचक शैली में वर्णित है । जिस प्रकार संभोग शृङ्गार का वर्णन अद्वितीय है, उसी प्रकार विप्रलम्भ शृंगार का भी । विप्रलम्भ शृंगार में कवि अनूठी कल्पना द्वारा उसे चमत्कारपूर्ण बनाता है । चतुर्थ सर्ग विप्रलम्भ शृङ्गारमय है । इस सर्ग में कवि ने दमयन्ती की विरह-व्यथा का चित्रण किया है, जिसमें चन्द्रोपालम्भ-वर्णन अनुत्तम है । कल्पना का प्रसार और वर्णन की निपुणता दर्शनीय है—

विनिहितं परितापिनि चन्दनं
हृदि तया भृतबुद्बुदमाबभौ ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं
विधुरिवाङ्कगतोडुपरिग्रहः ।। ४.२८

"उस दमयन्ती के सन्ताप युक्त हृदय पर रखा हुआ चन्दन का लेप, पानी का बुलबुला बनकर हृदय में रहने वाले मित्र कामदेव के पास तारारूप परिवार के सहित आये हुए चन्द्रमा के समान प्रतीत होता है ।"

अग्निजन्य दाहपीडा अधिक सन्तापकारक नहीं होती, किन्तु विरहजन्य दाहपीडा ही अधिक सन्तापकारक होती है । चन्द्रमा के सम्बन्ध में दमयन्ती का कथन है—

अयमयोगिवधूवधपातकै-
र्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ।
शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्
कणगणाधिकतारकिताम्बरः ।। ४·४६

"इस चन्द्रमा ने अनेक निरपराध वियोगिनी स्त्रियों को मारकर पाप कमाया है । इसी कारण यह रात्रि-रूपी चट्टान पर आकाश से घुमाकर पटका जाता है । पटकने के कारण इसके खण्ड-खण्ड हो जाने से जो कण चारों ओर बिखर गये हैं, वे ही मानों आकाश में तारों के रूप में चमक रहे हैं ।"

ब्रव विधुन्तुदमालि ! मदीरितै-
स्त्यजसि किं द्विजराजधिया रिपुम् ।
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः
पतित एव निषेव्य हि वारुणीम् ॥ ४·७०

"हे आलि ! तुम मेरे कहने से चन्द्रमा को पीड़ित करने वाले राहु से पूछो कि 'तुम ब्राह्मण मानकर कर्तव्य-पथ से च्युत शत्रुभूत इस चन्द्रमा को छोड़ते क्यों हो ? कहीं तुम न छोड़ते तो वारुणी (मदिरा-पश्चिम दिशा) का सेवन कर पतित हुआ स्वर्ग नहीं जाता।"

कहीं-कहीं इस प्रकार की उक्तियाँ हास्योत्पादक हो गई हैं—

कुरु करे गुरुमेकमयोघनं
बहिरितो मुकुरञ्च कुरुष्व मे ।
विशति यत्र यदैव विधुस्तदा
सखि ! सुखादहितं जहि तं द्रुतम् ॥ ४·५९

"हे सखि ! अपने हाथ में लोह का भारी घन लो, मेरे दर्पण को इस घर के बाहर रखो। इस दर्पण में चन्द्रमा जब प्रवेश करता है, तब उस शत्रु को शीघ्र ही अनायास मार डालो"

वीर, अद्भुत, करुण, हास्यादि रसों का भी नैषध में चित्रण यथा स्थान हुआ है।

पदलालित्य

संस्कृत आलोचकों को नैषध का पद-लालित्य सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुआ। इसी कारण नैषध के पदलालित्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गई—

नैषधे पदलालित्यम्

नैषध का पदलालित्य उसका एक प्रकार से प्रधान गुण है, जो समूचे काव्य में दर्शनीय है। एकादश सर्ग में पदलालित्य की अनुपम छटा है—

तत्रावनीन्द्रचयचन्दनचन्द्रलेप-
नेपथ्यगन्धवहगन्धवहप्रवाहम् ।
आलीभिरापतदनंगशरानुसारी,
संरुध्य सौरभमगाहत भृङ्गवर्गः ॥११·५

"उस स्वयंवर में आए हुए राजाओं के चन्दन और कपूर के अङ्गराग की सुगन्ध को लेकर बहने वाले वायु का मार्ग रोक कर, कामदेव के बाणों की भाँति अनेक पंक्तियों में गिरता हुआ भृङ्गसमूह सुगन्ध का उपभोग कर रहा था।"

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादभङ्गी
सर्वानुवादविधिबोधितलास्यमेधाः।
सौधस्रजः प्लुतपताकतयाभिनिन्यु-
र्मन्ये जनेषु निजताण्डवपण्डितत्वम् ।। ११.६

"कुण्डन पुरी की प्रासाद-पंक्तियाँ वायु के कारण हिलती हुई ध्वजाओं के द्वारा लोगों को अपनी नृत्यकुशलता का परिचय दे रही थीं। ध्वजाएँ इस प्रकार हिल रही थीं, जैसे सौधपंक्तियाँ स्वयंवर के समय बजाए गए मंगल मृदङ्ग की गम्भीर ध्वनि के अनेक भेदों के अनुसार अङ्गादि का सञ्चालन करने की चतुरता का प्रदर्शन कर रही हों।"

उपर्युक्त पद्यांशों में एक प्रकार की ध्वनि है। समान अक्षरों की पुनः-पुनः आवृत्ति से अनुप्रासात्मक श्रवण-सुख है। लय है। नादात्मक अनुकृति है। समान शब्दों की पुनरावृत्ति से लालित्य अधिक बढ़ जाता है। यथा—

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं-
स वाहवाहोचितवेषपेशलः।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभि-
र्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः।। १.६६

"तीव्र वेग वाले घोड़े को अलंकृत कर चलते हुए तथा अपने वाहन घोड़े के योग्य वेष से सुन्दर उस नल को अतिशय हर्ष के कारण निमेष-रहित होकर नगरवासियों ने देखा।"

श्रीहर्ष के पदलालित्य के लिए निम्नलिखित श्लोक आदर्श है—

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा
वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम्।
एतस्य निष्कृपकृपाणसनाथपाणेः
पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ।। ११.६६

नैषध का पदलालित्य 'शृङ्गारभृङ्गार-सुधाकर' है। यह हर्ष की सबसे बड़ी विशेषता है। अनुप्रास के चमत्कार की अद्भुत क्षमता श्रीहर्ष में है। अनुप्रास से पदलालित्य स्वभावतः आ ही जाता है। नैषध में सर्वत्र पदलालित्य की छटा दिखलाई पड़ती है। नूतन शब्दावली और शब्द और अर्थ का भावात्मक सामञ्जस्य अनुपम है।

व्युत्पत्ति

श्रीहर्ष की प्रतिभा अनुत्तम थी। हर्ष को सभी विषयों का ज्ञान था। काव्य-प्रकाशकार मम्मट के अनुसार व्युत्पत्ति है—

लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोश-कलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां, काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनां, ... इतिहासादीनां च विमर्शनात् व्युत्पत्तिः ॥

उपर्युक्त दृष्टि से श्रीहर्ष वास्तव में व्युत्पत्तिमान् थे ।

श्रीहर्ष ने नैषध की रचना पूर्ण-व्युत्पत्ति के साथ की है । अपने समस्त ज्ञान का उन्होंने इस ढंग से परिचय दिया है कि 'नैषध काव्य' केवल काव्य न रहकर विभिन्न विषयों के ज्ञान का कोष भी है, इसी कारण इसे, 'विद्वदौषधम्' कहते हैं । डा० सुशीलकुमार डे का कथन है ।

इसे तो मानना ही पड़ेगा कि नैषध-चरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार से परम्परागत ज्ञान का भण्डार है, और किसी पाठक को उस समस्त ज्ञान से पूर्णतः प्रपन्न होकर ही इसमें (नैषध में) प्रवेश करना चाहिए ।[1]

दमयन्ती स्वयंवर में राज-परिचय-प्रकरण में व्युत्पत्ति की चरम सीमा है । इससे अगाध पाण्डित्य का ज्ञान होता है । वेद-वेदाङ्ग, शिक्षा, व्याकरण, ज्योतिष आदि से नैषध मण्डित है ।

नैषध व्याकरण शास्त्र के गूढ़ एवं सूक्ष्म रहस्यों से भरा है । हंस दमयन्ती के सम्मुख नल की प्रशंसा करते हुए कहता है ।

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता
व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया ।
या स्वौजसां साधयितुं विलासै-
स्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥ ३·२३

"यदि महापुरुषों की श्रेणियों में विभक्त किया जाय, तो वह व्यक्ति (नल) प्रथम माना जायगा, जो अपने ओज से असंख्य शत्रुओं के पदों को अपने अधीन करने में पूर्ण समर्थ हुआ है"

पक्षान्तर में 'यदि सम्यक् रूप से विभक्तियों का विचार किया जाय, तो वह प्रथमा नाम की विभक्ति है, जो अपने सु-औ-जस रूप एक वचन, द्विवचन तथा बहुवचन प्रत्ययों के कार्य-बल से अनेक प्रातिपादिक शब्दों को सिद्ध करने में नितान्त समर्थ होती है ।'

कहीं-कहीं पाणिनि के नियमों के द्वारा हास्य-सर्जन करने में वे नहीं चूकते । पाणिनि के सूत्र अपवर्गे तृतीया (२.३.६) के सम्बन्ध में नूतन उद्भावना देखिए—

---

१. History of Sanskrit Literature—Page 329-330

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मतः।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥

"स्त्री प्रकृति और पुरुष प्रकृति दोनों काम में ही आसक्त रहा करें। अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीया प्रकृति (नपुंसकों) के लिए है।"

अन्यत्र हर्ष का कथन है—

भङ्क्तुं प्रभुर्व्याकरणस्य दर्प-
पदप्रयोगाध्वनि लोक एषः।
शशो यदस्यास्ति शशी ततोऽय-
मेवं मृगोऽस्यास्ति मृगीति नोक्तः ॥ २२.८२

"शब्दों के प्रयोग में लोक-व्यवहार व्याकरण के नियमों की कोई अपेक्षा नहीं करता अपितु उसका अपमान-सा करता है। शश (खरगोश) वाला होने से चन्द्रमा को शशी तो कहते हैं, पर मृग वाला होने पर भी उसे मृगी नहीं कहते।"

उक्ति-वैचित्र्य

नैषध में किसी बात को सीधे शब्दों में कहना मात्र काव्योत्कर्ष नहीं माना गया। हंस केवल यह कहना चाहता है कि नल के अतिरिक्त मुझे कोई नहीं पकड़ सकता, परन्तु वह नल का नाम न लेकर चमत्कारिक ढंग से कहता है।

एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य

इसमें 'विरलोदयस्य' पर उक्ति वैचित्र्य स्पष्ट है अर्थात् जिस 'नर' शब्द में 'र' नहीं है और वहाँ 'ल' का उदय है अर्थात् नल। **परमाणुमध्या:** (३.४१) परमाणु के बराबर अर्थात् अतिशय कृश कटिवाली, **वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी** (३.४६) परम-रमणीय-आदि उक्ति वैचित्र्य के उदाहरण हैं।

प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार भी उक्ति वैचित्र्य के माध्यम से ज्ञात होता है। वक्रोक्ति की अतिरञ्जना नैषध में दर्शनीय है—

चेतो नलं कामयते मदीयं
नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥३.६७

चेतो नलं कामयते—मेरा मन नल को चाहता है।
चेतो ऽनलं कामयते—मेरा मन अग्नि को चाहता है।
चेतो न लंकामयते—मेरा मन लङ्कापुरी को नहीं चाहता।

वक्रोक्ति की अतिरञ्जना चतुर्थ सर्ग में विशेष है। दमयन्ती और उसकी सखी एक ही पद के दो अर्थ लेकर भिन्न-भिन्न अभिप्राय का बोध कराती हैं। यथा,

स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा
हृदयमप्यनलंकृतमद्य ते ।
सखि ! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि
प्रियतमः स मम व्यवधापितः ।।४·१०६

यहाँ दमयन्ती 'अनलंकृतम्' का अर्थ नलशून्य करती है और सखी 'मण्डनरहित'

दोष

डा० सुशील कुमार डे के अनुसार श्री हर्ष शुष्कशास्त्रीय ज्ञान के साथ शृङ्गार-विलासों के सूक्ष्म विवेचन में किसी प्रकार असमर्थ नहीं है। उदाहरणार्थ, सौ से अधिक श्लोकों का सप्तम सर्ग है, जो दमयन्ती के नख-शिख-सौन्दर्य का सूक्ष्म एवं वासना-जन्य विवरण मात्र है। यह वर्णन कथानक की गति को एकदम अवरुद्ध कर देता है, साथ ही इसमें शिष्टाचार की अवहेलना है। यह समग्र वर्णन स्वयं नल द्वारा किया जाता है। कवि शृङ्गार (विलास) वर्णन के अवसर को कभी नहीं छोड़ता है। कुछ श्लोकों की शृंगारिक गम्भीरता श्रीहर्ष के काम-शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का उदाहरण हो सकती है, किन्तु भाषा के अनेकार्थात्मिक वैशिष्ट्य के होते हुए भी अनेक श्लोक अवांछनीय हैं।[१]

हर्ष की शैली कठिन है। इसमें श्लेष की प्रधानता है। वाक्पटुता के नाम पर अश्लील वचन-भङ्गियों को भी रखने में श्रीहर्ष ने कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। अतः यदि कोई पाश्चात्य समालोचक अर्वाचीन मानदण्ड से नैषध की आलोचना करते हुए उसे भद्दी रुचि तथा भद्दी शैली की सब प्रकार से पूर्ण रचना कहे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।[२] कल्पनाओं में पाण्डित्य अधिक है। इससे कहीं-कहीं नीरसता आ गई है।

आत्मालोचन

श्रीहर्ष ने स्वयं अनेक स्थलों पर अपने काव्य की प्रशंसा की है। यथा—

१. शृङ्गारभङ्ग्या महाकाव्ये १.१४५.
२. सर्गो निसर्गोज्ज्वलः २.११०.
३. कविकुलादृष्टाध्वपान्थे ८.१०६
४. परीरम्भक्रीडाचरणशरणा
५. शृङ्गारभृङ्गारसुधाकर २२.५७

१. संस्कृतसाहित्य का इतिहास, प्रथम भाग पृ० ३२९
२. वही पृ० ३२८

६. अन्याक्षुण्ण-रस-प्रमेय-भणितौ   २०.१२८, १८२

७. एकामत्यजतो नवार्थ-घटनम्   १९.६७

८. यत्काव्यं मधुवर्षि   २२.१५५

इस प्रकार श्रीहर्ष ने अपनी कविता के लिए 'महाकाव्य', 'निसर्गोज्ज्वल', 'चारु', 'अतिनव्य' आदि विशेषों के प्रयोग के साथ ही साथ 'अतिस्वादिष्ठ अर्थों को उत्पन्न करने वाली' 'शरत्कालीन चन्द्र की चन्द्रिका के समान उज्ज्वल उक्तियों से निर्भर' 'सरस और स्वादिष्ट 'एक भी नवीन अर्थ या घटना को न छोड़ने वाली', 'अभूतपूर्व रसमयी उक्तियों से पूर्ण और 'मधु का वर्षण करने वाली' कहा है।

साम्प्रदायिक आलोचना

नैषध के पद-लालित्य की अत्यधिक प्रशंसा की गई है—

नैषधं पदलालित्यम्

कुछ समालोचक हर्ष की कवित' को भारवि और माघ के काव्य से बढ़कर मानते हुए कहते हैं—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः,
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ।

नैषध में भाव, भाषा, अर्थ, शब्द सभी कुछ चमत्कार पूर्ण हैं—

नैषधं विद्वदौषधम्

क्यों क नैषध से विद्वानों का अभिमान रूपी रोग मिटता है ।

श्रीहर्ष खलों को प्रधर्षित करने के लिए भी प्रसिद्ध हैं—

कविषु दधतमुत्कर्षं विस्फुरदनघहृद्यवाग्वर्षम् ।
इह खलु खलप्रधर्षं श्रीहर्षं नौमि हर्षसङ्घर्षम् ।।

श्रीहर्ष ने चिन्तामणि-मन्त्र को सिद्ध कर लिया था—

अमोघचिन्तामणिमन्त्रसिद्धिप्राप्तप्रभावं प्रथितप्रतापम् ।
समस्तशास्त्रप्रतिबुद्धविद्यं श्रीहर्षमेकं विबुधं प्रतीमः ।।

सूक्तियाँ

१. त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं,
त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ।

मानी लोग प्राण और सुख भले ही छोड़ दें, किन्तु वे याचना न करने का व्रत नहीं छोड़ते ।

२. ब्रुवते हि फलेन साधवो न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ।

सज्जन अपनी उपयोगिता फल से प्रकट करते हैं, वाणी से नहीं ।

३. प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः ।

पीड़ा समय की प्रतीक्षा नहीं करती ।

४. कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ।

कार्य अपने कारण से गुण ग्रहण करता है ।

५. झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः ।

विज्ञ शीघ्र ही दूसरे का आशय समझ लेते हैं ।

६. उत्तरोत्तरशुभोहि विभूनां कोऽपि मंजुलतमः क्रमवादः ।

महापुरुषों की मनोरम बातचीत उत्तरोत्तर अच्छी होती जाती है ।

७. आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ।

कुटिल पुरुषों के साथ सीधा व्यवहार नीति नहीं है ।

८. स्वतः सतां ह्रीः परतोऽतिगुर्वी ।

सज्जनों को दूसरे की अपेक्षा अपने से अधिक लज्जा होती है ।

९. चकास्ति योग्येन हि योग्यसंगमः ।

योग्यव्यक्ति के साथ ही योग्य का साथ होना शोभा पाता है ।

१०. जनानने कः करमर्पयिष्यति ।

लोगों का मुँह कौन बन्द करेगा ?

११. सतां हि चेतः शुचितात्मसाक्षिका ।

सज्जनों का चित्त ही पवित्रता के सम्बन्ध में अपना साक्षी है ।

१२. मुखं प्रतीङ्गितविभावनमेव वाचः ।

समझनेवाले लोगों के लिए संकेत करना ही कहना है ।

१३. सिते हि जायेत शितेः सुलक्ष्यता ।

श्वेत वस्तुओं के बीच कालिमा सरलता से परिलक्षित होती है ।

१४. नार्कातपैर्जलजमेति हिमैस्तु दाहम् ।

कमल सूर्य के आतप से नहीं, हिम से दाह प्राप्त करता है ।

१५. मान्येन मन्ये विधिना वितीर्णः
स प्रीतिदायो बहुमन्तुमर्हः ।

मान्य व्यक्ति द्वारा सत्कारपूर्वक दिया हुआ प्रेम का दान सर्वोच्च प्रतिष्ठित है ।

अध्याय १७

कवि-कौमुदी

अप्पाशास्त्री

अप्पाशास्त्री का जन्म कोल्हापुर में सन् १८७३ ई० में हुआ। इनकी प्रारम्भिक रचनाएँ "संस्कृत चन्द्रिका" में मिलती हैं, जिसके सम्पादक वे कालान्तर में हो गए। अप्पाशास्त्री के पास दिग्विजयी का हृदय था। उनके ऊपर संस्कृत चन्द्रिका के प्रकाशन का पूर्ण भार था। उन्होंने स्वयं लिखा है—

न चाप्येतत्प्रविदितं प्रियमहाशयानां यत्सर्वथा संस्कृतचन्द्रिकायाः प्रकाशनभारः सहकारिसम्पादकस्यैव शिरस्यास्ते। विनाह्येनं शोध्यपत्रं शोधनमपि सम्पन्नं न भवतीति।

ये उच्चकोटि के कहानी लेखक थे। प्रायः इनकी कहानियों में समाज की कुरीतियों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। ये बड़े ही प्रेमी थे। जहाँ भी गये, वहाँ इन्होंने पंडितों को मोह लिया। मथुरा में श्री माधवलाल नामक ज्योतिषी पंडित ने इनका परम अभिनन्दन किया। इनकी रचनाओं में चिदानन्द-सरस्वती-शतक का नाम है। इन्होंने एक भारती-भवन की स्थापना की थी।

इन्होंने 'सूनृतवादिनी' नामक संस्कृत साप्ताहिक पत्र में लोकोपयोगी विषयों पर सरल रचनाओं का प्रकाशन करके संस्कृत को बोलचाल की भाषा बनाने की धुन में अथक प्रयास किया। इन्होंने बंकिमचन्द्र के "लावण्यमयी" नामक बंगाली उपन्यास का संस्कृत रूपान्तर किया। अप्पाशास्त्री का स्थान उन्नीसवीं और बीसवीं शती के संस्कृत के उन्नायकों में सर्वोपरि है। वे संस्कृत विद्या के प्रायः सभी अंगों और उपाङ्गों में निष्णात थे। इनकी अनुसन्धान शैली उदात्त थी।

अप्पाशास्त्री सम्पादक के अतिरिक्त उच्चकोटि के समाजोन्नायक थे। वे भारत की स्वतन्त्रता के परम आराधक थे। यद्यपि वे हरिजनों की अन्य वर्णों के साथ समगति के विरोधी थ, फिर भी देश को आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से गिराने वाली परिस्थितियों का उन्होंने अपनी रचनाओं में विश्लेषण करके समाज को सर्वोदयीन अभ्युदय के लिए त्याग की आवश्यकता बतलाई।

संस्कृत के अभ्युदय के लिए आर्थिक दृष्टि से साधारण पर मनस्वी अकेला और क्या कर सकता है—यह यदि जानना चाहें तो अप्पाशास्त्री की चरितगाथा का मनन करें। श्री अप्पाशास्त्री के नित्य कर्मण्य जीवन का अन्त लगभग ४२ वर्ष की अवस्था में हो गया। इनके कृतित्व से संस्कृत साहित्य का कोई क्षेत्र अनलंकृत न रहा।

अमरु (अमरुक)

अमरु-शतक के प्रणेता अमरु अथवा अमरुक थे। ये कब और कहाँ हुए, इस सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं है। किंवदन्ती है कि स्वतः शंकराचार्य ने ही अमरु-शतक की रचना की थी। किन्तु यह कल्पना निराधार है। ८५० ई० के लगभग आनन्दवर्धन ने अमरु की प्रशस्ति में लिखा है—रस की मात्रा के विचार से अमरु का एक-एक श्लोक एक काव्य ही है। अमरु के इस शृंगार-शतक में मानो जीवन की शृंगार की प्रवृत्तियों का आकलन सूक्ष्म दृष्टि से अनुपम सफलतापूर्वक किया गया है। शृंगार की नई निराली, रंग-बिरंगी जगती में अमरु के साथ कामशास्त्री कुछ नई बातें सीखने के लिए भ्रमण कर सकते हैं। नायक-नायिकाओं की रागात्मिका वृत्ति का अनूठा परिचय जैसा अमरु ने दिया है, वैसा संस्कृत साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ ही है। मानिनी के अनुराग का एक चित्र इस प्रकार है:—

तुम्हारे प्राणदयिता बाहर झुके हुए भूमि को ही रेखाचित्रों से भर डालेंगे। निराहार सखियों की आँखें लगातार रोने से फूल गई हैं। पंजरशुक ने भी हँसना-पढ़ना छोड़ दिया है। फिर भी तुम्हारी यह अवस्था! कठोर मानिनि, अब तो मान छोड़ो।

'अमरु-शतक' सहृदयों का हृदय हार है, सुभाषितों का सुन्दर आगार है तथा मुक्तक-पद्य-रस से परिप्लावित है। इनकी रचना में भावानुरूप ललित वाक्यावली और पदावली का मनोरम विन्यास हुआ है। भावों का निरूपण प्रभावोत्पादक विधि से किया गया है। अमरु के शार्दूलविक्रीडित छन्दों की चारुता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भाषा प्रासादिक, प्रवाहपूर्ण एवं प्राञ्जल है। इनकी शैली शुद्ध वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। वस्तुतः अमरु शब्द कवि नहीं अपितु रसकवि है। उनके काव्य ध्वनिकाव्य के अनुपम उदाहरण हैं। पद्माकर, अर्जुन, वर्मदेव, बिहारी आदि ने इनके काव्य-भावों का अनुकरण किया है। इनकी प्रतिभा के समक्ष शृंगारिक उक्तियाँ दब जाती हैं। कीथ के शब्दों में—"The love which Amaru likes is gay and high-spirited, delighting in tiny tiffs and lovers' quarrels but ending in smiles etc."

अम्बिकादत्त व्यास

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में पंडित अम्बिकादत्त व्यास (१८५८–१९०० ई०) का प्रादुर्भाव उत्तर प्रदेश के काशीखण्ड में हुआ। व्यास ने संस्कृत में परम पांडित्य प्राप्त करके बिहार के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापन-कार्य किया। उनकी ७५ कृतियों में से सर्वश्रेष्ठ "शिवराजविजय" है, जो शिवाजी के ऐतिहासिक कथानक से सम्बद्ध है। यह ऐतिहासिक उपन्यास भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अरुणोदय में लिखा गया। भारत के जागरण के लिए इस प्रकार के ग्रन्थों की अन्यतम उपयोगिता सर्वमान्य है।

'शिवराजविजय' की संस्कृत भाषा टकसाली है। व्यास की नाटकोचित भाषा का विलास इसमें पदे-पदे परिलक्षित होता है। व्यास ने इन उपन्यासों में संवादों का विन्यास कुशलतापूर्वक गद्यशैली में किया है। ध्वन्यात्मक और आधुनिक शब्दों के प्रयोग से भाषा सजीव हो उठी है। यद्यपि व्यास की भाषा सरल नहीं कही जा सकती और उसमें असाधारण लकारों की क्रियाओं से भी मुठभेड़ होती है, फिर भी भाषा का प्रभाव इतना प्राञ्जल है कि उसमें अवगाहन करने में साधारण संस्कृतज्ञों को भी सरलता का बोध होगा। वर्ण्य विषय की उदात्तता के साथ भाषा में गौरव की अभिवृद्धि प्रत्यक्ष ही है। उदाहरण के लिए भूषण का आत्म परिचय लीजिए—

परं वयं कवयः कस्यापि राजत्वं वा प्रतापत्वं वा आढ्यत्वं वा नापेक्षामहे। न वा कस्यापि साभिमानः भ्रूभङ्गम्.......स दीनारसम्भारेणापि न तथा परान् तोषयितुमलम्, यथा वयं केवलं वचनभङ्गीभिरेव पारयामः।

व्यास जी ने बहुविध विषयों पर हिन्दी, बंगला और संस्कृत में अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिनमें से शिवराजविजय के अतिरिक्त साहित्य-नवनीत, अवतार-मीमांसा, मूर्तिपूजा, ललिता-नाटिका, पण्डित-पछाड़ (गुप्ताशुद्धि-प्रदर्शन), पुष्प-वर्षा, सामवत नाटक, सुकवि सतसई, बिहारी-विहार, गद्यकाव्य-मीमांसा, कथा-कुसुम, दुःख-द्रुम-कुठार, पावस-पचासा, समस्या-पूर्ति-प्रकाश तथा क्षेत्रकौशल आदि प्रमुख प्रकाशित पुस्तकें हैं। व्यास जी की अभिरुचि ताश, शतरंज आदि खेलों के प्रति भी थी और इनके सम्बन्ध में उन्होंने ताश-कौतुक-पचासा तथा शतरंज-चातुरी की रचना की।

अवदान-शतक

अवदान का अर्थ है—Great acts of Nobility—अर्थात् उदात्त कर्म। बौद्ध मनीषियों और बोधिसत्वों के पराक्रमों की चर्चा अवदान में होती है। इस

कोटि का अवदान-शतक सर्वप्रथम प्राप्य ग्रन्थ है । इसका अनुवाद तृतीय शताब्दी के पूर्वार्ध में चीनी भाषा में हुआ था । इसमें 'दीनार' शब्द का प्रयोग किया गया है । अतएव यह १०० ई० से पहले का नहीं हो सकता । इसके दस भागों में से प्रत्येक में दस कथाएँ हैं । इसमें मनुष्य के पापात्मक और पुण्यात्मक आचरणों का क्रमशः परिणाम नाटकीय दुःख और अभ्युदय के रूप में दिखलाया गया है । एक कथा के अनुसार बिम्बिसार की पत्नी श्रीमती, बुद्ध के स्तूप की पूजा करती थी । अजातशत्रु ने उसे निषेध किया और न मानने पर उसे मार डाला । वह देवलोक में उत्पन्न हुई । भगवान् बुद्ध के नीति विषयक उपदेशों का अपूर्व संकलन इसमें किया गया है । इस संदर्भ में कीथ ने लिखा है—

"The tales open with set formulae, contain set formulae of description, as of the laughter of the Buddha, and of moral exhortation, exaggeration and long-windedness mark the whole, and beauty of form is sacrificed to the desire to be edifying."

आनन्दराय

सत्रहवीं शती में आनन्दराय ने "विद्यापरिणय" और "जीवानन्द" नामक दो लाक्षणिक नाटक प्रबोध चन्द्रोदय के अनुरूप शैली में लिखा । विद्यापरिणय में जीवात्मा और विद्या (अध्यात्म) के विवाह का वर्णन है । इसमें विद्या, अविद्या, निवृत्ति, प्रवृत्ति, विषय-वासना आदि लाक्षणिक रूप से पात्र हैं । नाटक का उद्देश्य है मानवता को अध्यात्म की ओर प्रवृत्त करना । इस नाटक पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव जीवन की क्षण-भंगुरता के स्पष्टीकरण में दृष्टिगोचर होता है । इनकी शैली उद्बोधक है । इनकी उपाधि मखिन् थी ।

आर्यशूर

आर्यशूर की "जातकमाला" की कथाएँ जातकों एवं चरियापिटक से ली गई हैं । सम्भव है, इसकी रचना तीसरी या चौथी शती में हुई हो । आर्यशूर की कथाओं की रूपात्मक चारुता और वर्णनशैली उच्च कोटि की हैं । अपने मन्तव्य को हृदयङ्गम कराने के लिए कवि ने उनको पूर्णतः भावार्द्र करने में सफलता पाई है ।

आर्यशूर प्रणीत "जातक-माला" की कथाएँ पालि में लिखी गई हैं । इनकी शैली के सन्दर्भ में कीथ महोदय ने लिखा है—Aryas 'sura's style is classical, showing command of the resources of his art but restrained and

saved from exaggeration by good taste. His prose and verse alike are careful and polished. महाभारत, एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित कथाओं की भाँति ही जातकमाला में अनेक कथाएँ लिखी गई हैं। पञ्चतन्त्र में इसी प्रकार की कथाओं का संग्रह मिलता है।

कुमारदास

कुमारदास प्रणीत "जानकीहरण" संस्कृतसाहित्य का एक उल्लेखनीय महाकाव्य है। सिंहल की जनश्रुति के अनुसार कुमारदास ५१७–५२६ ई० तक लंका के राजा थे। इनके ग्रन्थ कालिदास से पूर्णतः प्रभावित हैं। एक ओर कुमारदास 'काशिकावृत्ति' (६५० ई०) से परिचित प्रतीत होते हैं और दूसरी ओर वामन(८०० ई०)ने जानकीहरण में वाक्यारम्भ में प्रयुक्त 'खलु' पद को चिन्त्य प्रयोग माना है। इस प्रकार इनका समय छठी शताब्दी का उत्तरार्ध और सातवीं शताब्दी का आरम्भ सिद्ध होता है।

'जानकीहरण' की रचना २५ सर्गों में की गई थी। इस समय केवल १५ सर्ग उपलब्ध हैं। इस महाकाव्य का कथानक संक्षिप्त रूप से रामायण के अनुरूप ही राम का चरित है। कथानक में जानकीहरण को केन्द्रबिन्दु मानकर उसके पहले और पश्चात् की कथा वर्णित है। महाकाव्य में केवल नाममात्र की ही नवीनता है, पर काव्य-शैली के माध्यम से रामचरित में मनोरम वर्णनों का गुम्फन कुमारदास की विशेषता है। राजशेखर ने कुमारदास की प्रशस्ति में यहाँ तक कह दिया है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः॥

कुमारदास की रचना में कालिदासीय शैली की सरलता और प्राञ्जलता के साथ भारवि और माघ का वर्णन-कौशल भी समन्वित है। अनुप्रास अलंकार की छटा इनके काव्य में सर्वत्र उपलब्ध होती है। राजशेखर के अनुसार कवि जन्मान्ध थे। कवि ने वनहास्य की मनोरम कल्पना की है—

वासन्तिकस्यांशुचयेन भानोर्हेमन्तमालोक्य हतप्रभावम्।
सरोरुहाम् द्रुतकण्टकेन प्रीत्येव रम्यं जहसे वनेन॥

अर्थात् सूर्य की वासन्तिक किरणों की राशि के द्वारा हेमन्त के प्रभाव को क्षीण हुआ देखकर वन प्रसन्न होकर रम्यभाव से हँसने लगा कि कमलों का शत्रु अब विनष्ट हुआ।

कृष्ण मिश्र

अश्वघोष के लाक्षणिक नाटक के पश्चात् इस कोटि के नाटकों की परम्परा में अभी तक सर्वप्रथम कृष्णमिश्र का "प्रबोधचन्द्रोदय" ही उपलब्ध हुआ है। ये जेजाक-भुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के शासन काल में हुए थे। इस राजा का १०९८ ई० का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। अतः कृष्णमिश्र का समय ११०० ई० के लगभग है। संस्कृत नाटकों में "प्रबोधचन्द्रोदय" शान्तरस-प्रधान नाटक है। यह एक रूपकात्मक (Allegorical) नाटक है, जिसमें वेदान्त के अद्वैतवाद का रोचक ढंग से प्रतिपादन किया गया है। इसमें कवि ने विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त भावों को पुरुष और स्त्री पात्रों के रूप में कल्पित कर अध्यात्मविद्या का सुन्दर उपदेश दिया है। दार्शनिक दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त महत्त्पूर्ण है। भक्ति एवं ज्ञान का पूर्ण समन्वय इसमें मिलता है।

यह नाटक विशेषतः मनोवैज्ञानिक है तथा उस युग की प्रवृत्तियों को लेकर विकसित किया गया है। ऐसे नाटक परवर्ती युग में बहुत से लिखे गये। तेरहवीं शती में यशपाल ने "मोहराजपराजय", चौदहवीं शताब्दी में वेंकटनाथ ने "संकल्पसूर्योदय" तथा परमानन्ददास सेन ने १५७२ ई० में "चैतन्यचन्द्रोदय" की रचना की। इसमें लाक्षणिक पात्र मैत्री, भक्ति, अधर्म आदि के साथ नारद, राधा, कृष्ण आदि भी रखे गए हैं। सोलहवीं शती में भूदेव ने "धर्मविजय", सत्रहवीं शती में गोकुलनाथ ने "अमृतोदय" नाटक तथा अठारहवीं शती में वेदकवि ने "विद्यापरिणय" और "जीवानन्द" की रचना की। इन सभी नाटकों का प्रथम उद्देश्य जनता के बीच सच्चरित्रता और उदात्त भावनाओं की प्रतिष्ठा करना रहा है। भले ही शृंगारादि की नायक-नायिका की कथाओं के सामने इनकी उपयोगिता कम ही रही हो, पर भारत की धार्मिक प्रजा में पुराणों की प्रतिष्ठा के साथ ही इनकी प्रतिष्ठा निस्सन्दिग्ध रही है।

क्षमादेवीराव

बीसवीं शताब्दी में क्षमादेवी राव महाराष्ट्र की सर्वोत्तम काव्यप्रतिभा लेकर अवतरित हुईं। उन्होंने अतिशय उत्साहपूर्वक संस्कृत साहित्य के विकास में योगदान दिया है। इनका पद्यात्मक ग्रन्थ सर्वप्रथम 'कथापञ्चक' है। इसमें पाँच कथाएँ लगभग १५० से २०० श्लोकों में निबद्ध है। कथाएँ अंग्रेजी से संस्कृत में अनुदित हैं। अनुवाद करने में क्षमाराव के दो उद्देश्य थे—पहला संस्कृत भाषा का प्रचार करना और दूसरा संस्कृत भाषा में आधुनिक कहानी-कला के अनुरूप कथाएँ लिखना। आधुनिक कहानी के अंग हैं—एक प्रधान वृत्त, एक या दो प्रधान पात्र, पराकोटि, संशय और निर्वहण।

संस्कृत की प्राचीन कहानियों में उपर्युक्त तत्वों का अभाव सर्वथा दृष्टि गोचर होता है।

'कथापञ्चक' की रचना अनुष्टुप् छन्दों में हुई है। इसका प्रथम प्रकाशन १९३३ ई० में हुआ।

क्षमादेवी राव ने कथापंचक की रचना में सरल संस्कृत का आद्यन्त प्रयोग किया है। लघु कहानी-कला के विकास की दृष्टि से उनकी रचनाओं का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक कहानी में एक उज्ज्वल आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है, जिसका स्थान कहानी के अन्त में "पुष्पिका" नाम से मिलता है। ऐसी पुष्पिकाएँ हैं—

(१) द्वेषेऽपि भ्राजते प्रेमा, (२) क्लिष्टस्यापि सुजातस्य सौजन्यं नापयास्यति, (३) लोकसेवा प्रसक्तानां जगदेव कुटुम्बकम्, (४) मद्यपस्य करे रत्नं न चिराय प्रवतिष्ठते (५) कुलीनापि करोत्येव साहसं परहिंसिता।

क्षमाराव के श्लोकों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी दृष्टि समयानुकूल है। सामाजिक परिस्थितियों पर पाठकों की सहानुभूतिमयी प्रवृत्ति बना देने की कला में वे निष्णात हैं। इनके श्लोकों की छटा देखिए—

एकदा शैशिरे काले बभूव किल संकुलः।
ग्रामस्यास्य महावीथिर्नरनारी-जनार्भकैः॥९॥
उत्सवार्थं गमिष्यन्तं द्रष्टुकामैर्नराधिपम्।
इतरैः स्वात्मदुःखानि निवेदयितुमुत्सुकैः॥१०॥

क्षमाराव का दूसरा पद्यात्मक कथासंग्रह "ग्रामज्योति" १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें रेवा, विपाक आदि की सत्यकथाएँ हैं। इनका तीसरा कथासंग्रह "कथा मुक्तावली" है। क्षमादेवी राव ने सत्याग्रहगीता और उत्तर-सत्याग्रह-गीता में प्रसादपूर्ण महाकाव्य शैली में गांधी जी के गौरवपूर्ण आख्यानों को उपनिबद्ध किया है। इन सभी कथाओं में क्षमाराव का वस्तु-विन्यास आधुनिक कहानी कला की दृष्टि से सफल एवं उच्चकोटि का है।

क्षमाराव की काव्य-प्रतिभा की कल्पना उनके कृतित्व से हो सकती है। इनकी अन्य रचनाएँ मीरा-लहरी, विचित्र-परिषद्-यात्रा, शंकरजीवनाख्यान, तुकारामचरित, रामदासचरित, और श्रीज्ञानदेवचरित हैं। संस्कृत काव्य के विविध रूपों को अभिनय कृतियों से समलंकृत करने में क्षमाराव का योगदान विशेष है।

क्षेमेन्द्र

ग्यारहवीं शताब्दी में काश्मीर में महाकवि क्षेमेन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। क्षेमेन्द्र को "व्यासदास" की उपाधि दी गई थी। यथार्थतः क्षेमेन्द्र ने व्यास के आदर्श पर अधिकाधिक लोकसंग्रह करने के लिए बहुविध ग्रन्थावली का प्रणयन किया है। क्षेमेन्द्र का जन्म अभिजात और धनाढ्य ब्राह्मणकुल में हुआ था। उनके पिता प्रकाशेन्द्र मेरु के समान उदार, कल्याणपूर्ण सम्पत्ति वाले थे, जिनके घर में अगण्य ब्राह्मणों का भोजन हुआ करता था। एम० कृष्णमाचार्य ने लिखा है—"His father was a great Patron of Brahmins and expended three crores in various benefictions"

क्षेमेन्द्र ने काव्यशास्त्र का अध्ययन प्रख्यात आचार्य अभिनवगुप्त के पादपद्मों में बैठकर किया था। इन्होंने दशावतारचरित, रामायणमंजरी, पद्मकादम्बरी और भारतमंजरी लिखा है। 'दशावतारचरित' में भगवान् विष्णु के दश अवतारों की पराक्रम-परम्परा का रोचक वर्णन है। इनके अतिरिक्त इन्होंने अवदानकल्पना, नीतिकल्पतरु, लोकप्रकाश-कोश, सेव्य-सेवकोपदेश, नीतिलता, विनयवल्ली, दर्पदलन, मुनिमत-मीमांसा, कविकण्ठाभरण, कलाविलास, चारुचर्या, चतुर्वर्ग-संग्रह, सुवृत्ततिलक देशोपदेश, नर्ममाला, लिखा है।

क्षेमेन्द्र की बृहत् कथा मंजरी गुणाढ्य के बड्कहाओ का संक्षिप्त संस्कृत संस्करण है। कहीं-कहीं इसमें उन्होंने अपनी ओर से मनोरम वर्णनों का संयोजन कर दिया है। आगे चलकर सोमदेव ने कथासरित्सागर में इस कथा का सुविस्तृत रूप प्रस्तुत किया है।

क्षेमेन्द्र ने समय-मातृका में वीराङ्गनाओं के लिए नीति-विषयक उपदेश दिये हैं जो काम शास्त्र से सम्बद्ध हैं। इसकी कथा के अनुसार कलावती नामक अभिनव वेश्या ने किसी सुकुमार-पति के युवक का सर्वस्व अपहरण कर लिया। तत्कालीन समाज की दुष्प्रवृत्तियों का इसमें प्रत्यक्ष सा निदर्शन किया गया है। इसमें पूरे कश्मीर का वर्णन है। दर्पदलन में क्षेमेन्द्र ने कुल, धन, विद्या, सौन्दर्य, शौर्य, औदार्य और तपस्या आदि के कारण अभिमान की तुच्छता-बतलाई है।

क्षेमेन्द्र की रचनाओं से प्रतीत होता है कि उनमें कल्पना और रचना-कौशल की मौलिक प्रतिभा थी। समाज के जागरण का उत्तरदायित्व उन्होंने कवि के कन्धों पर मानते हुए विलासिता और वाह्याडम्बर को हेय बताया। उनकी वाणी में प्रभावशीलता और सत्य-सन्देश है।

गुणाढ्य

तीसरी-चौथी शती में पद्यात्मक कथाओं का प्रथम विशाल संग्रह बृहत्कथा (प्राकृत में बड्डकहाओ) के नाम से मिलता है। इसकी रचना गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में की थी बड्डकहाओ के कलात्मक विन्यास की भूरि-भूरि प्रशंसा सुबन्धु, बाण और दण्डी ने की है। इसमें उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त से सम्बद्ध कथाचक्र का विस्तृत विवरण है। नरवाहनदत्त इसकी कथा का नायक है। उसकी नववधू मदनमञ्जुका को मानसवेग नामक विद्याधर हर ले जाता है। अपने मन्त्री गोमुख की सहायता से नायक अपनी पत्नी की पुनः प्राप्ति करता है और साथ ही विद्याधरों के साम्राज्य का अधिपति बन जाता है। इसी कथापंजर में गुणाढ्य ने लौकिक और अलौकिक पराक्रमों का, आश्चर्य-जनक वृत्तों तथा परिहासपूर्ण घटनाओं का मनोहारी वर्णन किया है।

गुणाढ्य का मूलग्रन्थ बड्डकहाओ इस समय उपलब्ध नहीं है[१], किन्तु गुणाढ्य की इस कृति को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए या संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने के लिए कुछ सफल प्रयत्न हुए हैं। इनमें से आठवीं शती के बुधस्वामी का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, क्षेमेंद्र की बृहत्कथामंजरी तथा सोमदेव का कथासरित्सागर प्रमुख हैं। अंतिम दो रचनाएँ ग्यारहवीं शती की हैं। ये तीनों रचनाएँ संस्कृत में हैं। इन सभी कथाओं में साधारण जनता के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है।

घनश्याम

अठारहवीं शती के पूर्वार्ध में तंजौर के राजा तुक्कोजी के मंत्री घनश्याम उच्चकोटि के कवि हो चुके हैं। इन्होंने २६ वर्ष की अवस्था में "मदन-संजीवन" नामक भाण की रचना की। प्राकृत भाषा में घनश्याम ने "नवग्रहचरित" नामक सट्टक की रचना की। इनके अतिरिक्त इन्होंने प्रबोधचन्द्रोदय की शैली पर "प्रचण्डराहूदय" का प्रणयन किया। इनके अन्य नाटक गणेशचरित, कुमारविजय, अनुभवचिन्तामणि तथा आनन्द-सुन्दरी हैं। इनके कथानक यथानाम अनुमेय है। घनश्याम ने "डमरुक" में नाटक की अभिनय-पद्धति का आविर्भाव किया है। इसमें अंक के स्थान पर अलंकार और सूत्रधार के स्थान पर निर्वाहक शब्द का प्रयोग हुआ है। डमरुक में १० अलंकार हैं, प्रत्येक

---

१. कीथ ने कहा है—There is no doubt that one of our realy serious losses in Indian literature is the disappearance of the Brahat Katha of Gunadhya, a work which ranked beside the Mahabharata and the Ramayana as one of the great storehouse of Indian literary art. History of Sanskrit literature p 266,

अलंकार में एक नया विषय है। इस प्रकार दस अलंकारों में दस दृश्य रखे गए हैं। घनश्याम के पुत्र चन्द्रशेखर ने डमरूक एवं प्रचण्ड राहूदय की टीकाएँ लिखी हैं।

घनश्याम ने संस्कृत में ६४, प्राकृत में २० और अन्य भाषाओं में २५ ग्रन्थों की रचनाएँ की थीं। घनश्याम के काव्य-ग्रन्थ भगवत्पादचरित, वेंकटेशचरित, प्रसङ्गलीलार्णव, सन्मणिमण्डन, अन्यापदेशशतक तथा पाँच स्थलमाहात्म्य हैं। आबोधाकर में कवि ने नल, कृष्ण और हरिश्चन्द्र की त्र्यर्थक रचना की है। कलिदूषण संस्कृत में और साथ ही प्राकृत में द्विभाषात्मक रचना है और इससे घनश्याम का प्राकृत पर विशेष अधिकार प्रतीत होता है। घनश्याम ने संस्कृत के प्रायः सभी सुप्रसिद्ध नाटकों, कथाओं और चम्पुओं की संस्कृत टीका लिखी है। उनका रसार्णव काव्यशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

घनश्याम का कृतित्व आधुनिक युग में संस्कृत-साहित्य-सर्जन की विश्वात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। वास्तव में घनश्याम आधुनिक संस्कृतज्ञों के शिरोमणि हैं।

चक्रवर्ती राजगोपाल

चक्रवर्ती राजगोपाल का जन्म मैसूर में सन् १८८२ ई० में हुआ था वहाँ इनके पिता गीताचार्य चक्रवर्ती संस्कृत कालेज में मीमांसा के प्राध्यापक थे। इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य एवं प्रतिभा का प्रायः यौवन में ही प्रस्फुरण हुआ। तत्कालीन राजाओं से सरल-कवि-सूरि, काव्यविशारद, विद्याभूषण, विद्यावाचस्पति, महाविद्वान्, ज्ञानगुणाकार आदि उपाधियाँ इनको प्राप्त हुईं। सन् १९२२ में ये बंगलौर के सेन्ट्रल कालेज में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। इनके उपन्यास "शैवलिनी" और कुमुदिनी में ग्राम्य कथाओं के साथ काल्पनिक इतिवृत्तों का विलास मिलता है। इनकी अन्य गद्यात्मक रचनाएँ "विलासकुमारी" तथा "संगर" हैं। इन्होंने कवि-काव्य-विचार में साहित्य का अनुसन्धानात्मक और आलोचनात्मक इतिहास संस्कृत में लिखा है। राजगोपाल का त्रिपात् पद्यात्मक काव्य है, जिसमें डेल्फी के देववाणी-कर्ता का आख्यान है। पद्महर्षचरित गंगातरङ्ग, मधुकरदूत और वियोगिविलाप आदि पद्यात्मक काव्यों में यथानाम विषयों का वर्णन है। तीर्थाटन नामक काव्य में कवि ने अपनी भारत यात्रा का वर्णन प्रस्तुत किया है।

चक्रवर्ती राजगोपाल की मृत्यु १९३४ ई० में हुई।

चतुर्भाणी

चतुर्भाणी में गुप्त-युग में रचे हुए चार भाणों का संकलन है। भाण एक प्रकार का रूपक होता है, जिसमें चोर, जुआरी आदि धूर्तों के चरित का निदर्शन होता है। इस

चरित का वर्णन कोई कुशल विट अकेले ही करता है।[1] भाण में वही एक पात्र होता है और वह आकाश-भाषित (किसी कल्पित व्यक्ति का कुछ कहा हुआ मानो) सुनकर उत्तर देता चलता है। इसमें वीर और शृंगार की निष्पत्ति के लिए शौर्य और सौभाग्य का आकलन होता है।

उपर्युक्त चारों भाणों में समरसता है। वे शृंगार-प्रधान हैं और इनके अधिकांश भाग में वेश्यायें और उनके चक्कर में फँसे हुए विलासियों की अच्छी-बुरी वार्तायें भरी पड़ी हैं। चार भाण हैं (१) उभयाभिसारिका, (२) पद्मप्राभृतक, (३) पादताडितक तथा (४) धूर्त-विट-संवाद। इनके रचयिता क्रमशः वररुचि, शूद्रक, श्यामिलक तथा ईश्वरदत्त माने गये हैं। डा० एस० के० डे ने इनकी प्राचीनता प्रमाणित करते हुए कहा है—"Compared with later plays of the same type, the Caturbhani presents more variety greater simplicity, a larger amount of social satire and comic relief, a more convincing power of drawing individuals rather than abstractions, easier and more colloquial style, and some measure of real poetry in spite of certain rough coarseness.

उपर्युक्त चार भाणों में से पद्मप्राभृतक और पाद ताडितक में उज्जयिनी और धूर्त-विटसंवाद और उभयाभिसारिका में पाटलिपुत्र कार्यस्थल हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार, इनके वर्णनों में वस्त्र, वेष, शिल्प, स्थापत्य, चित्र, खान-पान, नृत्य, संगीत, कला, शिष्टाचार आदि के सम्बन्ध की बहुमूल्य रोचक सामग्री पाई जाती है। ठेठ गुप्त-युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि इन भाणों में है।

डा० मोतीचन्द्र अग्रवाल ने चतुर्भाणी की भूमिका प्रस्तुत करते हुए बताया है—

लेकिन चतुर्भाणी के पढ़ते ही यह बात साफ हो जाती है कि उनका उद्देश्य तत्कालीन समाज और उसके बड़े कहे जाने वालों की कामुकता का प्रदर्शन करते हुए उन पर फबतियाँ कसना और उनका मजाक उड़ाना था। चतुर्भाणी के विट जीते-जागते समाज के एक अंग हैं, जिनका ध्येय हँसना-हँसाना ही है। इन भाणों में कहीं-कहीं अश्लीलता अवश्य आ गई है लेकिन विटों और आकाश भाषित-पात्रों के संवाद की शैली इतनी मनोहर और चुटीली है कि जिसकी बराबरी संस्कृत साहित्य में नहीं हो सकती है।

इन भाणों की रचना कब हुई—इस सम्बन्ध में डा० मोतीचन्द्र का मत उल्लेखनीय है—चतुर्भाणी का समय चौथी शताब्दी का अन्त और पाँचवीं का आरम्भ माना जा सकता है।

---

१. उदंचितकचः किंचिच्चिबुकश्मश्रुवेष्टने।
दिने देवगृहाधीशवदनं वीक्षते विटः॥

चतुर्भाणी को पढ़ते समय डा० मोतीचन्द्र को आधुनिक बनारस के दलालों, गुण्डों और मनचलों की जीवित भाषा सुनने की अनुभूति होती है। इसमें कामुक तथा वेश्याओं को क्रमशः तपस्वी और तपस्विनी कहा गया है।

जयदेव

गीतगोविंद के रचयिता जयदेव बङ्गाल के राजा लक्ष्मणसेन के शासनकाल (१२वीं शती के उत्तरार्द्ध) में संस्कृत-कविमण्डल के एक गण्यमान महाकवि हैं। जयदेव की सुरभारती का एक ही आदर्श मिला है और वह है गीतगोविन्द। यह अपनी कोटि का अनूठा ग्रन्थ है, जिसके रूप और रस का साम्य भारतीय साहित्य में अन्यत्र अप्राप्य है। जयदेव ने स्वयं ही कविराज की उपाधि अर्जित की थी और प्रादेशिक समाज ने उनकी इस उपाधि को सम्मानित किया था। जयदेव की जन्मभूमि पर उनके स्मारक-स्वरूप प्रतिवर्ष महोत्सव सम्पन्न किया जाता था।

यह कार्यक्रम कई शतियों तक चलता रहा। उत्सव में रात्रि के समय जयदेव-रचित गीतों का अभिनय के माध्यम से रसास्वादन कराया जाता था। उनके गीतों से प्रभावित होकर १४९९ ई० में प्रतापरुद्रदेव ने आदेश दिया कि नर्तक और वैष्णव गायक जयदेव के ही गीतों को अपनायें। इस प्रकार इस महाकवि का राष्ट्र की प्रवृत्तियों पर अनुपम प्रभाव पड़ा।

काव्य के बहुविध प्रकारों का एक अपूर्व मिश्रण गीतगोविंद में मिलता है। यही कारण है कि इसे विद्वानों ने गोप-नाट्य (Pastoral Drama), गीति-नाट्य (Lyric Drama), यात्रा आदि लक्षणों से समन्वित किया है। पिशेल और लेवी ने इसका रूप गीत और नाट्य के मध्य में निश्चित किया है। गीतगोविंद के प्रत्येक पद्य पर राग और ताल का निर्देश है और साथ ही संगीत के लिए समीचीन नृत्य का निर्देश भी किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि गीतगोविंद के द्वारा साधारणतः भले ही साक्षात् रंगमंच पर नाट्याभिनय का पूर्ण स्वरूप विकसित न हुआ हो, किन्तु रसिकों के मानस-पटल पर गीतगोविंद का अभिनय नित्य नूतन रस का संचार करता आ रहा है।

कृष्ण और राधा की प्रणयलीला की बहुविध झाँकियों का क्रमशः चित्रण करने के लिए जयदेव ने तदनुरूप रस-भाव-रागादि के अतिरिक्त आख्यान, वर्णन, संवाद, स्तोत्र और गीतों का अवसर के अनुकूल आश्रय लिया है। गीतगोविंद में जयदेव के लिए कृष्ण सर्वोच्च आराध्य होते हुए भी शृङ्गार की परिधि में निबद्ध हैं। यही महाकवि की काव्य-कला की सफलता है।

गीतगोविंद के प्रत्येक अक्षर में संगीत है और वह शक्ति है, जो अपने शिव और सुन्दर की प्रेरणा से हृत्तन्त्री को निनादित करने में समर्थ है। जिन छंदों के द्वारा इन अक्षरों का संयोजन किया गया है, उनकी भावप्रवणता कम से कम संस्कृत साहित्य में अप्रतिम ही है। इसी गुण के लिए गीतगोविंद को संस्कृत के न जानने वाले भी मूल भाषा में पढ़कर आनंद विभोर हो उठते हैं। आगे का श्लोक इसका उदाहरण है—

हरिरभिसरति वहति मधुपवने
किमपरमधिकसुखं सखिभवने।
माधवे मा कुरु मानिनि मानमये॥
तालफलादपि गुरुमतिसरसम्
किं विफलीकुरुषे कुचकलशम्॥ माधवे......

कहीं-कहीं पर दीर्घ समासों की बहुलता होने पर भी उनकी कोमलकान्त पदावली रसिकों को आकर्षित करती है—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलनमणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली।
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे॥

गीतगोविंद के छन्द अपभ्रंश साहित्य के छंदों के समान हैं। ये छंद साधारण सामाजिकों के लिए सदैव सुपरिचित रहे हैं। इन छन्दों में लघु मात्राओं की प्रचुरता और अनुप्रासात्मक ध्वनियों की बहुशः आवृत्ति स्पष्ट विशेषताएँ हैं।

त्रिविक्रमभट्ट १

नलचम्पू के रचयिता त्रिविक्रमभट्ट का समय दसवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना गया है। राष्ट्रकूट के राजा इन्द्र तृतीय के नवसारी शिलालेख के लेखक स्वयं त्रिविक्रमभट्ट हैं। इस शिलालेख का समय शक् संवत् ८३६ अर्थात् ९१५ ई० है। इस शिलालेख के अध्ययन से ज्ञात होता है कि त्रिविक्रम राष्ट्रकूट वंशी कृष्ण द्वितीय के पौत्र तथा जगत्तुंग के पुत्र इन्द्रराज तृतीय के सभापण्डित थे। इनका जन्म शांडिल्य गोत्र में हुआ था। इनके पितामह का नाम श्रीधर तथा पिता का नाम नेमादित्य था।

त्रिविक्रम भट्ट अपनी काव्यगत-श्लेषप्रधान-शैली के लिए संस्कृत साहित्य में अप्रतिम हैं। श्लेष का प्रयोग हम सुबन्धु की रचना में भी पाते हैं किन्तु अभङ्ग श्लेष होने के कारण वह विद्वानों के लिए भी दुरारूढ़ हो गया है। त्रिविक्रम की श्लेष-योजना सभङ्ग है।

भङ्गश्लेषकथाबन्धं दुष्करं कुर्वता मया

अतएव वह अधिक सरस, प्रसन्न, रमणीय तथा चमत्कार पूर्ण हो गई है। संस्कृत-साहित्य में अभिरुचि रखने वाले साधारण पाठक को भी काव्यगत अर्थ की प्रतीति

में अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। देखिये, नगरी और गौरी दोनों पक्ष की प्रतीति कराने वाली उनकी सरल सभङ्ग-श्लेष-योजना—

> जननीति मुदितमनसा सततं सुस्वामिना कृतानन्दा।
> सा नगरी नगतनया गौरीव मनोहरा भाति॥

इस प्रकार का श्लेष-प्रधान सरस रचना में उनकी इतनी अभिरुचि थी कि उन्होंने पुण्यात्मक प्रभावों के द्वारा ही ऐसी श्लेषमयी रमणीय रचना करने की योग्यता मानी है। त्रिविक्रम के अनुसार, उसकी उपमा किसी रमणीया से दी जा सकती है—

> प्रसन्ना कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
> भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥

संभवतः 'नलचम्पू' की इसी काव्यगत रमणीयता को देखकर हरिदास भट्टाचार्य ने चम्पू शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार की है—**चमत्कृत्य पुनाति सहृदयान् विस्मयीकृत्य प्रसादयति इति चम्पूः।**

नलचम्पू का जितना सम्बन्ध शैली से है, उतना विषय से नहीं। शाब्दी तथा आर्थी-क्रीडा दोनों पर उनका पर्याप्त अधिकार है। अभी तक के कवियों ने आकाश में केवल गङ्गा की स्थिति मानी थी किन्तु त्रिविक्रम ने अपनी प्रतिभा के चमत्कार से वहाँ गंगा के साथ यमुना को भी बहा दिया है—

> उदयगिरिगतायां प्राक् प्रभापाण्डुताया-
> मनुसरति निशीथे शृङ्गमस्ताचलस्य।
> जयति किमपि तेजः साम्प्रतं व्योममध्ये
> सलिलमिव विभिन्नं जाह्नवं यामुनं च॥

कवि की इस अनूठी कल्पना से प्रसन्न होकर किसी प्राचीन आलोचक ने उन्हें माघ को घण्टामाघ की भाँति 'यमुना-त्रिविक्रम' की उपाधि से अलंकृत किया था।

त्रिविक्रम भट्ट की दूसरी रचना 'मदालसाचम्पू' भी है, जिसमें महाराज कुवलयाश्व और उनकी प्रियतमा मदालसा की प्रणय-गाथा है। मदालसा गन्धर्वराज विश्वावसु की कन्या थी। उसकी मृत्यु हो जाने के पश्चात् कुवलयाश्व ने किसी को पत्नी न बनाने का दृढ़ निश्चय किया। कुवलयाश्व की कथा प्रधान होने से इसका नाम कुवलयाश्व-विकास भी है। इस चम्पू में छः उल्लास हैं। इसकी शैली सापेक्ष दृष्टि से सरल है।

दण्डी

दण्डी का प्रादुर्भाव कब हुआ, यह अभी तक सुनिश्चित नहीं। रचना-शैली और दशकुमारचरित के राज्य सम्बन्धी भौगोलिक उल्लेखों के आधार पर दण्डी को बाण के पहले माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में उनका समय ६०० ई० के लगभग होगा।

'काव्यादर्श' और 'दशकुमारचरित' दण्डी की रचनाएँ हैं, यह निर्विवाद है। इन दोनों रचनाओं के आधार पर ज्ञात होता है कि दण्डी दाक्षिणात्य थे और विदर्भ देश के निवासी थे। काव्यादर्श' में उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत तथा वैदर्भी शैली की प्रशंसा की है। 'दशकुमारचरित' में कलिंग और आन्ध्र देशों के उल्लेखों से, 'कावेरीतीरपत्तन' जैसे शब्दों के प्रयोग से तथा दक्षिण में प्रचलित सामाजिक एवं पारिवारिक प्रथाओं के वर्णन से भी उनका दाक्षिणात्य होना प्रमाणित होता है।

दशकुमारचरित में दश राजकुमारों के एक-दूसरे से वियुक्त होकर पुनः मिलने पर अपने शृंगार रसपूर्ण पराक्रमों की साङ्गोपाङ्ग गाथा सुनाने का वर्णन है। इनके माध्यम से दण्डी ने तत्कालीन भारतीय समाज के विलासी लोगों के कुचक्रपूर्ण जीवन की झाँकी प्रस्तुत की है। ऐसी रचनाओं में स्वभावतः विविध वर्गों और व्यवसायों की मनोवृत्तियों और व्यावहारिक प्रवृत्तियों का वर्णन रहता ही है। सभी कार्य-कलापों में अलौकिक कुशलता और कहीं-कहीं धूर्तता का प्रयोग प्रदर्शित किया गया है। वास्तव में यदि समाज की वैसी गति थी, जैसी दण्डी ने चित्रित की है, तो यही कहना पड़ेगा कि वह समाज डूबने के योग्य था। किन्तु सम्भवतः नागरिकों की कार्य-विधि की परिधि नगरों तक ही सीमित थी।

दण्डी की इस रचना का एकमात्र यही उद्देश्य हो सकता है कि वह समाज की रहस्यमयी एवं धततापूर्ण प्रवृत्तियों के जाल की पहचान पाठक को करा दे और साथ ही उसका मनोरंजन भी प्रस्तुत करे। सारे विधान अद्भुत हैं, किन्तु उनकी संघटना इस कुशलता से की गई है कि सब कुछ विश्वसनीय प्रतीत होता है। यही दण्डी की कला है।

काव्यादर्श की अनेक टीकाओं से उसकी विशेष लोकप्रियता प्रमाणित होती है।[१] काव्यादर्श तीन परिच्छेदों में विभाजित है। इसके प्रथम परिच्छेद में काव्य के भेदोपभेद का निदर्शन है। इनमें काव्य के अवान्तर भेद, भाषा-रूप और शब्द-विन्यास की दृष्टि से किये गये हैं। संस्कृत के काव्यशास्त्र में संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अपभ्रंश

१. १।३४,४१,४२।

और मिश्र कोटि की भाषाओं के साहित्य के अवान्तर भेद बनाकर इन भाषाओं की प्रतिष्ठा प्रमाणित की गई है और साथ ही विद्वानों की उदारता भी इससे व्यक्त होती है ।

दण्डी ने इस परिच्छेद में आगे चलकर वैदर्भी और गौड़ी रीतियों और दश गुणों का परिचय प्रथम परिच्छेद में दिया है और अनुप्रास के भेदों का वर्णन किया है । दण्डी के अनुसार प्रतिभा, श्रुत (अध्ययन) तथा अभियोग (अभ्यास) के द्वारा कविता करने की शक्ति होती है । दूसरे परिच्छेद में ३५ अलङ्कारों का वर्णन है । तीसरे परिच्छेद में यमक और गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र, स्वरस्थान-वर्ण-नियम आदि चित्रबन्धों का वर्णन करके १६ प्रकार की प्रहेलिका दी गई हैं और अन्त में १२ प्रकार के दोषों का निदर्शन किया गया है ।

काव्यादर्श में रीति और अलंकार को काव्य-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है ।

दण्डी ने सम्भवतः 'कला-परिच्छेद' नामक एक और ग्रन्थ लिखा था, जिसमें ६४ कलाओं का वर्णन किया गया था । यह ग्रन्थ अभी मिला नहीं है ।

दण्डी सुगम एवं मनोरम वैदर्भी गद्य-शैली के आचार्य कहे जाते हैं । उनकी वर्णन प्रणाली सरल और प्रासादिक है । शब्द और अर्थ पर उनका पूर्ण अधिकार है । अपने शब्दों के द्वारा वर्ण्य विषय का मूर्त रूप प्रस्तुत कर देना अथवा भावों को पाठकों के लिए हृदयङ्गम करा देना दंडी की विशेष कला है । दण्डी के गद्य की अपनी विशेषता है । सुबन्धु के गद्य के समान न तो वह 'प्रत्यक्षरश्लेषमय' है और न बाण के गद्य की भाँति 'सरसस्वरवर्णपद' से सुशोभित है । वे व्यावहारिक गद्य का ही प्रयोग करते हैं । वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं । वाक्यविन्यास आयासजनक नहीं किन्तु रस की अभिव्यक्ति शब्द-विन्यास की चारुता तथा कल्पना की उर्वरता दण्डी की विशेषताएँ हैं । शब्दों की ध्वनि भावों के अनुरूप प्रायः मधुरिम है । कहीं-कहीं कठोर भाषा का प्रयोग भी दशकुमार-चरित में मिलता है । कवि की विशेषता ही कही जा सकती है कि दशकुमारचरित के सातवें उच्छ्वास में ओष्ठ्य वर्णों का अभाव है क्योंकि वक्ता ओठ के कट जाने से उसका उपयोग करने में असमर्थ था । इससे स्पष्ट है कि भाषा को वक्ता के व्यक्तित्व के अनुरूप रखा गया है ।

सुन्दर, सुभग एवं सुबोध संस्कृत गद्य-लेखक की दृष्टि से दण्डी का अपना आदर्श है । इसीलिए आलोचक दण्डी को एकमात्र कवि घोषित करते हैं । **कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः ।** भारतीय आलोचकों की अन्य विशेषोक्तियों की भाँति इस प्रशंसा में भी अत्युक्ति का अभाव नहीं है ।

दिव्यावदान

दिव्यावदान में विनयपिटक की शिक्षाओं को कथाओं के माध्यम से लिखा गया है। कीथ के शब्दों में—"For more interesting as literature is the Divyavadana, a Collecton of legends which draws, like the Avadanashataka, largely on tha Vinayapitaka of the Sarvastivadin School of Buddhism. दिव्यावदान की रचना के समय का निश्चित निर्धारण नहीं हो पाया है किन्तु सम्भवत: इसकी रचना दूसरी शती में हुई। इसमें एक कथा प्रकृति नामक सुन्दरी की है, जो भिक्षु आनन्द को अपने वश में कर लेना चाहती थी। भिक्षु आनन्द ने बुद्ध की सहायता से छुटकारा पाया। दूसरी कथा कुणाल के अन्धे बनाये जाने की है। उसकी विमाता ने अशोक के द्वारा कुणाल को अन्धा बनवा दिया। तीसरी कथा रूपवती की है। उसने अपने स्तन काटकर उस माता को भोजन दिया, जो स्वयं अपने शिशु को भूख मिटाने के लिए खा जाना चाहती थी। इसकी कुछ कथाओं पर शिशुपालवध और बुद्धचरित का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें गौतम बुद्ध और बोधिसत्त्वों के सदाचार और मानवता के प्रति सहानुभूति एवं सहृदयता की कथाएँ मिलती हैं। इस ग्रन्थ की संस्कृत भाषा पर पालि और प्राकृत का प्रभाव यत्र-तत्र प्रचुर मात्रा में दीख पड़ता है।

इस ग्रन्थ में स्वाभाविक पदविन्यास के साथ भाव-सौष्ठव और प्रवाह, ओज, प्रसाद एवं माधुर्य स्पष्टत: परिलक्षित होता है। समास की प्रचुरता के साथ अलंकारों का भी अधिकतर प्रयोग दिव्यावदान में किया गया है। कथाओं के माध्यम से यह ग्रन्थ भगवान् बुद्ध के उपदेशों को जनसमूह के कल्याणार्थ प्रस्तुत करता है।

नीर्पाजे भीमभट्ट

नीर्पाजे भीमभट्ट का जन्म १९०३ ई० में हुआ। ये दक्षिण कर्नाटक में कल्याण में संस्कृत पाठशाला के अध्यापक थे। इन्होंने सन् १९५४ ई० में "कश्मीर-सन्धान-समुद्यम" नामक एकांकी का प्रणयन किया। इस नाटक का वर्ण्य-विषय है—कश्मीर के विगत दस वर्षों की राजनीतिक समस्या। इसमें राजगोपालाचार्य, पं० जवाहरलाल नेहरू, डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी, शेख अब्दुला, नवाबजादा लियाकतअली खाँ, संयुक्तराष्ट्र के प्रतिनिधि ग्राहम आदि पात्र हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र में समसामयिकता की दृष्टि से यह एकांकी अपूर्व ही है। पाठक के समक्ष इस प्रकार देश की समस्याओं को यदि संस्कृत के कवि अपनी सांस्कृतिक सूझ-बूझ के साथ उपस्थित करें तो देववाणी की सामयिक उपयोगिता सुप्रतिष्ठित होकर रहेगी। नाटक भाषा एवं भाव की दृष्टि से

ओजपूर्ण है। सन् १९६२ ई० में प्रफुल्ल रामचन्द्रडु ने सुसंहत-भारतम्' नामक नाटक की रचना की, जिसमें भारत के एकीकरण की समस्या का समाधान समसामयिक नेताओं को पात्र बना कर बतलाया गया है।[१]

नीलकण्ठ दीक्षित

तञ्जौर के सर्वश्रेष्ठ कवि नीलकण्ठ दीक्षित का समय सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। ये मदुरा के शासक तिरुमल नायक के आश्रय में रहते थे। इन्होंने अपनी शिक्षा वेङ्कटेश्वर मखी से प्राप्त की थी। नीलकण्ठ के पिता नारायण दीक्षित थे, जो स्वयं साहित्य शास्त्र के महान् पंडित थे।

नीलकण्ठ ने अपने जीवन काल में अनेक काव्य-ग्रन्थों की रचना की है। इनका 'शिवलीलार्णव' महाकाव्य २२ सर्गों में सम्पन्न हुआ। इसमें मदुरा में पूजित शिव की ६४ लीलाओं का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। अपने भक्तों की रक्षा के लिए शिव अनेक रूपों को धारण करते हैं। जहाँ-कहीं भी असत्य या अधर्म की वृद्धि दिखाई देती अथवा अपने भक्त पर पड़ता हुआ कष्ट दिखाई देता वहाँ शिव प्रासङ्गिक रूप धारण कर उनकी सहायता करने आ पहुँचते हैं। इस प्रसंग में पशु-पक्षियों के भी शिवभक्त होने का विवरण है। महाकाव्य में सर्वत्र अद्भुत-रस की सृष्टि की गई है।

नीलकण्ठ का दूसरा महाकाव्य 'गङ्गावतरण' आठ सर्गों में प्रणीत हुआ है। इसमें कवि ने गङ्गा की भव्यता की प्रतिष्ठा की है—'हिमालय की एक कन्या थी। वह कुटिला थी। देवता शिव को प्रदान करने के लिए उसे स्वर्ग में ले गये। ब्रह्मा ने जब उसे आठ आँखों से देखा तो कहा कि यह शिव के योग्य नहीं है। गर्विता कन्या कुछ कहना ही चाहती थी कि ब्रह्मा ने शाप दे डाला कि तू पानी हो जा। जल होकर अपनी महातरङ्गों से ब्रह्मा को ही विलीन करने वह चली। ब्रह्मा के भी होश ठिकाने आ गये। वेदपाठ भूल गये। उन्होंने चारों वेदों का सेतु बनाकर गङ्गा के स्वच्छन्द प्रवाह को रोका। उसी को भगीरथ अपने पूर्वजों के उद्धार के लिए लाये। इस प्रयास में उन्हें ब्रह्मा, शिव आदि को प्रसन्न करने के लिए तपस्या करनी पड़ी।'

'गङ्गावतरण' की शैली अतिशय प्रशस्त है। इसकी अलंकारमयी सरल भाषा में रसोद्बोध की असीम क्षमता है तथा कल्पनाएँ विशद और लोकप्रिय हैं। गङ्गावतरण का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

> **आ विरञ्चिगृहमा हिमाचलं निर्मला ददृशिरे तदूर्मयः।**
> **स्वर्वधूभिरभितो दिदृक्षया पातिता इव कटाक्षरेखिकाः॥**

---

१. प्राप्ति स्थान—संस्कृतपरिषद् विश्वविद्यालय, सागर (मु० प्र०)

(ब्रह्मा के लोक से हिमालय तक गङ्गा की निर्मल धारा इस प्रकार सुशोभित हुई मानो स्वर्वधुओं ने चारों ओर देखने के लिए कटाक्ष की रेखाएँ फैलाई हों।)

काव्य के नायक भगीरथ के विषय में कवि का उद्गार देखिये—

दातुं प्रवृद्धश्चन्द्रोऽपि पक्षे पक्षेऽपचीयते।
स तु भूयोऽप्यवर्धिष्ट संततं वितरन् नृपः॥

महाकाव्य में यत्र-तत्र मनोरम सूक्तियाँ भी मिलती हैं; यथा—

क्व कूपमण्डूकनिभा मतिर्नृणाम्
क्व देवतातत्त्वविचारचातुरी॥

'गङ्गावतरण' में पूर्व परम्परा के अनुसार वर्णनों का संयोजन तो है किन्तु वे वर्णन अधिक से अधिक २५ श्लोकों तक सीमित हैं। इसमें उल्लेखनीय वर्णन राजा भगीरथ, उनका तप, ग्रीष्म ऋतु, कामिदशा, हेमन्त, शिवपार्वती, प्रयाण, गङ्गा का स्वर्ग से उतरना, गङ्गा के साथ भगीरथ की यात्रा, नारी-संभ्रम आदि विषयों से सम्बद्ध हैं। यह महाकाव्य कला की दृष्टि से सफल कहा जा सकता है।

कवि की अन्य रचनाओं में 'कलिविडम्बन' व्यंग्य शैली में लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें मानववादी एवं सुधारवादी दृष्टिकोण को उपस्थित किया गया है। यह ग्रन्थ प्रधान रूप से उपदेशात्मक है। इनका एक और अन्य ग्रन्थ 'सभारञ्जन' है, जिसका प्रमुख उद्देश्य पाण्डित्य-पूर्ण बातों को कहकर चमत्कार विधि से विद्वानों की बुद्धि को विशद करते हुए उनका मनोरञ्जन करना है।

इसके अतिरिक्त कवि ने 'शान्तिविलासम्' 'अन्यापदेशशतकम्' 'वैराग्यशतकम्,' 'आनंदसागरस्तवम्', 'शिवोत्कर्षमञ्जरी', 'चण्डीरहस्य', 'रघुवीरस्तव'—नाटक तथा नलचरित—चम्पू आदि अनेक काव्यग्रन्थों की रचना की है।

पञ्चतन्त्र

कथाओं का प्रथम सुविख्यात कलापूर्ण संग्रह पञ्चतन्त्र है, जिसका विश्व साहित्य में अपना स्थान है। पञ्चतन्त्र के तन्त्रात्मक रूप की रचना ३०० ई० के लगभग हुई। इसके रचयिता विष्णुशर्मा कहे जाते हैं। पञ्चतन्त्र की यदि कोई विशेषता है तो यह है उसकी कहानियों के कलात्मक विन्यास में, जिसके द्वारा कहानियों के माध्यम से पाँच तन्त्रों—मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षितकारक पर प्रकाश डाला गया है।

पञ्चतन्त्र की कथाओं के पात्र साधारणतः पशु-पक्षी आदि हैं। पशु-पक्षियों ने मानवोचित वाणी के साथ स्वार्थ, परार्थ, दूरदृष्टि, उत्साह, कर्तव्यपरायणता आदि गुणों

को अपना लिया है। इस प्रकार कहानियों के संविधान की परिधि द्विगुणित हो गई है और साथ ही अद्भुत होने के कारण कथानक में रोचकता आ गई है। इसे नीतिशास्त्र का परिचय कराने वाला ग्रन्थ माना गया है। पंचतन्त्र के अध्ययन कर लेने पर उस प्राचीन युग का कोई भी व्यक्ति लोक-व्यवहार में कुशलता के साथ ही शालीनता और शिष्टाचार की शिक्षा भी प्राप्त कर सकता था।

पञ्चतंत्र की शैली कथात्मक, आलोचित और प्रभावशालिनी है। गद्य के बीच दृष्टान्त भरे सरल पद्यों का मनोरम विन्यास है। कहानियों में भरपूर आस्वाद है।

गुणाढ्य की बृहत्कथा की तरह पञ्चतन्त्र के नये-नये रूप कलाकारों के हाथों से बनते रहे। तन्त्राख्यायिका, पूर्णभद्र द्वारा रचित पञ्चाख्यानक तथा हितोपदेश इसी के बहुत कुछ नये रूप हैं।

पञ्चतंत्र का विदेशों में अतिशय सम्मान हुआ। छठी शती में इसका फारसी में, ५७० ई० में सीरियाई में और ७५० ई० में अरबी में अनुवाद हुआ। पश्चात् ग्रीक, इटली, लैटिन, जर्मन आदि भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ का प्रादुर्भाव सत्रहवीं शताब्दी में तैलंग प्रदेश में हुआ। इनका रचनाकाल १८वीं शती के आरम्भिक युग तक माना जा सकता है। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी देवी था। इनकी विद्या का समादर शाहजहाँ ने किया और इन्हें पंडितराज की श्रेष्ठतम् उपाधि से विभूषित किया। पंडितराज ने "पीयूषलहरी" में गंगा की, "अमृतलहरी" में यमुना की, "सुधालहरी" में सूर्य की तथा "करुणालहरी" एवं "लक्ष्मीलहरी" में क्रमशः विष्णु और लक्ष्मी की स्तुति की है। इसके अतिरिक्त इन्होंने आसफविलास, यमुनावर्णन, प्राणाभरण, जगदाभरण, भामिनीविलासचित्रमी मांसाखण्डन, मनोरमाकुचमर्दन आदि ग्रन्थ लिखे हैं।[1]

पण्डितराज कोरे कवि ही नहीं थे अपितु उनका व्याकरण एवं काव्यशास्त्र पर अप्रतिम अधिकार था। उनका रचा हुआ ग्रन्थ "रसगङ्गाधर" काव्य शास्त्र का अनूठा रत्न है। इसी संदर्भ में कृष्णमाचार्य ने लिखा है—"Rasagangadhara testifies to his high culture in the appreciation of poetry."

१. जगन्नाथ की उपर्युक्त कृतियों में से गद्यकाव्य यमुनावर्णन, नवाब आसफ खाँ की प्रशस्ति आसफविकलास आदि अभी तक अप्राप्य हैं। शेष ग्रन्थ प्रायः काव्यमाला सीरीज में प्रकाशित हैं।

"भामिनी विलास" पंडितराज के मुक्तक-गीतात्मक पद्यों का सुन्दर संग्रह है। इनके पद्य अत्यन्त सरस, सुन्दर भावपूर्ण एवं चित्त पर सद्यः प्रभाव डालने वाले हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ की शैली अत्यन्त उदार, मधुर एवं लालित्य पूर्ण है। भर्तृहरि के सदृश इनका भी शब्द शोधन अनवद्य और अत्यन्त रुचिर होता है। प्रांजल पद-शय्या, अभिनय-विचारधारा तथा सुललित छन्दों का माधुर्य—ये गुण पंडितराज के पद्यों में सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। यथा—

तीरे तरुण्या वदनं सहासं नीरे सरोजं च मिलद्विकासम्।
आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला॥

परवर्ती-युगीन महाकवियों में पण्डितराज की काव्य-प्रतिभा अद्वितीय प्रभा से समन्वित प्रतीत होती है। पण्डितराज संस्कृत वाणी के अनन्यतम उन्नायकों में से हैं। अकेले पंडितराज की अनूठी काव्य-रचना और शस्त्रानुसन्धान आधुनिक संस्कृतरचना को सर्वोच्च गौरव प्रदान करने में पूर्णतः समर्थ है।

पद्मगुप्त

पद्मगुप्त ने "नवसाहसांकचरित" की रचना लगभग १००५ ई० में की। ये परिमल के नाम से भी विख्यात हैं। पद्मगुप्त नवसाहसांक (सिन्धुराज) के राजकवि थे। सिन्धुराज वज्रांकुश को पराजित करके नागराज शंखपाल की राजकुमारी शशिप्रभा से विवाह करते हैं। इसी घटना को लेकर कवि ने नानाविध वर्णनों से महाराज नवसाहसांक के चरित्र पर प्रकाश डाला है। वैसे तो यह महाकाव्य केवल प्रशस्ति-मात्र है, किन्तु यदि उसकी पौराणिक वर्णन-प्रणाली और अलंकृत काव्य-शैली के बीच ऐतिहासिक तथ्यों की खोज की जाय तो तत्कालीन इतिहास की अनेक विश्वसनीय घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है। इसकी पुष्टि अन्यान्य शिलालेखों एवं अन्य बहिरंग प्रमाणों से भी होती है। चालुक्यवंशी राजकुमारी 'कर्णसुन्दरी' आदि के विवाह का भी इसमें उल्लेख मिलता है।

'नवसाहसांकचरित' में सिन्धुराज द्वारा विजित जिन राजाओं एवं देशों का वर्णन है, उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध हो चुकी है। 'नवसाहसांक-चरित' के बारहवें सर्ग में परमारवंशीय राजाओं का उल्लेख मिलता है तथा इसकी सिद्धि शिलालेखों आदि से भी हो जाती है। इस प्रकार यह काव्य परमारवंश का परिचय कराने में पूर्णतः सहायक सिद्ध हुआ है।

पद्मगुप्त ने वैदर्भी रीति से अपने काव्य का प्रणयन किया है। 'नवसाहसांकचरित' में १८ सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में भिन्न-भिन्न छन्दों का निर्वाह किया गया है। ऐतिहासिकता की पुट पदे-पदे दृष्टिगत होती है। इतना ही नहीं, इनकी भाषा एवं शैली पर कालिदास

आदि की शैली का प्रभाव दीख पड़ता है। छोटे-छोटे शब्दों एवं वाक्यों में इनकी वर्णन कुशलता एवं स्वरमाधुर्य का परिचय मिलता है।

वर्धमान ने अपने 'गणरत्नमहोदधि' में, क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य विचार चर्चा' में तथा भोज ने 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में पद्मगुप्त का उल्लेख किया है। कीथ महोदय के शब्दों में—"He may represent the tradition of one or other of these poets; if indeed they are to be identified."

परवर्तीयुगीन उत्तम काव्यों में 'नवसाहसांकचरित' को प्रतिष्ठा मिली है।

बिल्हण

बिल्हण का जन्म कश्मीर में प्रवरपुर के समीप कोनभुख में हुआ था। इनके पिता ज्येष्ठकलश एवं माता नागदेवी थीं। कृष्णमाचार्य ने इनके परिवार के संबंध में लिखा है—इनके पिता ने महाभाष्य की टीका लिखी और इनके दो भाई कवि थे। बिल्हण का प्रादुर्भाव तो कश्मीर में हुआ किन्तु ये सुयोग्य आश्रयदाता की खोज में प्रायः समग्र भारत में भ्रमण करते हुए दक्षिण में कल्याण के चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य षष्ठ की सभा में प्रतिष्ठित हुए। पहले इन्होंने मथुरा में आकर वृन्दावन के पंडितों से शास्त्रार्थ किया। फिर कन्नौज, प्रयाग और बनारस में आए। पश्चात् बुन्देलखण्ड, गुजरात आदि का भ्रमण करते हुए अन्त में ये कल्याण पहुँचे थे। विक्रमादित्य षष्ठ (१०७०-११२७ ई०) ने इन्हें विद्यापति बनाया था।

१०५० ई० के लगभग इन्होंने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' नामक ऐतिहासिक महाकाव्य लिखा। बिल्हण ने १८ सर्गों में आश्रयदाता विक्रमादित्य के पूर्वज राजाओं के पराक्रम का वर्णन किया है। इसमें उनके पिता आहवमल्ल की मृत्यु, राजकुमारी चन्द्रलेखा से विवाह, उनके दो भाइयों तथा चोलों की पराजय आदि घटनाओं का सरस वर्णन किया गया है। अठारहवें सर्ग में बिल्हण ने अपने कुटुम्ब के वर्णन के साथ अपनी भारत-यात्रा का वृत्तान्त लिखा है।

बिल्हण को कवि-कर्म के गौरव का अभिमान था। तभी तो उन्होंने कहा है :—

लङ्कापतेः सङ्कुचितं यशो यत् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीया कवयः क्षितीन्द्रैः।।

बिल्हण की सफलता ऐतिहासिक दृष्टि से आंशिक ही मानी जा सकती है। ऐतिहासिक तथ्यों से सामंजस्य स्थापित करने में बिल्हण को अत्यधिक सफलता मिली है। वस्तुतः ये उच्च कोटि के कवि थे। बिल्हण ने सरल एवं प्रसादपूर्ण वैदर्भी शैली को

अपनाया है। इनकी कृति रमणीय है। काव्य-सौष्ठव का रसास्वादन कराते हुए विल्हण अपनी जन्मभूमि का वर्णन करते हैं :—

> ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानाम्
> किं श्रीकण्ठश्वशुरशिखरिक्रोडकीलालवाम्नः।
> एको भागः प्रकृतिसुभगं कुंकुमं यस्य सूते
> द्राक्षामन्यः सरससरयू-पुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम् ॥

इस श्लोक के द्वारा विल्हण ने अपनी जन्मभूमि को 'बृहत्कथा' का स्रोत बतलाने की चेष्टा की है।

विल्हण ने ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में 'चौरपञ्चाशिका' (चौरी-सुरत-पञ्चाशिका) नामक ५० पद्यों का एक लघुकाव्य लिखा। शतकों के साथ विल्हण की 'चौरपञ्चाशिका' शृंगार रस का निर्भरानन्द सर्जन करने के लिए गूढ़ प्रणय का आश्रय लेकर एक अभिनव अध्याय ही प्रस्तुत करती है। इसमें कवि की अपनी निजी गाथा है। वह राजकुमारी के प्रणयपाश में आबद्ध होकर चोरी-चोरी उससे मिलता है। राजा उसे प्राणदण्ड देता है। इसी अवसर पर चोर कवि अपनी प्रणयात्मक रसानुभूतियों का मार्मिक वर्णन इस प्रभावपूर्ण विधि से करता है कि राजा तत्सम्बन्धी श्लोकों को सुनकर उसे क्षमा ही कर देता है। राजकन्या का विवाह कवि के साथ राजानुमति से हो जाता है। कवि की भावुकता की गम्भीरता की कल्पना नीचे लिखे श्लोक से हो सकती है—

> अद्यापि तामविगणय्य कृतापराद्धम्।
> मां पादमूलपतितं सहसा गलन्तीम्॥
> वस्त्राञ्चलं मम कराग्निजमाक्षिपन्तीम्।
> मा मेति रोषपरुषं ब्रुवतीं स्मरामि ॥

(अर्थात् आज भी मुझे स्मरण आ रहा है कि सापराध होने पर जब मैं उसके पादमूल पर जा गिरा तो उसने मेरे इस अनुनय का कुछ भी विचार न करके सहसा भागती हुई मेरे हाथों से अपने वस्त्राञ्चल को खींचती हुई क्रोधपूर्वक डाँटती गई—नहीं नहीं।)

'विक्रमांकदेव-चरित' में विल्हण ने जो अपना जीवन-वृत्त दिया है, उसमें उक्त घटना का कोई उल्लेख नहीं है। 'चौरपञ्चाशिका' की भाषा सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। शैली सरस एवं मधुर है। वसन्ततिलका का वासन्तिक सौरभ यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। कीथ ने कहा है—

"The Vasantatilaka stanzas depict with minute and often charming detail the past scenes of happy love, and possess an elegance which is not exhibited in the Vikramankadeva-charita."

भगवदाचार्य

"भारत-पारिजात" में स्वामी श्री भगवदाचार्य ने महात्मागाँधी के चरित को प्रथम २५ सर्गों में लिखा है। गाँधी जी के पूरे चरित को भगवदाचार्य ने तीन भागों में सम्पन्न किया है। 'भारत-पारिजात' में दण्डी-प्रयाण तक चरित है। दूसरे भाग 'पारिजाता-पहार' के उनतीस सर्गों में १६४२ ई० के 'भारत-छोड़ो तक की घटनाओं का संकलन है। तीसरे भाग पारिजात-सौरभ के २१ सर्गों में नोवाखाली-यात्रा का विशेष वर्णन है।

'भारत-पारिजात' के रचयिता भगवदाचार्य प्राचीन एवं नवीन भारतीय संस्कृति के सामंजस्य के परमोपासक हैं। उनके व्यक्तित्व में कर्मयोग का सच्चा परिपाक हुआ है। संन्यासी का जीवन बिताते हुए भी वे जिज्ञासा की परितृप्ति के लिए और भारतीय संस्कृति के प्रचार के लिए देश-विदेश में परिभ्रमण कर चुके हैं।

ऐतिहासिक तथ्यों को काव्य के साँचे में ढालने में कवि को अपूर्व सफलता मिली है। भारत-पारिजात के कुछ श्लोकों के पर्यालोचन से इसके स्वरूप का परिचय मिलेगा।

नानापराधं हरिमन्दिरेषु येषां प्रवेशः प्रतिषिद्ध आसीत्।
तेषां ममौ हर्षभरो न चित्ते संचिन्त्य सर्वोद्धृतिकृत्प्रसूतिम्॥

(अर्थात् बिना अपराध के ही जिन लोगों का भगवान् के मंदिर में जाना निषिद्ध था, उन्होंने जब सोचा कि सबके उद्धार करने वाले महापुरुष (गाँधी) का जन्म हो रहा है, तब उनका आनन्द उनके मन में नहीं समाया)

'भारत-पारिजात' की शैली अत्यन्त मनोरम एवं विशद है। उपदेशात्मक होते हुए भी उसमें काव्यतत्व का परिपाक हुआ है। कवि का मुख्य उद्देश्य है—समाज को गाँधी तत्व के आदेशों के प्रति भावुक बनाना। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारत-पारिजात के रसोद्रेक में जन-मन प्रकाम प्रवाहित होता है।

'भारत-पारिजात' में २६ प्रकार के वार्तिक छन्दों का उपयोग हुआ है। कवि के विशेष प्रिय छन्द वसन्ततिलका एवं अनुष्टुप् है। कुसुमविचित्रा, मेघ-विस्फूर्जित, जलोद्धतगति, मत्तमयूर आदि छन्दों के क्वचित् प्रयोग से काव्य की रुचिरता बढ़ गई है।

भट्टि

"रावणवध" या "भट्टिकाव्य" के रचयिता भट्टि का आविर्भाव श्रीधरसेन के राज्य-काल में सौराष्ट्र की वलभी नगरी में हुआ। किन्तु पुरातन शिलालेखों में श्रीधरसेन नामक चार राजाओं का उल्लेख मिलता है। श्रीधरसेन प्रथम का समय ५०२ ई० है

और अंतिम राजा का समय ६४१ ई० है। शिलालेख से यह भी स्पष्टतः पता चलता है कि ६१० ई० में श्रीधर सेन द्वितीय ने किसी भट्टि नामक विद्वान् को भूमिदान दिया था। इस प्रकार भट्टि का समय सातवीं शती का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। भट्टि महाकवि के साथ ही उच्च कोटि के वैयाकरण और काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे। इन्होंने इस काव्य में व्याकरण और अलंकार शास्त्र के नियमों की व्याख्या रामकथा के साथ ही प्रस्तुत की है।

भट्टिकाव्य में २२ सर्ग और १६२४ श्लोक हैं। भट्टिकाव्य सर्वसाधारण के लिए नहीं लिखा गया। कीथ के शब्दों में—"Bhatti,s poem is a lamp in the hands of those whose eye is grammar, but a mirror in the hands of the blind." अर्थात् व्याकरण के पारंगत लोगों के लिए यह ग्रन्थ दीपतुल्य है किन्तु व्याकरण न जानने वालों के लिए यह वैसा ही है, जैसे अन्धे के हाथ में दर्पण।

"भट्टिकाव्य" की कथावस्तु वाल्मीकि रामायण के अनुरूप विकसित की गई है। इसमें रामचरित की घटनाओं का मनोरम एवं सरल संयोजन है। भट्टि की वर्णनाशक्ति उच्च कोटि की थी। इन्होंने अपने काव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार का अत्यधिक प्रयोग किया है। अर्थ-गौरव की सिद्धि इन्होंने छोटे-छोटे वाक्यों में भावगाम्भीर्य भरकर सफलतापूर्वक की है। यही कारण है कि परवर्ती युग में अनेक कवियों ने व्याकरण आदि विषयों को मनोरम विधि से भट्टि के आदर्श पर स्पष्ट करने के लिए अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया।

भर्तृहरि

भर्तृहरि के पिता चन्द्रगुप्त एवं माता सिन्धुमती थीं। विक्रमार्क एवं भट्टि इनके सौतेले भाई थे। भर्तृहरि के तीन शतक–शृंगार, वैराग्य एवं नीति–गीतिकाव्य के गुणों से परिपूर्ण हैं। कीथ के मतानुसार प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ "वाक्यप्रदीप" के रचयिता वही भर्तृहरि थे, जिनकी मृत्यु इत्सिंग के अनुसार ६५० ई० में हुई थी। भर्तृहरि शैववेदान्ती आचार्य सातवीं शती में हुए। इनके वर्णनों से परिलक्षित होता है कि राजकीय जीवन से इनका प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा होगा। उनकी दृष्टि बहुत कुछ राजधानी के वैभव और विलास की उपादेयता एवं हेयता का विवेचन करती है। इन्हीं शतकों के आधार पर भर्तृहरि के जीवन-विन्यास की कल्पना की गई है कि वे प्रधान रूप से भोगासक्त थे, पर उससे ऊबकर कभी-कभी संन्यास ले लेते थे।

भर्तृहरि उच्चकोटि के प्रतिभाशाली सुविचारक थे। इनको अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम भले ही न रहा हो, किन्तु संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार परिलक्षित

होता है। भाषा कौशल के माध्यम से वे क्षण भर में ही पाठक के मन पर क्रमशः भाव-लहरियों का अङ्कन अतिशय प्रभावोत्पादक शैली में करने में सिद्ध हस्त थे। इन शतकों में शार्दूल विक्रीडित, शिखरिणी, श्लोक, वसन्ततिलका, स्रग्धरा, आर्या आदि विविध मनोरम छन्दों का विन्यास सुललित विधि से भावानुकूल वातावरण में किया गया है।

भर्तृहरि के 'नीतिशतक' में मनुस्मृति एवं महाभारत की गम्भीर नैतिकता प्रस्फुटित हुई है। 'शृंगारशतक' में इन्होंने जीवन की शृंगारमयी प्रवृत्तियों का विवेचन सफल एवं शालीन विधि से किया है। शृंगार का वर्णन करते समय भी भर्तृहरि को रमणियों के अतिरिक्त पर्वत-गुहाओं की, युवावस्था के अतिरिक्त तपोभूमि की और आलिंगन के अतिरिक्त गंगा के किनारे पर्णकुटी की स्मृति रही है। भर्तृहरि का अन्तिम निवेदन है—

> मातर्मेदिनी तात मारुत सखे ज्योतिः सुबन्धोजल।
> भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामन्त्यः प्रणामाञ्जलिः।
> युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
> ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परे ब्रह्मणि ॥

भर्तृहरि की शैली प्रासादिक, सदुक्तिमयी, परिष्कृत और मंजी हुई है। भाषा इतनी सरल, सरस, स्वाभाविक एवं सुबोध है कि कवि का तात्पर्य पद्यों को एक बार पढ़ने से ही भली भाँति ज्ञात हो जाता है। दैनिक जीवन के गूढ़ एवं प्रत्यक्ष सत्यों को भर्तृहरि ने बड़े हृदयग्राही ढंग से प्रस्तुत किया है। विषय की रोचकता, सूक्तियों की सुन्दरता तथा उदाहरणों की अनुरूपता भर्तृहरि के काव्य को चारुता प्रदान करती हैं।

मंख (मंखक)

भारत की एकता प्रसाधित करने वाले कवियों में कश्मीर के मंख का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसका भाई, अलंकार कवि एवं बृहत्तन्त्राधिपति था। रुय्यक उसका गुरु था। कश्मीर में बारहवीं शती में मंख ने २५ सर्गों में "श्रीकण्ठचरित" की रचना की। इन्हें राजाश्रय प्राप्त था। "श्रीकण्ठचरित" में शिव के द्वारा त्रिपुरारि-वध का सुप्रसिद्ध कथानक है। इसके अन्तिम सर्ग में कुछ समकालीन और पूर्ववर्ती कवियों का वर्णन है। रुय्यक ने इस काव्य की अतिशय प्रशंसा की है। ११२८ से ११४० ई० तक जयसिंह ने उसे युद्ध-मन्त्री बनाया। मंख का व्यक्तित्व अतिशय उदात्त था। उसकी प्रतिभा अलौकिक थी।

मंख ने अपने काव्य के परीक्षण के लिए जिस विद्वत्परिषद् का वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—सर्वोच्च विद्वान् चक्राकार में बैठे हैं। ३० सदस्य हैं। जिनमें नन्दन वेदों

का श्रेष्ठ व्याख्याता है। तेजकण्ठ ने मंख की कविता शक्ति और विद्वता की प्रशंसा की है। "श्रीकण्ठचरित" में यद्यपि शृंगार का बाहुल्य है, फिर भी २२वें और २३वें सर्ग में वीररस की तथा चौथे एवं पाँचवें सर्ग में शान्तरस की प्रचुरता है।

मंख रसवादी थे, यद्यपि वे वक्रोक्ति, अलंकार, रीति, गुण आदि को काव्य का महत्व-पूर्ण उपादान मानते थे। वह युग काव्यात्मक गहनता का था। मंखक पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा है। लम्बे-लम्बे समास उनकी रचनाओं में मिलते हैं। वैदर्भी रीति के साथ ही इन्होंने यत्र-तत्र गौड़ी रीति का भी प्रयोग किया है। इन्होंने वंशस्थ, वसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, मन्दाक्रान्ता, अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रादि वृत्तों का उपयोग किया है।

मथुराप्रसाद दीक्षित

महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाद दीक्षित का जन्म १८७८ ई० में हरदोई जिले के भगवन्त नगर में हुआ था। दीक्षित जी ने हिन्दी एवं संस्कृत के ग्रन्थों की रचना में ही अपना सारा जीवन लगा दिया। संस्कृत में ही उनकी २४ रचनाएँ हैं जिनमें से छः नाटक हैं। इनके कृतित्व को सर्वोच्च मानकर १९३६ ई० में केन्द्रीय शासन ने इन्हें "महामहोपाध्याय" की उपाधि से अलंकृत किया।

इनके नाटकों का विशेष महत्त्व सामयिकता की दृष्टि से है। पराधीनता को सांस्कृतिक पतन का प्रमुख कारण मानकर इन्होंने समाज को उद्बोधित करने का संकल्प नाटकों के द्वारा कार्यरूप में परिणत किया। इनके प्रथम नाटक "वीरप्रताप" में महा-राणा प्रताप का सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक जीवन-चरित है। दीक्षित जी का दूसरा नाटक "शंकर-विजय" है। इसमें महान् दार्शनिक शंकर के अद्वैत-दर्शन प्रचार की कथा के माध्यम से दार्शनिक तत्त्वों का परिवेश मिलता है। "पृथ्वीराज-विजय" नाटक में दीक्षित जी ने इतिहास-प्रसिद्ध पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी के संघर्ष का कथानक अभिनय बनाया है। दीक्षित जी का चौथा नाटक "भक्तसुदर्शन" है। इस नाटक में दुर्गा के उपासक सुदर्शन की कथा वर्णित है। इनका "गाँधी-विजय" नाटक कई दृष्टियों से एक नई परम्परा का प्रवर्तक कहा जा सकता है। यह केवल दो अंकों में सम्पन्न हुआ है। इसमें गाँधी जी के अफ्रीका-देशीय चरित और भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का मनोग्राही चित्रण किया गया है। भारत की दुर्दशा का चित्रण भावुकतापूर्ण है। 'भारत-विजय' इनका अन्तिम नाटक है। इस नाटक की रचना १९३७ ई० में हुई, जब भारत परतन्त्रता की शृंखला से निगड़ित होकर परिपीड़ित था। इस नाटक में उन्होंने स्वाधीन भारत की कल्पना प्रस्तुत कर दी है।

भारत-विजय की पाण्डुलिपि १९४६ ई० तक शासकों ने जप्त रखी। १९४७ ई० में इस पुस्तक का प्रकाशन भारतीय स्वतंत्रता के अरुणोदय में हुआ। भारत विजय नाटक

भारत की परतन्त्रता की कहानी से आरम्भ होता है। इस नाटक में १८५७ ई० की भारतीय क्रान्ति का दिग्दर्शन कराते हुए दीक्षित जी ने स्वतन्त्रता के महोत्सव का हृदयग्राही चित्रण किया है।

दीक्षित जी की नाटक की शैली सरस एवं भावपूर्ण है। इनकी रीति ग्रहणीय है। वास्तव में इन्होंने एक नई परम्परा स्थापित की है।

महालिंग शास्त्री

महालिंग शास्त्री का जन्म १८९७ ई० में हुआ। ये अपने युग के सफल वकील रहे हैं। इस व्यवसाय को अपने लिए परिसमाप्त करके इन्होंने साहित्य-साधना के द्वारा लोकरुचि को परिशोधित करने का व्रत लिया है। इस दिशा में इनका नाटक "कलि-प्रादुर्भाव" विशेष महत्वपूर्ण कृति है। हमारी प्रवृत्तियों पर कलियुग का विषम प्रभाव किस सीमा तक पड़ा है—यह बता देना इस नाटक का विशेष उद्देश्य है। सम्पूर्ण नाटक में मानव को पदे-पदे सन्देश मिलता है कि साधारणतः वह अयोग्य मार्ग पर जा रहा है। 'कलि-प्रादुर्भाव' अपनी नई प्रवृत्ति के लिए प्रशंसनीय कृति माना गया है। इसकी भाषा में युगोचित सरलता है और विषय का निर्वाह क्रमपूर्ण होने से सुबोध है।

इनका दूसरा नाटक 'राजसूयम्' मद्रास की संस्कृत-एकेडेमी द्वारा आयोजित प्रतियोगिता में सर्वप्रथम निर्णीत हुआ था। इसमें दुर्योधन के राजसूय यज्ञ का कथानक है, जिसको उसने पाण्डवों को वन में भेजकर संपादित किया था। इनका अन्य नाटक "उद्गातृदशानन" है। "उभयरूपक" महालिंग का सामाजिक सुखान्त नाटक है। महालिंग शास्त्री आधुनिक संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्य के सर्वोच्च प्रतिष्ठापकों में से हैं।

रत्नाकर

संस्कृत महाकाव्यों में सबसे अधिक बृहत्काय रत्नाकर विरचित 'हरविजय' है। रत्नाकर काश्मीरी कवि थे। इनके पिता का नाम अमृतभानु था। रत्नाकर ने राजा अवन्तिवर्मा के शासनकाल (८५५ से ८८४) में प्रसिद्धि पाई थी। रत्नाकर को "विद्यापति वागीश्वर" की पदवी से विभूषित किया गया था। राजशेखर ने उनके विषय में कहा है—

> मास्म सन्तु हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे।
> इतीव स कृतो धात्रा कविरत्नाकरोऽपरः॥

नीचे लिखे श्लोक के कारण रत्नाकर को 'ताल-रत्नाकर' भी कहते हैं।

संध्याप्रवृत्तहरबाहुगृहीतकांस्य-
तालद्वयेन समलक्ष्यत नाकलक्ष्मीः ।। हरविजय १९५

इस महाकाव्य में हर (शिव) के द्वारा अन्धकासुर की विजय के साङ्गोपाङ्ग कथानक के माध्यम से शिव की राजधानी, उनके ताण्डव, ऋतु, मन्दर-पर्वत, राजनीति, सेना की काम-क्रीड़ा, सूर्योदय, सूर्यास्त, स्वर्ग, संवाद, चण्डीस्तोत्र आदि से सम्बद्ध वर्णनों की प्रतिष्ठा की गई है। महाकाव्य में ५० सर्ग और ४३२१ श्लोक हैं। यह महाकाव्य रुद्र की महाकाव्य की परिभाषा के अनुरूप बना है। रत्नाकर की अन्य कृतियाँ— "वक्रोक्ति-पंचाशिका" में शिवपार्वती-संवाद है तथा "ध्वनिगाथापंचाशिका" है। इस महाकाव्य में संगीत, अलंकार और चित्रकला जैसे विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

राजशेखर

राजशेखर महाराष्ट्र देश के यायावर-वंशी उपाध्याय थे। कीथ ने उन्हें भ्रम से क्षत्रिय माना है किन्तु वास्तव में वे ब्राह्मण थे। काव्यमीमांसा में उन्होंने कवि के व्यक्तित्व का जो वर्णन दिया है, उससे उनका ब्राह्मण होना ही सिद्ध होता है। उनकी पत्नी अवश्य चौहानवंशीया क्षत्राणी थी, जो अपने समय की उच्चकोटि की कवयित्री भी थी।

राजशेखर महाराष्ट्र से कान्यकुब्ज देश में आकर कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल तथा महीपाल की राजसभा को अलंकृत करते थे। प्रतिहारवंशी शिलालेखों के आधार पर महेन्द्रपाल का समय दसवीं शताब्दी का आरम्भ माना गया है। राजशेखर का रचना-काल भी यही है।

कवि राजशेखर द्वारा प्रणीत चार रूपक-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें बाल-रामायण, बालभारत तथा विद्धशालभञ्जिका संस्कृत में हैं तथा चौथी रचना कर्पूर-मञ्जरी प्राकृत में है, जो अपनी कोटि की गिनी-चुनी कृतियों में से है। बालरामायण राजशेखर की रचनाओं में सबसे श्रेष्ठ है। यह महानाटक है। इसका प्रत्येक अंक एक नाटिका के बराबर है और प्रस्तावना भी एक अंक के ही बराबर है। आरम्भ में रावण सीता से विवाह करने के लिए इच्छुक होकर भी धनुष चढ़ाने के लिए प्रस्तुत नहीं हो पाता। वहीं प्रतिज्ञा करता है कि जो सीता का पति हो, वही हमारा शत्रु है। फिर रावण का सेवक रावण के आदेशानुसार परशुराम का परशु माँगता है। रावण को खोटी-खरी सुननी पड़ती है। रावण सीता के वियोग में मनोविनोद के लिए सीता-स्वयंवर नाटक देखता है। उसमें रामविवाह से उसे जलन होती है। आगे राम-परशुराम-युद्ध

का दृश्य है, जिसे देखने के लिए दशरथ इन्द्र के विमान पर जाते हैं। सीता के वियोग में रावण संतप्त है और प्राकृतिक सौंदर्य से भी उसे तृप्ति नहीं होती। रावण राम का वनवास आयोजित कराता है। वह शूर्पणखा और अपने सेवक मायामय को क्रमशः कैकेयी और दशरथ के कपटी रूप में अयोध्या भेजकर उनसे राम के वनवास की योजना पूरी कराता है। फिर तो इस वनवास से दुःखी होकर दशरथ मर ही जाते हैं। राम सीताहरण के पश्चात् समुद्रतट पर जाते हैं। वहीं सीता का कृत्रिम कटा हुआ सिर समुद्र-तट पर गिरा मिलता है। पश्चात् युद्ध में रावण सेनापतियों सहित मारा जाता है। सीता की अग्नि-परीक्षा होती है। वहाँ से पुष्पक विमान पर भारत-भ्रमण करते हुए राम अयोध्या लौट आते हैं।

बालभारत राजशेखर का अपूर्ण नाटक है। इसमें द्रौपदी के विवाह और द्यूत-दुर्दशा तक की कथा है। विद्धशालभञ्जिका राजशेखर की नाटिका है। इसमें लाट के सामन्त राजचन्द्र वर्मा की कन्या मृगाङ्कावली का सम्राट् विद्याधरमल्ल के साथ अचानक विवाह हो जाने की परिहासपूर्ण कथा निबद्ध है।

राजशेखर की नाटयकला यद्यपि हीनकोटि की है, फिर भी उनकी काव्यकला इतनी ऊँची है कि किसी रसिक को भी उनके नाटकों को पढ़ने से पर्याप्त आनन्द मिल सकता है। राजशेखर में शब्दों के सुविन्यास से चमत्कार उत्पन्न करने की अप्रतिम योग्यता थी। क्षेमेन्द्र ने राजशेखर की प्रशंसा करते हुए लिखा है—**शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः**। इसके अतिरिक्त ये संस्कृत काव्य और कवियों के मर्मज्ञ आलोचक थे। काव्यमीमांसा इनकी आलोचना-शक्ति का परिचायक ग्रन्थ है।

रामावतार शर्मा

पंडित रामावतार शर्मा का जन्म १८७८ ई० में छपरा (बिहार) में हुआ। इनके पिता का नाम देवनारायण एवं माता का गोविन्दा देवी था। एम० ए० और आचार्य तक अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् ये बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय में प्रोफेसर हो गए। पाश्चात् ये पटना कालेज में नियुक्त हुए।

इन्होंने नाटकों के साथ ही अनेक खण्डकाव्यों का प्रणयन किया है। इनके खण्डकाव्य विविध प्रकार के हैं। प्रथम "भारतगीतिका" है, जिसकी रचना शर्मा जी ने १९०४ ई० में की थी। इस ग्रन्थ में शर्मा जी का वह उपदेशामृत भरा है जो आज भी भारतीय समाज को विशेषतः संस्कृत समाज को अभ्युदय की दिशा में प्रत्यावर्तन कराने में समर्थ है। यथा—

अलं भारतीया मतानां विभेदैरलं देशभेदेन वैरेण चालम् ।
अयं शाश्वतो धर्म एको धरायाम् न संभाव्यते धर्मतत्त्वेषु भेद : ।।१।।
यत्पूर्वजैः विपिनवासपरैः तृणाय मत्वा धनं भगवदेकसहायसुस्थैः ।
ग्रन्था व्यधायिषत हन्त परः सहस्राः सीदन्ति ते कथमिवान्यजनाशयाद्य ।।१६

शर्मा जी का मनोविनोदी स्वभाव उनके "मुद्गरदूत" में १९१४ ई० में प्रस्फुटित हुआ है। इस गीतकाव्य में मेघदूत के आदर्श पर उन्होंने किसी व्यभिचारी मूर्खदेव का जीवन विन्यास प्रस्तुत किया है। इसमें कुल मिलाकर १४८ श्लोक हैं। आदि मुद्गर में ६४, मध्यमुद्गर में ३३ तथा उत्तर मुद्गर में ५१ श्लोक हैं। "मुद्गरदूत" का प्रारम्भ इस प्रकार होता है :—

किं मे पुत्रैर्गुणानिधिरयं तात एवैष पुनः शून्यध्यानैस्तदहमधुनावर्तते ब्रह्मचर्यम् ।
कश्चिन्मूर्खश्चपलविधवास्नानपूतोदकेषु स्वान्ते कुर्वन्निति समवसत्कामगिर्याश्रमेषु ।।

शर्मा जी मित्रगोष्ठी नामक संस्कृत-पत्रिका के आद्य सम्पादकों में से थे। इस पत्रिका में शर्मा जी के अनेक लेख विविध ज्ञान-विज्ञानादि विषयों पर प्रकाशित हुए। शर्मा जी का ज्ञान विश्वात्मक था। इसका स्पष्ट परिचय उनके विश्वकोश से मिलता है।

शर्माजी अतिशय उदार और सीमातिग व्यक्तित्व के महामानव थे। इन्हीं गुणों के कारण वे अपने समय में सर्वोच्च प्रतिष्ठित हुए। किसी भी प्रकार की संकीर्णता उनमें छू कर भी नहीं थी। समाज की सुश्लिष्टता सम्पन्न करने के लिए वे अछूतों को अपनाने का केवल शाब्दिक ही नहीं, व्यावहारिक समर्थन करते रहे।

विजयराघवाचार्य (वीरवल्ली)

विजयराघवाचार्य कौण्डिन्यगोत्रीय वरदार्य के पुत्र थे। इनकी शिक्षा कांची में हुई और इन्होंने काव्यशास्त्र में विशेष योग्यता प्राप्त की।

विजयराघवाचार्य का जन्म १८८४ ई० में कांची के निकट मैय्यूर में हुआ था। इनके पिता का नाम वरदार्य था। बीसवीं शती में इन्होंने गांधी-माहात्म्य, तिलक-वदग्ध्य तथा नेहरू-विजय नामक ग्रन्थों में क्रमशः महात्मा गांधी, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और मोतीलाल नेहरू की राष्ट्र सेवाओं का वर्णन किया है। इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की शैली ओजपूर्ण, भावगम्य एवं हृदयग्राही है।

विजयराघवाचार्य की अन्य कृतियाँ—चित्रकूट (रूपक), वैभवविलास, घण्टावतार, गुरुपरम्पराप्रभाव, नीतिनवरत्नमाला, अभिनवहितोपदेश, कवनेन्दुमण्डली, वासन्तवासर,

दानप्रशंसा, दिव्यक्षेत्र-यात्रा-माहात्म्य, आत्मसमर्पण, नवग्रहस्तोत्र, दशावतारस्तव, लक्ष्मीस्तुति और सुरभिसन्देश हैं। सुरभि सन्देश में अनेक आधुनिक नगरों का काव्यात्मक वर्णन है। पंचलक्ष्मी विलास के १००० श्लोकों में कवि ने धन-लक्ष्मी, धान्य लक्ष्मी, जयलक्ष्मी, गृहलक्ष्मी, और आरोग्यलक्ष्मी की स्तुति की है।

इनके रामराज्याभिषेक नाटक में सात अंक और बल्ली परिणय में पाँच अंक हैं। इनको तंजौर के राजा शिवेन्द्र का आश्रय प्राप्त था। ये तिरुपति में एपिग्राफिस्ट पद पर नियुक्त थे। विजयराघवाचार्य का कृतित्व अतिशय समादरणीय और अनुकरणीय है।

विश्वेश्वर पाण्डेय

अठारहवीं शती के पूर्व भाग में अलमोड़े के पटिया ग्राम में इनका जन्म हुआ। महाकवि विश्वेश्वर पांडेय ने "मन्दारमञ्जरी" का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ का केवल पूर्व भाग ही अभी तक प्राप्त है। विश्वेश्वर ने १५ वर्ष की अवस्था से ही काव्यरचना में विशेष अभिरुचि का प्रदर्शन किया। इन्होंने बीस ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से नीचे लिखे ग्रन्थ प्राप्य हैं:—

(१) अलंकार-मुक्तावली (२) अलंकार-कौस्तुभ (३) आर्यासप्तशती (४) कवीन्द्र-कर्णाभरण (५) काव्यतिलक (६) काव्यरत्न (७) तर्क-कुतूहल (८) दीधिति-प्रवेश (९) नवमालिका-नाटिका (१०) नैषधीय-काव्यटीका (११) रस-चन्द्रिका (१२) रसमंजरी-टीका (१३) रोमावली-शतक (१४) षड्यन्त्र-वर्णन (१५) वक्षोज-शतक (१६) शृंगारमंजरी-सट्टक (१७) लक्ष्मीशतक (१८) सिद्धान्त-सुधा-निधि (१९) होलिका-शतक (२०) अन्य तान्त्रिक ग्रन्थ।

'मंदारमंजरी' में काव्यमय वर्णनों का बाहुल्य है। वर्णन के प्रधान विषय हैं दिशाएँ, नगर, नायक, नृप, शासन, सौभाग्य-देवी, मंत्री, कीर्ति, सभा-भवन, मन्त्रणा, पारितोषिक-वितरण, स्वप्न, पुत्र-जन्म, बालप्रताप, कुमार-शिक्षण, रथ, भूगोल, तपोवन, कुशल-प्रश्न, बिन्दुसार, पुष्पावचय, यमुना, सप्तगोदावर, काम-दशा, विकल्प, सखी-भाषण, अभिसरण-विकल्प, विजयध्वजाख्यान, परस्परानुराग आदि।

भाषा एवं भाव की दृष्टि से विश्वेश्वर ने सनातन पद्धति को सफलता से अपनाया है। बाण के समान ही इनकी वर्णन शैली में दृश्य तो कम हैं, कोरा वाग्जाल का चमत्कार है। इनके ग्रन्थों में श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक आदि अलंकारों के बाहुल्य के साथ दीर्घ समास एवं दीर्घतर वाक्य-योजना के बीच कथासूत्र का दुर्बल तन्तु लुप्त-सा हो गया है।

शंकर दीक्षित

बुन्देलखण्ड में अठारहवीं शती के प्रारम्भिक भाग में शंकर दीक्षित ने "प्रद्युम्न-विजय" नामक नाटक का प्रणयन किया। इसका प्रथम अभिनय पन्ना के राजा छत्रसाल के नाती राजकुमार सभासुंदर के राज्याभिषेक के अवसर पर हुआ था।

शङ्कर के पिता बालकृष्ण और पितामह ढुण्ढिराज थे। वे बुन्देलखण्ड के राजा सभासिंह की राज-सभा को अलंकृत करते थे। शंकर की मृत्यु १७८० ई० में हुई। शङ्कर की अन्य कृतियाँ हैं—गंगावतारचम्पू तथा शाङ्करचेतोविलास। शाङ्कर-चेतोविलास नामक चम्पू में बनारस के राजा चेतसिंह (१७७०—१७८१ ई०) का वर्णन है।

शङ्कर का कुल परम्परया उच्चकोटि के विद्वानों के लिए प्रसिद्ध रहा है। इनके पितामह ढुण्ढिराज के शिष्य विश्वनाथ ने शृंगारवाटिका नामक नाटिका लिखी।

शिवद्विज

महाकवि परमेश्वर शिवद्विज का प्रादुर्भाव केरल प्रदेश के वैक्कं जनपद में व्याघ्राल-येश क्षेत्र के निकट उन्नीसवीं शती के मध्यभाग में हुआ था। बचपन से ही उनकी संस्कृत साहित्य, ज्योतिष, और आयुर्वेद शास्त्रों में विशेष रुचि होने के कारण इन विषयों में वे प्रकाण्ड पण्डित हुए। उनके विशेष कृतित्व में से नीचे लिखे उल्लेखनीय हैं—

(१) १८६६ ई० में उन्होंने अपने कुलदेव व्याघ्रालयेश के परितोष के लिए सहस्र-कलश नामक वैदिक यज्ञ का सम्पादन किया।

(२) १८६७ ई० में उन्होंने ज्योतिष शास्त्र की पद्धति से एक भूगोल की रचना करके महाराज को समर्पित किया।

(३) इनको १८८० ई० में राजकुमार विशाखभूप ने शास्त्र-सम्बन्धी वाद का निर्णय करने के लिए नियुक्त किया।

(४) उन्होंने १८७४ ई० में शुचिन्द्रस्थाणु-क्षेत्र के गोपुर-प्रासाद का नवीकरण का आयोजन राजा एवं प्रजा की सहायता से किया।

शिवद्विज ने भारत का पर्याप्त पर्यटन किया था। वे साहित्य, व्याकरण, संगीत एवं चित्रकला के आचार्य थे तथा इनकी शिष्यमण्डली बहुत बड़ी थी। उन्होंने केवल

संस्कृत एवं केरल भाषा में तेरह ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनमें से "श्रीरामवर्म-महाराज-चरित्र" महाकाव्य सुप्रसिद्ध है। 'काशी-यात्रा-प्रबन्ध' में इनकी काशी यात्रा का वर्णन है। इनका "हृदय-प्रिया" नामक ६० अध्यायों का वैद्यक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध है।

'श्रीरामवर्म-महाराज-चरित्र' नामक महाकाव्य के नायक कोच्चिराज के राजा रामवर्म कोच्चि हैं। इनका शासन काल १८६० ई० से १८८० ई० तक था। चरित-नायक उच्चकोटि के संगीत-साहित्य के विज्ञाता एवं पंडित-पक्षपाती थे। इस महाकाव्य में ८ सर्ग हैं। इसके सर्गों में पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों का यथाक्रम उल्लेख मिलता है। यथा—**तदनु सुवचे नाकं. . . .तामनन्य सभाश्रयाम्** ।। ५-६५.

इस श्लोक में **सुप्रातसुश्वदिवसारिकुक्षचतुरश्रेणीपदाजपदप्रोष्ठपदाः** ।।

सूत्र की सिद्धि निर्दिष्ट की गई है।

व्याकरण का बन्धन होने पर भी काव्य की भाषा प्रायः सरल एवं सुबोध है।

शिवस्वामी

शिवस्वामी के आश्रयदाता महाराज अवन्तिवर्मा कश्मीर के शासक थे। अवन्ति-वर्मा का राज्य-काल ८५५ ई० से ८८४ ई० बताया गया है। राजतरंगिणी में कहा गया है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ।।५.३४

परिणामतः सिद्ध होता है कि शिवस्वामी नवीं शती में हुए।

शिवस्वामी ने 'कप्फिणाभ्युदय' नामक महाकाव्य लिखा। यह काव्य बौद्ध संस्कृति से सम्बद्ध है, फिर भी इसमें वर्णनों की शृंखला प्रायः शिशुपाल वध के समान ही है। 'कप्फिणाभ्युदय' महाकाव्य के कथानक में चरितनायक कप्फण का भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रकट होकर पराजित होने की चर्चा है। अन्त में कप्फण बुद्ध की शरण में जाता है तथा परिणामतः उसका अभ्युदय होता है। प्रयाण-पथ में मलयगिरि पर ऋतुओं के वर्णन के साथ शृंगारमयी वर्णन-परम्परा रैवतक पर कृष्ण का स्मरण कराती है। शिवस्वामी ने अनेक ग्रन्थ लिखे किन्तु उनमें से अधिकांश उपलब्ध नहीं हैं—

वाक्यं च द्विपदीशतान्यथ महाकाव्यानि सप्तक्रमात्
व्यक्षप्रत्यहनिर्मित स्तुति कथा लक्षाणि चैकादश।
कृत्वा नाटक नाटिका प्रकरण प्रायान् प्रबन्धान्बहून्
विश्राम्यत्यधुनापि नातिशयिता वाणी शिवस्वामिनः ।।

शिवस्वामी अपने युग के मानदण्ड के अनुसार सफल कवि माने जा सकते हैं। उनकी शैली में अलंकार, अनुप्रासात्मक शब्द गुम्फन और भावों के सरस निदर्शन आदि के कारण विशेष चमत्कार परिलक्षित होता है। संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत को भी इन्होंने यथोचित स्थान अपने ग्रन्थ में दिया है। उन्नीसवें सर्ग में तो संस्कृत एवं प्राकृत की मिश्रित शैली में बुद्ध की स्तुति की गई है।

सठकोप

सठकोप सत्रहवीं शताब्दी में अहोबिल में मठाधीश थे। इनकी काव्य-प्रतिभा की प्रतिष्ठा करने के लिए उनको 'कवितार्किक-कण्ठीरव' की उपाधि दी गई थी। इन्होंने "वासन्तिका परिणय" नामक नाटक के पाँच अंकों में अहोबिल नरसिंह की वनप्रियता का परिचय देने के लिए वासन्तिका नामक वनदेवी से उसके विवाह का काल्पनिक निर्देश किया है। कहते हैं कि सठकोप एक साथ ही सौ लेखकों को कविता लिखा सकते थे। इससे उनका आशुकवि होना सिद्ध होता है। इस नाटक की शैली प्रवाह, प्रासादिकता और ओज लिए हुए है। दीर्घ-समास-बहुला पदावली का भी पुट यदा-कदा मिलता है।

सामराज दीक्षित

सामराज दीक्षित का प्रादुर्भाव सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध में मथुरा में हुआ। इनके पिता श्री नरहरि बिन्दु थे। सामराज दीक्षित का प्रकाण्ड पाण्डित्य उनके पुत्र कामराज-दीक्षित के श्रीमुख से ही परिज्ञेय हैं—

हृदि भावयामि सततं तातश्रीसामराजमहम्।
यत्कृतमक्षरगुम्फं कवयः कण्ठेषु हारमिव दधते॥

सामराज दीक्षित ने 'धूर्तनर्तक' प्रहसन एवं 'श्रीदामचरित' नामक नाटक लिखा। श्रीदामचरित का पाँच अंकों में १६८१ ई० में प्रणयन हुआ था। श्रीदामा कृष्ण के विख्यात मित्र सुदामा हैं और नाटक में प्रायः उन्हीं का चरित वर्ण्य विषय है। इसमें दरिद्रता, कुबुद्धि, लक्ष्मी, सरस्वती आदि पात्र के रूप में आते हैं। नाटक का लक्ष्य भागवत के उस सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, जिसके अनुसार भगवान् तक पहुँचने के लिए समृद्धिशाली व्यक्ति को समृद्धिहीन होना आवश्यक है। आरम्भ में दरिद्रता एवं कुबुद्धि सुदामा को घेरते हैं। सुदामा लक्ष्मी की उपेक्षा करके सरस्वती की उपासना में संलग्न हैं। ये पात्र सुदामा के अतिथि बनकर आते हैं और अधिकारवशात् उनके घर में स्थान पा लेते हैं। अन्त में कृष्ण के घर जाने पर सुदामा समृद्धिशाली बनते हैं। इसी संदर्भ में कृष्णमाचार्य कहते हैं—"The opening of the piece is in the

style of our ancient moralities, and in the first Act Poverty and Folly are said to assail Shridaman, who is abnoxious to Lakshmi for his attachment to Sarsvati."

श्रीदामचरित उच्चकोटि का लाक्षणिक रूपक है।

इसके अतिरिक्त सामराज ने शृंगारलहरी, त्रिपुरसुंदरी-स्तोत्र, काव्येन्दु-प्रकाश आदि ग्रन्थ भी लिखे हैं। बुन्देलखण्ड के राजा आनन्दराय के आश्रय में इनकी काव्य-प्रतिभा का विकास हुआ।

सामराज की वंश-परम्परा संस्कृत-लेखन में दक्ष थी। उनके पुत्र कामराज ने शृंगारकलिका की रचना की और उनके पौत्र व्रजराज और प्रपौत्र जीवराज ने क्रमशः रसमंजरी और रसतरंगिणी की रचना की।

सुबन्धु

वासवदत्ता के प्रणयनकर्ता सुबन्धु के स्थिति-काल के विषय में विद्वानों में एकमत नहीं है। एम० कृष्णमाचारी की धारणा है कि सुबन्धु बाण के परवर्ती थे, किन्तु म० म० काणे महोदय ने सप्रमाण निर्दिष्ट किया है कि बाण सुबन्धु के परवर्ती थे। इस आधार पर इनका समय ७५० ई० पूर्व माना गया है। वाक्पतिराज के प्राकृतिक काव्य 'गौडवहो' (७३६ ई०) में सुबन्धु की रचना का उल्लेख है पर बाण का नहीं। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि वाक्पतिराज के समय में सुबन्धु की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी। मंख के "श्रीकण्ठचरित" में सुबन्धु और बाण की एक साथ प्रशंसा की गई है। ११६८ ई० के एक कन्नड़ी शिलालेख में सुबन्धु के काव्य-कला-कौशल की प्रशंसा है। इस तरह यह अनुमानतः सिद्ध होता है कि सुबन्धु का प्रादुर्भाव ७वीं शती के पूर्वार्द्ध में हुआ था।

वासवदत्ता ही सुबन्धु की एकमात्र उपलब्ध रचना है। सुबन्धु केवल अपनी इसी एक कृति से अमर हैं। वासवदत्ता की प्रशंसा परवर्ती युग में असंख्य आलोचकों ने की है, जिनमें बाण की प्रशस्ति प्रसिद्ध है—

कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।

वासवदत्ता की कथावस्तु छोटी है किन्तु विषय के संयोजन से विस्तृत कर दी गई है। राजकुमार कन्दर्पकेतु स्वप्न में अपनी भावी प्रियतमा का दर्शन करता है और स्मर-पीड़ित होकर उसकी खोज में निकल पड़ता है। संक्षेप में यही वासवदत्ता का कथानक है। इस कथा की विशेषता एवं नवीनता कथानक में नहीं अपितु नायक-नायिका

के रूप में सौन्दर्य के सूक्ष्मवर्णन में उनकी गुणावली के गान में, उनकी तीव्र विरहातुरता, मिलनाकांक्षा, संयोग-दशा के चित्रण तथा श्लेषमय भाषा में प्राकृतिक दृश्यों और मानव सौन्दर्यों के काव्यात्मक वर्णनों में निहित है। वासवदत्ता के सौन्दर्य चित्रण में कवि ने यदि एक सौ पच्चीस पंक्तियों का एक वाक्य लिख डाला तो कौन सी बड़ी बात है ?

सुबन्धु की गद्यशैली अतिशयोक्ति अनुप्रास तथा समास प्रधान गौड़ी है। उनकी यह गर्वोक्ति है कि मैंने एक ऐसे विलक्षण काव्य की रचना की है, जिसके प्रत्येक अक्षर में श्लेष है—**प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रपञ्चविन्यासवैदग्ध्यनिधिप्रबन्धम्**। उनकी समास-बहुला भाषा में प्रसाद, माधुर्य और सौष्ठव तो कम है किन्तु असङ्गति, कृत्रिमता और आडम्बर अधिक है। एक ही क्रिया पर आश्रित विपुलकाय काव्य की रचना करने में सुबन्धु अद्वितीय हैं।

वासवदत्ता में वर्णित प्रकृति-चित्रण, सजीव-अलंकृति और काव्यात्मक सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचायक है। समासों एवं विशेषण पदों का आधिक्य होते हुए भी वे विशद और परिष्कृत हैं। उनके पौराणिक संकेत क्लिष्ट न होकर भावव्यंजक हैं।

सुबन्धु प्रणीत 'वासवदत्ता' में भावी कवियों के लिए अभिनव कल्पनाओं और उपमाओं का महाद्वार मिलता है। सुबन्धु तो मधुधारा का उपासक है और उसका सरस प्रवाह उनकी वासवदत्ता में सफलतापूर्वक प्रवर्तित किया गया है। सुबन्धु ने स्वयं लिखा है—

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।

इस प्रकार यह ग्रन्थ अपनी शब्द विलक्षणता एवं काव्य नैपुण्य की दृष्टि से अनुपम है।

सोड्ढल

गुजरात के वालभ कायस्थ सोड्ढल का रचना-काल ग्यारहवीं शताब्दी का मध्यभाग है। य कोंकण के राजा चित्तराज, नागार्जुन तथा मुम्मुणिराज के आश्रित कवि थे। उन्होंने महाकवि बाण के हर्षचरित के आदर्श पर उदयसुन्दरीकथा का प्रणयन किया है।

बाण की भाँति सोड्ढल ने भी इस कथा में अपनी वंशावली का विवरण दिया है और साथ ही २५ श्लोकों में पूर्ववर्ती कवियों का परिचय दिया है। बाण के सम्बन्ध में कही गई सोड्ढल की यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य।
शक्तिं न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति॥

उदयसुन्दरी कथा में आठ उच्छ्वासों में नागकन्या उदयसुन्दरी और प्रतिष्ठान के राजा मलयवाहन की प्रणयकथा है। कवि की शैली में लम्बे-लम्बे वर्णनों से आख्यान का क्रम टूटता सा प्रतीत होता है। अलङ्कारात्मक और दीर्घ-समासात्मक शैली कथाओं के लिए रुचिकर नहीं है। कवि में बाण जैसी उस उच्च कला का अभाव है जिसके बलपर बाण को सर्वोच्च लोकप्रियता प्राप्त हो सकी है।

उदयसुन्दरी कथा में गद्य के साथ पद्यों की बहुलता तो है पर इनकी संख्या इतनी अधिक नहीं है कि इसे चम्पू कोटि में रखा जाय। जैसा इसके नाम से व्यक्त होता है, यह काव्य परिभाषा के अनुसार कथाकोटि में आता है।

सोमदेव

'कथासरित्सागर' के रचयिता सोमदेव कश्मीर के महाकवि हैं। इनके पिता का नाम राम था। ये क्षेमेन्द्र के प्रायः समकालीन ही थे। सोमदेव ने इस ग्रन्थ की भूमिका में स्पष्ट लिखा है—

यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते॥

गुणाढ्य की बड्डकहा का जो प्रामाणिक आदर्श रूप सोमदेव के समक्ष था, उसकी बहुत कुछ कल्पना कथासरित्सागर से हो सकती है। इस ग्रन्थ की रचना १०६३-१०८१ ई० के आसपास हुई थी।

'कथासरित्सागर' की रचना रानी सूर्यमती के मनोविनोद के लिए हुई। यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो कवि को इस ग्रन्थ के लिखने में पर्याप्त सफलता मिली है। सरल भाषा में असंख्य मनोरम कथाओं को सुरुचिपूर्ण ढंग से सँजो देना और इनके माध्यम से विविध रसों एवं भावों की निष्पत्ति कराना सोमदेव के ही वश की बात है। कथायें छोटी-छोटी अपने-आप में पूर्ण हैं। सोमदेव की कविता में मानवता को उच्च संदेश पदे-पदे मिलता है। कथासरित्सागर में काव्य का स्तर पर्याप्त रूप से ऊँचा है। एम० कृष्णमाचार्य ने लिखा है—"This is the ocean of story; this is the mirror of Indian imagination that Somadeva has left as a legacy to posterity. Somadeva thus dealt with the original Brihatkatha."

कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना।
वैदग्ध्यख्यातिलोभाय मम नैवाय मुद्यमः॥

बृहत्कथा का विदेशों में प्रसार हुआ और कथाएँ योरोपीय साहित्य में संकलित हुईं ।[१]

सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' की कथाओं के विश्लेषण में अपनी प्रतिभा का पुट चढ़ाकर उसे एक सर्वथा नवीन एवं मौलिक रूप दे दिया है । भाषा सरल-सरस एवं भावमयी है ।

सोमदेव सूरि

दशवीं शती के उत्तरार्द्ध में सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलकचम्पू' की रचना की । ये राष्ट्रकूट के राजा कृष्णराजदेव के समकालीन थे । इस काव्य की रचना ९५८ ई० में हुई । जैन संस्कृति के अनुयायियों में अवन्ति नरेश यशोधर की कथा बहुत प्रसिद्ध है । वही यशोधर इसके चरित-नायक हैं । कवि ने इस रचना में यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य जैन धर्म का पालन करते हुए कैसे अपना कल्याण कर सकता है । इस कथा का प्रमुख उद्देश्य है अहिंसा का प्रचार करना और पुनर्जन्म की रहस्यमयी प्रवृत्तियों को समझाना । यशस्तिलक एक सफल एवं मनोरम रचना है । इस काव्य की कथा अतिशय रोचक एवं मनोहारी है ।

लेखक की शैली सुरुचिपूर्ण है । इनकी शैली अनेक दृष्टियों से अभिनय दिशा की ओर प्रवृत्ति इंगित करती है । इनकी भाषा में रसोद्बोध की असीम क्षमता है तथा कल्पनाएँ विशद और लोकप्रिय हैं । इस ग्रन्थ पर बाण की समास-बहुला और दीर्घ वाक्यावली-प्रयुक्त शैली का प्रभाव स्पष्टतः प्रतीत होता है ।

हरिचन्द्र

हरिचन्द्र ने 'जीवन्धरचम्पू' की रचना ९०० ई० में की । यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये वे ही हरिचन्द्र हैं, जिन्होंने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक जैन महाकाव्य की रचना की है या कोई अन्य हैं । 'जीवन्धरचम्पू' का कथानक गुणभद्र प्रणीत 'उत्तरपुराण' पर आधारित है । इन्होंने महाकवि माघ एवं वाक्पतिराज का भी अनुकरण किया है । हरिचन्द्र रचित 'जीवन्धरचम्पू' जैन संस्कृति का ग्रन्थ है । इसमें वर्णित कथा का सार है जनकल्याण करना एवं अहिंसा का प्रचार करना । हरिचन्द्र की शैली सरल एवं हृदयग्राहिणी है ।

---

१. The thousand and one Nights, so universally known in Europe, is a Hindoo original, translated into Persian and thence into other languages. In Sanskrit the name is बृहत्कथा । Count Bjornstjerna : Theogony of the Hindus P.85.

हितोपदेश

'पंचतन्त्र के बहुविध रूपान्तर देश-विदेशों में हुए। भारत में पंचतन्त्र का एक सबसे अधिक लोकप्रिय रूपान्तर हितोपदेश है।[1] हितोपदेश पूर्णतया पंचतन्त्र पर आधारित नहीं है। इसकी ४३ कथाओं में से केवल २५ पंचतंत्र से संगृहीत हैं और शेष सम्भवतः इसके रचयिता नारायण के द्वारा कल्पित हैं या तत्कालीन या पूर्वकालीन लोक प्रचलित कथाओं से ली गई हैं। पंचतंत्र के चौथे और पाँचवें तन्त्र से क्रमशः एक और तीन कथायें हितोपदेश में संगृहीत हैं।

हितोपदेश में पञ्चतन्त्र की भाँति ही उपदेशप्रद या लोकव्यवहार-शिक्षणात्मक कथायें हैं।

मैकडानल ने हितोपदेश की आलोचना करते हुए कहा है—

"The sententious element is here much more than in the Pancatantra and the number of verses introduced is often so great as to seriously impede the progress of the prose narrative. These verses, however, abound in wise maxims and fine thoughts."

नारायण ने हितोपदेश में कामन्दकीय नीतिसार की शिक्षाओं को कथाओं के माध्यम से बोधगम्य कराने का सफल प्रयास किया है। पंचतंत्र की कथाओं को हितोपदेश में आवश्यकतानुसार नया रूप दिया गया है।

हितोपदेश के लेखक नारायण के आश्रयदाता धवलचन्द्र १२वीं शताब्दी या इससे पहले ही कभी हुए होंगे। इस ग्रन्थ का प्रणयन सम्भवतः बङ्गाल में हुआ क्योंकि इस प्रदेश की कुछ विशेष रीतियों का इसमें उल्लेख है। लेखक बंगाल में सुप्रचलित शैवतन्त्र का अनुयायी था, जैसा की स्थान-स्थान पर शिव की प्रार्थनाओं से स्पष्ट है। हितोपदेश का आरम्भ पंचतंत्र के अनुरूप तो हुआ, पर बीच में पहुँचकर लेखक को लगा कि नवीनता के अभिनिवेश से ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ाई जाय। पंचतन्त्र के पाँच तन्त्रों के स्थान पर इसमें केवल चार भाग हैं और उत्तरार्ध में तो कथाओं का विन्यास भी एक नये ढंग से किया गया है।

---

१. हितोपदेश का अध्ययन प्रधानतः बंगाल में प्रचलित रहा है। इंग्लैण्ड में संस्कृत के नवसिखुओं में इसकी अच्छी प्रतिष्ठा रही है।

कीथ ने नारायण की शैली की समालोचना करते हुए लिखा है—

Narayana's style, as intended for instruction in sanskrit, is simple and normally satisfactorily easy; the chief difficulties occur in the verses which he took over. A considerable number of stanzas are probably his own work, and if so he deserves considerable credit for fluent versification. Artistically no doubt the massing of verses is an error, but he shares the mistake with the author of the simplicior. His language is distinctly rendered more monotonous by the devotion to passive constructions.

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
New Delhi

CATALOGUED.

Col N 16.12.71

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY

GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI

Please help us to keep the book clean and moving.